अपोहवाद सिद्धान्त का समीक्षात्मक अध्ययन

(A CRITICAL STUDY OF THE DOCTRINE OF APHOHAVADA)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध
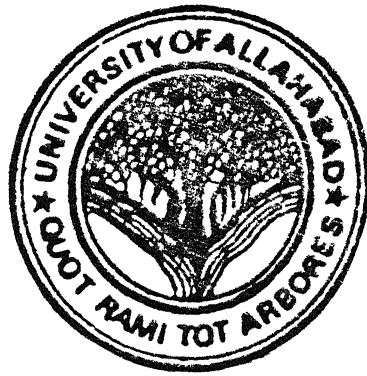
प्रस्तुतकर्ता

अनिल कुमार सिंह

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

निर्देशक

डॉ0 छोटे लाल त्रिपाठी

पूर्व रीडर, दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

1999

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से मै अपना शोधप्रबन्ध 'ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि डाक्ट्रिन आफ अपोहवाद' प्रस्तुत कर रहा हूँ। ग्रथ के लेखन मे कई प्रकार की कठिनाइया मेरे समक्ष आई। लेकिन ईश्वर के आशीर्वाद से मै अपने साध्य को पाने मे सफल रहा। शोध प्रबन्ध लिखने मे मेरे ईश्वर तुल्य निर्देशक श्रद्धेय श्री छोटे लाल त्रिपाठी का विशेष सहयोग रहा है नही तो इतने क्लिष्ट विषय पर शोध करना दुष्कर कार्य था। वे हमेशा मुझे उत्साहित करते रहे जिससे मेरा हौंसला बना रहा। कभी-कभी म परशान हो जाता कि प्रस्तुत शोध विषय पर कोई सामग्री नही मिल रही है। इस पर मेरे गुरू जी सदैव मेरा उत्साहवर्धन करते रहे। जिनके उत्साहवर्धन के कारण मै आज शोध प्रबन्ध प्ररतुत कर पा रहा हूँ।

मर शोध ग्रथ के प्रणयन मे डा० रिजवानुल्ला शास्त्री, प्रवक्ता दर्शन राजकीय महाविद्यालय रामपुर डा० अनिलश कुमार सिह प्रवक्ता, दर्शन शास्त्र के० जी० डिग्री कालेज मुरादाबाद एव मेरे अनुज तुल्य श्री दिनेश कुमार चोररिया शोध छात्र 'दर्शन' रूहेलखड विश्वविद्यालय बरेली का विशेष योगदान रहा। जिनके परामर्शो को मेने हमेशा आत्मसात किया।

ईविग क्रिश्चियन कालेज इलाहाबाद के दर्शन शास्त्र के विभागाध्यक्ष डा० शिवभानु सिह ने मुझे हमेशा अपोहवाद के सदर्भ मे अमूल्य सुझाव देते रहे। इसके अतिरिक्त मुझे हमेशा उत्साहित करते रहे। जिनके आशीर्वाद से मै आज यह शोध प्रबन्ध लिख रहा हूँ। मै उनका ह्रदय से कृतज्ञ हूँ।

शोध प्रबन्ध के सदर्भ मे मेरे समस्याओ के निवारण के लिए प्रो० बी० एन० सिह पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, डा० अरूण कुमार सिह विभागाध्यक्ष दर्शन शास्त्र विभाग तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय जौनपुर एव डा० अम्बिका दत्त शर्मा रीडर दर्शन विभाग सागर विश्वविद्यालय 'म० प्र०' ने समय-समय पर मुझे अमूल्य सुझाव दिया है। जिसके लिए मै उनका ह्रदय से अभारी हूँ।

दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० देवकी नन्दन द्विवेदी विभागाध्यक्ष, प्रो० जे० एस० श्रीवास्तव पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रो० राम लाल सिह, प्रो० आर० एस० भटनागर, डा० मृदुला रवि

प्रकाश, डा० नरेन्द्र सिह, डा० गौरी चट्टोपाध्याय, डा० जटा शकर, डा० हरिशकर उपाध्याय, डा० श्री कात मिश्र, श्रीमती आशा लाल डा० उमाकान्त शुक्ल, डा० कीर्ति कुमार सिह, डा० शिखा चौहान, डा० हेमलता श्रीवास्तव, डा० हरिकान्त मिश्र, डा० अमर कान्त सिह, श्री उत्तम सिह,का विशेष योगदान रहा।

मेर शोध प्रवन्ध लेखन मे सदैव आशीर्वाद प्रदान करने वालो मे डा० श्रीमती मीरा राय विभागाध्यक्ष दर्शनविभाग सी० एम० पी० डिग्री कालेज, डा० आनन्द श्रीवास्तव, डा० रमारानी, डा० हेमलता श्रीवास्तव श्री मनोज सिह (सभी सी० एम० पी० डिग्री कालेज) प्रमुख रहे।

मेरे पूज्यनीय श्री ब्रहमदेव सिह पूर्व अध्यक्ष जिला परिषद इलाहाबाद, श्री दलबहादुर सिह सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा है।

मेरे मित्रो मे श्री अविनाश तिवारी–निदेशक, इलाहाबाद शिक्षण सस्थान, एव श्रीमती रेनू तिवारी श्री मनोज पाण्डेय, श्री प्रभात चन्द्र मिश्र– उपसपादक अमर उजाला बरेली, श्री विमल मिश्र– अन्तर्राष्ट्रीय स्कोरर एव खेल सवाददाता–अमर उजाला इलाहाबाद, श्री जैनेन्द्र कुमार– प्रतापगढ, श्री उमेश द्विवेदी, सगम लाल एव आलोक कुमार का विशेष सहयोग रहा। इनके सहयोग के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

परमश्रद्धय ओकार वावा के आशीर्वाद के कारण मै अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ। मै उनक परम शिष्य श्री राजेश सिह का ह्रदय से आभार प्रकट करना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त श्री प्रेम प्रकाश चन्द्र शर्मा–शोध छात्र दर्शन इ० वि० वि० एव श्री जगत नारायण– कर अधीक्षक का भी अभारी हू।

प्रस्तुत शोध प्रवन्ध को मै अपने पूर्वज **स्व० श्री सूरत सिह भदौरिया, एवं स्व० श्री मोती सिह** को सर्मर्पित करता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे कुल के सिरमौर एव मेरे बाबा श्री देवमूरत सिह, श्री हीरा सिह एव श्री श्याम सिह के आशीर्वाद का ऋणी हूँ, जिसके फलस्वरूप आज यह शोध प्रबन्ध लिख सका हूँ इसके अतिरिक्त श्री मनमोहन सिह, श्री प्रेम शकर सिह, श्री रमा शकर सिह, श्री राम मोहन सिह, श्री कृपा शकर सिह,विजय सिह के आशीर्वाद ने मुझे हमेशा प्रेरित किया। मेरे अनुज श्री धर्मेन्द्र सिह, राजेश प्रताप सिह एव जीतेन्द्र प्रताप सिंह ने मेरे कार्य मे सदैव सहयोग प्रदान किया। इसके अलावा मेरे मामा श्री रमा शकर सिह परिहार, मामी श्रीमती शीला सिह, एव

उनकी पुत्री कु० शालिनी सिह एव पुत्रो विवेक शकर सिह एव सिद्धार्थ शकर सिह ने मेरा सदैव उत्साहवर्धन किया।

शोध प्रबन्ध लिखने के लिए मेरे पिता श्रद्धेय **श्री शिव मोहन सिह भदौरिया** एव माता **श्रीमती भगवाना देवी** का आशीर्वाद मेरे साथ सदैव रहा। मेरे अग्रज श्री अजीत कुमार सिह भदौरिया एव भाभी श्रीमती मजू सिह भी सदैव आशीर्वाद एव प्रेरणा देते रहे। मेरे बडे जीजा श्री अभय सिह चौहान वडी दीदी श्रीमती सावित्री सिह एव श्री सुधीर सिह चौहान दीदी श्रीमती सरोज सिह मेरी छोटी बहन सगीता एव सुनीता का भी विशेष सहयोग रहा है। इसके अतिरिक्त मेरे भाजे प्राशु चौहान, भाजी सौम्या, श्रेया एव ख्याति,भतीजा श्रेयास भदौरिया ने भी घर के वातावरण को पठन–पाठन वनाने मे सहयोग प्रदान किया।

इस शोध प्रवध को अत्यधिक जल्दी टाइप कराने मे मेरे अनुज तुल्य आशीष कुमार द्विवेदी– निदेशक ए० के० कम्प्यूटर ने सराहनीय कार्य किया है। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है।

४ नवम्बर १९९८

कार्तिक पूर्णिमा
('गुरूनानकजयती')

अनिल कुमार सिंह
अनिल कुमार सिंह

प्रथम अध्याय

बौद्ध दर्शन का उद्भव

प्रथम अध्याय

बौद्ध दर्शन का उद्‌भव

भारत वर्ष मे वौद्ध दर्शन का काल भगवान बुद्ध के जन्म या अविर्भाव से लेकर ग्यारहवी शताव्दी के प्रारभ तक रहा। जिसको प्रसिद्ध रूसी बौद्ध दार्शनिक श्चेरबात्स्की ने तीन कालो मे विभाजित किया हे–

१) प्रथम काल – ५०० ई० पू० से प्रथम शताब्दी तक।

२) द्वितीय काल – प्रथम शताब्दी से ५०० ई० पू० तक।

३) तृतीय काल – ५०० ई० से ११वी शताब्दी के प्रारभ तक।

प्रथम काल

भगवान वुद्ध के काल मे भरत वर्ष मे दार्शनिक चितन एव मोक्ष की अभिलाषा भारतीयो मे सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान थी।

बोद्ध दर्शन का प्रारम्भ पुदगल और उसका निर्माण करने वाले विभिन्न धर्मो के रूप मे सूक्ष्म विश्लेषण के उपरान्त हुआ है। नैतिक विचार के रूप मे हुआ है। सबसे पहले पुद्‌गल के धर्मो का सास्रव–अनास्रव, साक्ले व्यावदानिक तथा कुशल–अकुशल रूप मे बॉटा गया है। इस पूरे सिद्धान्त को 'साक्लेश व्यावदार्शिनको धर्म' कहा गया है। मोक्ष की कल्पना एव उल्का प्रतिपादन निरोध (=शाति= निर्वाण) की अवस्था के रूप मे किया गया। अत साधारण जीवन एव ससार को क्लेश की अवस्था मान लिया गया। इस प्रकार ऐसी नैतिक विशेषताओ अथवा शक्तियो को व्यावदानिक कहा गया है। जो निर्वाण को प्राप्त कराती है। और ऐसो को साक्लेश जो अनुशय (दु ख–पोषक) है।

धर्मो के इन दो परस्पर विरोधी वर्गो के अतिरिक्त प्रत्येक मानसिक जीवन के तल मे स्थित कुछ अन्य समान्य निरपेक्ष तथा अधारभूत धर्मो को ढूँढा गया। किन्तु उनके समान्य आगार के रूप मे किसी का निर्धारण नही किया जा सका। इसीलिए कोई आत्मा नही ,कोई अह नही कोई व्यक्तित्व नही। तथा कथित व्यक्तित्व बिना किसी स्थायी एव दीर्घकालीन धर्म के ही सत्ता

के सग्रह स उनके प्रवाह से निर्मित होता है। प्रारम्भिक बौद्ध – दर्शन का यही अनात्मवाद ही पहली विशेषता हे इसी अनात्मवाद को बौद्ध दर्शन का दूसरा नाम भी कहते है।

बाह्य आयतन का भी उसका निर्माण करने वाले धर्मो के अन्तर्गत विश्लेषण किया गया है। यह पुद्गल (व्यक्तित्व) का अपेक्ष्य भाग उसका ऐन्द्रिक विषय है। बौद्ध दर्शन के अविर्भाव के पहले भी कुछ दार्शनिक मत प्रचलित थे जो ऐन्द्रिक विय को एक सुसहत, वस्त्वात्मक एव नित्य तत्व, प्रधान (=प्रकृति) की परिवर्द्रनशील अभिव्यक्ति मानते थे। बौद्ध दर्शन ने इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और भौतिक तत्व भी उतने ही परिवर्ततनशील, अनित्य और प्रवाह मान हो गये जितने मानसिक माने जाते थे। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की यह द्वितीय विशेषता है। कोई पदार्थ नही, कुछ भी स्थायी नही, सब कुछ पृथक, विना किसी तत्व के ही कार्यसाधक शक्ति का क्षणिक स्फुरण, सतत सामजस्य, अस्तित्वात्मक क्षणो का एक प्रवाह मात्र है ।

बौद्ध दर्शन की चौथी विशेषता के अन्तर्गत हेतु प्रत्यय व्यवस्था अर्थात भौतिक एव नैतिक कारणत्व या हेतुत्व को स्थान दिया गया है। आत्मा या पदार्थ के व्यक्त सिद्धान्त के स्थान पर कुछ निश्चित ही सम्मिलित किया गया हो जो उसका स्थान ले सके और यह व्याख्या कर सके कि अस्तित्व प्रवाह के पृथक धर्म किस प्रकार एक साथ सम्वद्ध होते है जिससे एक स्थायी भौतिक ससार और उसमे निवास करने वाले दीर्घ स्थायी व्यक्तियो का विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। उनके स्थान पर हेतु प्रत्यय व्यवस्था अर्थात भौतिक एव नैतिक कारणत्व या हेतुत्व को महत्व दिया गया। क्षणिक तत्वो का प्रवाह एक अस्त व्यस्त व्यवस्था नही थी। सभी तत्व चाहे वह एक क्षण के लिए प्रगट होता हो वह प्रतीत्य–समुत्पन्न होता है। 'अस्मिन सति इदम भवति' के सिद्धान्त के आधार पर यह विशुद्ध हेतुवाद की तरह हे। इस प्रकार विपाक हेतु या नैतिक हेतु हेतुवाद के सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत विस्तृत दार्शनिक आधार प्राप्त करने लगा। यही हेतुवाद का एक सिद्धान्त है।

बौद्ध दर्शन की पाचवी विशेषता मे अस्तित्व के धर्मो को भौतिक धर्मो की अपेक्षा बहुत कुछ सस्कारो या सस्कृत धर्म के समान माना जाता था। चित्त चैत्त मानसिक धर्म स्वभावत नैतिक, अनैतिक अथवा निर्लिप्त शक्तिया होती थी। पदार्थ धर्म की कल्पना एक ऐसी वस्तु के रूप मे की गई जिसमें स्वय पदार्थ की अपेक्षा पदार्थवत प्रतीत होने की क्षमता थी। सस्कार कभी अकेले नही बल्कि हेतु प्रत्यय व्यवस्था के अनुसार परस्पर निर्भरता की दशा मे क्रियाशील होते थे। इसीलिए उन्हे 'सह सस्कृत धर्म या सस्कार कहा गया है।

इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन ने असख्य विषयो के प्रवाह से युक्त एक ऐसे ससार की खोज की जो एक ओर तो, हम कुछ सुनते है, हम जो कुछ सूँघते है, जो कुछ देखते है, स्पर्श करते हैं, स्वाद लेते हैं। उसका आयतन है और दूसरी ओर वेदना,सज्ञा,सस्कार से युक्त ज्ञान (चित्त–मनस–विज्ञान) है। किन्तु जिसमे कोई ईश्वर नही, कोई पदार्थ नही, कोई आत्मा नही, सामान्य रूप से कोई भी स्थायी या पदार्थ वस्तु नही है।

यह सस्कृत धर्मो का प्रवाह जिसमे कोई भी वास्तविक पुदगल नही था एक निश्चित दिशा की ओर बढ रहा था। यह अभिप्रेरक आत्मा या पुदगल नही बल्कि हेतु प्रत्यय व्यवस्था थी। इसका उद्देश्य निर्वाण था। जिसका अर्थ जीवन के प्रत्येक लक्षण की चिरतन शाति,विश्व या धर्मकाय की सर्वथा निष्क्रिय अवस्था था जिसमे सभी धर्म अपनी समस्त सस्कार गत शक्ति से रहित होकर चिर शात हो जाते है। इस विश्लेषण (धर्म एव सस्कार) का उद्देश्य उनकी क्रियाशीलता की अवस्था के अनुसधान अथवा इन क्रियाओ को कम करने या रोकने के मार्ग का निर्धारण करने के अतिरिक्त और कुछ नही था जिससे चरम शाति या निर्वाण की अवस्था तक पहुचा जा सके। मोक्ष के मार्ग सम्बधी सिद्धान्त का रास्ता साफ करने के लिए, आर्यत्व की, बुद्ध की चरम अवस्था की प्राप्ति के लिए प्रथ प्रशस्त करने के उदृदेश्य से ही इस सत्वमीमासात्मक विश्लेषण का प्रतिपादन किया गया। इसमे हमे बौद्ध दर्शन की एक अन्य विशेषता दिखाई पडती है जिसे हम मोक्षवाद कहते है। मोक्षवाद के मार्ग का शिक्षा देने मे बौद्धो का पूर्ववर्ती प्रारम्भिक भारतीय योग है। बुद्ध के काल मे समस्त भारत मे ब्राहमणो के अनुयायियो और श्रमणो के योग के समर्थको एव विरोधियो मे, खुले उच्च धार्मिक सप्रदाय, और योग के प्रति झुकाव वाले जनप्रिय सिद्धान्तवादियो मे बटा था। योग की प्रमुख धारणा थी कि अभ्यास एव केन्द्रित ध्यान द्वारा समाधि की ऐसी अवस्था प्राप्त की जा सकती है। जो ध्यान करने वाले को असाधारण शक्तिया प्रदान करती हैं जो एक अतिमानव के समतुल्य शक्ति होती है। भगवान बुद्ध के मत मे यह शिक्षा सम्मिलित हो गई। यह समाधिस्थ ध्यान शाति के मार्ग का चरम सदस्य एक माध्यम वन गया जिसके द्वारा सबसे पहले मिथ्या दृष्टिकोणो एवं दुष्ट प्रवृत्तियो को समाप्त करके उच्चतम यौगिक अवस्थाये प्राप्त की जा सकती थी। आर्य, योगी या अतिमानव एक ऐसा मनुष्य धर्मो का ऐसा सघात बन गया जहा 'प्रज्ञा अमला' ही पवित्र जीवन का सबसे प्रमुख सिद्धान्त बन जाता है। यह बौद्ध दर्शन की अतिम विशेषता अर्हतवाद है।

इस प्रकार सम्पूर्ण मतवाद को चार आर्य– सत्यो के सूत्र के रूप मे सक्षिप्त कर दिया गया है। जैसे –

१ जीवन एक अशान्त सघर्ष है

२ इसकी उत्पत्ति पापपूर्ण वासनाओ से होती है

३ चिरतन शाति ही चरम अभीष्ट है

४ एक ऐसा मार्ग है। जहा जीवन के निर्माण मे सहायक समस्त सस्कार क्रमश लुप्त हो जाते हे।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन के इतिहास के प्रथम काल धर्म चक्र के प्रथम प्रवर्तन के यही प्रमुख विचार है इसे कदाचित् ही किसी धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा जा सकता है। इस मत का अधिक धार्मिक पक्ष एक मार्ग की शिक्षा सर्वथा मानवोचित है। व्यक्ति या मानव स्वय अपने ही प्रयास नैतिक पूर्णता एव बौद्धिक पूर्णता के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। तत्कालीन समय मे बौद्धमत मे उपासना अधिक नही थी। वह परिवार एव सपत्ति से रहित विरक्तो का ऐसा समूह था जो अपने पापो को खुले रूप अगीकार करने के लिए महीने मे दोबार इकट्ठा होते थे। और ध्यान, दार्शनिक बाद विवाद तथा तपस्या मे सलग्न रहते थे। अशोक के वाद के काल मे बौद्ध दर्शन १८ सप्रदाय मे बट गया था। वात्सीपुत्रियो के सप्रदाय द्वारा एक छायात्मक, अर्धवास्तविक व्यक्तित्व की स्वीकृति ही इस दर्शन की मौलिक रूपरेखा से एकमात्र महत्वपूर्ण विचलन था।

द्वितीय काल :

बौद्धमत के इतिहास के द्वितीय काल का विकास पाचवी शताब्दी के अतिम वर्षो मे इसमे इसके दर्शन के रूप मे और धर्म के रूप मे इसकी प्रकृति मे एक मौलिक परिवर्तन हुआ। इसने उस मानव बुद्ध के आदर्श को छोड दिया जो एक निर्जीव निर्वाण मे सर्वथा विलीन हो जाते है और उनके स्थान पर जीवन से परिपूर्ण निर्वाण मे अधिष्ठित एक द्विव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित किया। इसके साथ ही इसने अपने दर्शन को एक मौलिक बहुतत्ववाद से मौलिक एक तत्ववाद के रूप मे परिवर्तित कर दिया। यह परिवर्तन भारत के उन ब्राहमण धर्मो के विकास का समकालीन प्रतीत होता है। जिसमे इसी काल मे राष्ट्रीय देवता, शिव और विष्णु की उपासना होने लगी और उन्हे एक तत्ववादी दर्शन की पृष्ठभूमि पर स्थापित किया गया।

यह नवीन वोद्धदर्शन एक वास्तविक,यथार्थ, चरम अस्तित्व का या चरम वास्तविकता का ऐसी वास्तविकता का जो समस्त सबधो से रहित है या स्वय वास्तविकता अथवा स्वतत्र और असबद्ध

वास्तविकता। का विचार था। इसीलिए प्रारभिक बौद्ध दर्शन के बहुतत्ववाद द्वारा स्थापित समस्त भौतिक और मानसिक धर्मो को परस्पर सम्बद्ध धर्म[2] अथवा सहकारी शक्तिया माना गया था, इसीलिए इनमे से किसी को भी चरम सत्य के रूप मे नही देखा गया था। ये सब परस्पर सम्बद्ध,परस्पर अपेक्ष्य और इसीलिए स्वभाव शून्य थे।[4]

---

१ अनपेक्ष स्वभाव   सर्वधर्म शून्यता।

२. सस्कृत धर्म।

३ सस्कार।

४ परस्पर अपेक्ष्य शून्य स्वभाव शून्य

इन सभी धर्मो के सपूर्ण स्वरूप से सपूर्णताओ की सपूर्णता से, एकता या अद्रितीय वास्तविक तत्व के रूप मे इस विश्व या धर्मकाय की कल्पना से कम किसी को भी परम सत्य नही स्वीकार किया जा सकता था। एकता के रूप मे धर्मो के पूरे समुच्चय[5] को, इस धर्मता को तब बुद्ध के ब्रह्माण्डीय शरीर के साथ उसके विश्व के अद्वितीय तत्व के पक्ष सहित समीकृत किया गया। बौद्ध दर्शन के प्रथम काल मे स्थापित धर्मो का उन पाच स्कधो मे विभाजन का, हमारे बारह आयतनो की और वैयक्तिक जीवन का १८ धातुओ मे विभाजन का सर्वथा प्रतिवाद ही नही किया किन्तु उनका स्वय अपने मे ही सत्य धर्मो के रूप मे ऐसे धर्मो के रूप मे जो स्वभावशून्य है, एक छायात्मक अस्तित्व मात्र स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के प्रथम काल मे समस्त पुदगलो, समस्त स्थायी तत्वो, आत्माओ और पदार्थो के लिए परम सत्य को अस्वीकार किया गया था। नवीन बौद्ध मत मे न केवल उनके धर्म, एन्द्रिक प्रदत्त और चेतना के आधारभूत प्रदत्त ही वरन समस्त चित्त सप्रयुक्त सस्कार भी द्वन्द्वात्मक विनाश की पद्धति मे आत्माओ का अनुमान करने लगे। प्रारभिक वादो को अनात्मवाद या नि स्वभाववाद[7] नाम प्रदान किया गया।

---

५ धर्मकाय = धर्मराशि

६ धर्मकाय = बुद्ध

७ अनात्मवाद = नि स्वभाववाद = पुदगल नैरात्मवाद = पुदगल शून्यता।

नये बौद्ध दर्शन को धर्म नैरात्मवाद का नाम दिया गया जो सापेक्षता और एतदर्थ उन समस्त आरभिक प्रदत्तो की अवास्तविकता का वाद है। जिनमे अस्तित्व का विश्लेषण किया गया है। बौद्ध मत की यह मुख्य विशेषता है। यह धर्मो के उस परम सत्य को नही मानता जिसे प्रारभिक बौद्ध दर्शन मे सत्य के रूप मे माना गया है।

हेतुवाद को हर धर्म के अन्य सबके कार्यात्मक अपेक्षत्व के हेतुवाद का अन्य वस्तुओ से किसी वस्तु के उत्पादन के रूप मे नही[१०] 'जो बौद्ध दर्शन के प्रारम्भ से ही एक स्वभाविक विशेषता रहा है।

---

८ – धर्म नेरात्मवाद=धर्मशून्यता=स्वभावशून्यता=परस्पर अपेक्षता अथवा केवल शून्यता। शेरबात्स्की के निर्वाण नामक ग्रथ (पृष्ठ ४३ नोट) मे सगृहीत सदर्भो से इस बात की पूरी स्थापना कर दी गई कि 'शून्यता' का केवल'अभाव' नही वरन् इतरेतर अभाव=परस्पर अपेक्षता का अर्थ है जिसका तात्पर्य चरम सत्य का अभाव (=अपरिनिष्पन्नता) अथवा सापेक्षता है। विरोधियो ने इसे अभाव कहा है, तुकी न्यायसूत्र, ११ ३४ (तुकी डब्लू रूबेन डाई न्यायसूत्र २६०) १ ई० ओबर मिलर ने हरिभद्र के अभिसमया लड कारालोक (मिनायेफ पाण्डुलिपि, फेसी० ७१६, ७–९) के इस युक्तिपूर्ण स्थल की ओर शेरबात्स्की की ओर ध्यान आकर्षित किया है–"धर्मस्य धर्मेण शून्यत्वात् सर्व–धर्म–शन्यता, सर्व–धर्माणाम् सस्कृत–असस्कृत–राशेर इतरेतरापेक्षत्वेन स्वभाव अपरिनिष्पन्नत्वात्।"

९ – प्रतीत्यसमुत्पाद।

१० – न स्वभावत उत्पाद।

नये बौद्ध दर्शन ने न केवल सुरक्षित ही रखा है बल्कि इसे ही सपूर्ण सिद्धान्त की आधार शिला स्वीकार किया है। फिर भी इसका अर्थ कुछ बदल गया है। नवीन बौद्ध दर्शन मे वास्तविकता की नवीन परिभाषा के अनुसार परस्पर अपेक्ष्य होने के कारण ये सब अवास्तविक है। जबकि पुरातन बौद्ध दर्शन मे समस्त धर्म परस्पर अपेक्ष्य और वास्तविक है।" इसमे 'परस्पर—अपेक्ष्य उत्पादन' के सिद्धान्त के प्रथम अश पर अत्यधिक महत्व दिया गया है। लेकिन दूसरे अश पर विल्कुल महत्व नही दिया गया है।परम वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाय तो जगत एक ऐसी गति रहित पूर्णता का नाम हे जिसमे न कुछ विलीन होता है और न कुछ उत्पन्न होता है साख्य दर्शन के अनुसार कोई वस्तु स्वय अपने उत्पन्न होती है और वैशेषिक दर्शन के अनुसार वस्तुए अन्य वस्तुओ से उत्पन्न होती है। यह दोनो मत गलत है। इसके अतिरिक्त बौद्धो का प्रारभिक विचार कि क्षणिक क्षणभर के लिए अस्तित्व प्राप्त करते है। भी सर्वथा दोषयुक्त है। यहा कोई उत्पादन होता ही नही। बौद्ध दर्शन की यह दूसरी विशेषता है। जो एक गतिरहित सपूर्णता मे विलीन करके वास्तवविक हेतुवाद का सर्वथा निराकरण करती है।

नवीन बोद्ध दर्शन की दो वास्तविकताए हो गई—

१ सवृति सत्य

२ सावृत सत्य (परमार्थ सत्य)।

---

११ — तुकी० माध्यमिक कारिका के आरभिक सूत्र।

१२ — तुकी० शेरबात्स्की के निर्वाण नामक ग्रथ, पृष्ठ ४१/

सवृत्ति सत्य वास्तविकता का भ्रातिमय पक्ष है और सावृत्त सत्य चरम स्वरूप है। इन दो वास्तविकताओं या 'दो सत्यों' ने पूर्व के मतवाद के 'चार सत्यो' का अधिक्रमण कर दिया। नवीन बौद्ध दर्शन मे एक अन्य विशेषता भी पाई जाती है, जिसमे अनुभूत जगत एव निरपेक्ष के बीच, संसार एव निर्वाण के बीच पूर्ण–रूप से समान शक्तित्व के सम्बन्ध का सिद्धान्त पाया जाता है। प्रारभिक बौद्ध मत के समस्त धर्मो को जिन्हे केवल निर्वाण मे ही प्रसुप्त किन्तु साधारण जीवन मे सक्रिय सस्कार माना गया था। यहा चिर प्रसुप्त और उनकी सक्रियता को केवल एक भ्रम माना गया। यह अनुभूत जगत केवल एक भ्रमात्मक प्रतीति है जिसके नीचे साधारण मनुष्यो के सीमित बोध के लिए निरपेक्ष अपने को अभिव्यक्त करता है। अत दोनो के तल मे कोई अधिक अन्तर नही है। निर्वाण या निरपेक्ष चिरत्व के रूप मे दृष्ट जगत (स्वभाव काय) के अलावा और कुछ नही है। निरपेक्ष सत्य के इस रूप का साधारण अनुभवात्मक आयतनो के द्वारा ज्ञान नही हो सकता। इसीलिए निरपेक्ष या चरम बोध के लिए अनवस्थित विचार की विधियो या उनके परिणामो की सर्वथा निष्प्रयोजन होने के रूप मे आलोचना की गई है। अत समस्त न्यायशास्त्र तथा साथ ही साथ प्रारभिक बौद्ध दर्शन की सभी धारणाओ, उसके बुद्धत्व, उसके निर्वाण, उसके चार आर्यसत्य आदि की कृत्रिम और परस्पर विरोधी होने के कारण इनकी आलोचना की गई। सत्य ज्ञान केवल अर्हत का योगिक ज्ञान एव उन नवीन बौद्ध धर्मग्रथो द्वारा उद्घाटित ज्ञान है जिसमे जगत ससार) का एकतत्वात्मक दृष्टिकोण ही उसकी विषय वस्तु है। नवीन बौद्ध दर्शन की यह एक और विशेषता है, जिसमे समस्त न्यायशास्त्र की आलोचना की गई है एव योग तथा बौद्ध धर्म ग्रथो से उद्घाटित ज्ञान को सत्य माना गया है।

कुछ समय पश्चाात उदारपथियो का सौतात्रिक सप्रदाय सापेक्षतावादियो के वर्ग से अलग हो गया। सौतान्तिक सप्रदाय ने अपने के तार्किक समर्थन के न्याय को स्वीकार कर लिया। जिसमे फिर भी उन सभी आधारभूत सिद्धान्तो के आन्वीक्षिकी विनाश सम्मिलित थे। जिस पर ज्ञान आधारित है।

मोक्ष के मार्ग के सदर्भ मे हीनयान की अपेक्षा महायान को अत्यधिक महत्व दिया गया। क्योकि हीनयान का आदर्श स्वय को मोक्ष प्राप्त कराना था और महायान का आदर्श समस्त प्राणियो को मोक्ष प्राप्त करना था। अनुभव जगत को इस आशय मे एक छायात्मक वास्तविकता माना गया कि पारमिता और महाकरूणा के अभ्यास के क्षेत्र के रूप मे यहा धर्मकाय[13] की प्राप्ति के लिए एक अभ्यास हे। अमलाप्रज्ञा को जो अर्हत के धर्मो मे से एक भी, अब प्रज्ञा पारमिता के नाम से ज्ञानकाय के एक पक्ष के साथ मिला दिया गया जिसका द्वितीय पक्ष स्वभावकाय था। भगवान बुद्ध अब मनुष्य नही रहे बल्कि सभोगकाय के नाम से वे एक वास्तविक ईश्वर बन गये। लेकिन फिर भी वे जगत

रचयिता नही थ। नवीन बौद्ध दर्शन ने अपनी इस विशेषता को बचाये रखा। नई धारणा के अनुसार वह अव भी हेतुवाद के सवृत्ति के अधीन थे। केवल ज्ञानकाय ही हेतु और माया से परे था। इस समय वौद्ध दर्शन एक बौद्ध धर्म बन गया। हिन्दू धर्म की तरह यह एक प्रकार के लौकिक बहुदेवत्ववाद के पीछे अलौकिक विश्वदेवैक्यवाद की अभिव्यक्ति करने लगा। पूजा की विधि के लिए इसने प्रचलित अद्भुत कृत्यो तथा तथाकथित तात्रिक सस्कारो को स्वीकार किया। मूर्ति विषयक आदर्श को पाने के लिए इसने यूनानी कलाकारो को प्रयोग किया।

---

१३ धर्मकाय = निर्वाण

इस प्रकार द्वितीय काल मे बौद्ध दर्शन मे गम्भीर परिवर्तन आया।

तृतीय काल :

बोद्ध दर्शन के द्वितीय काल के पश्चात इसमे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यह प्रगति भारतीय सभ्यता क स्वर्णयुग का समकालीन था।जब भारत का अधिकतर भाग गुप्तो के राष्ट्रीय वश के समृद्धिशाली शासन के अन्तर्गत था। इस काल मे कला एव विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर था। बौद्ध दार्शनिको ने इस पुनर्जागरण मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। बौद्ध दर्शन को दो भ्राताओ अर्हत् असङ्ग एव आचार्य वसुबधु ने एक नई दिशा प्रदान की। नये युग की भावना के अनुसार ही समस्त न्याय की भर्त्सना का परित्याग कर दिया गया। जो द्वितीय काल की विशेषता थी। इस काल मे बौद्ध दार्शनिको ने नैयायिक विषयो मे अत्यधिक रूचि लेने लगे जो इस काल के अत तक सर्वव्यापी हो गई।

इस नये परिवर्तन का प्रारभ बिन्दु बहुत कुछ 'COGITO ERGO SUM' (मै विचार करता हूँ इसीलिए मै हूँ स्वसवेदना") का एक भारतीय सस्करण था।

---

१४ सद स० ने प्रत्यक्षत इस सूत्र को प्रविनि० से दिया है। तुकी न्यायकणिका, पृष्ठ २६१। अधिक ठीक अर्थो मे व्यक्त करने पर भारतीय सूत्र इस प्रकार होगा--

COGITANTEM ME SENTIO NE SIT CAECUS MUNDUS OMNIS'= स्वसवेदनम् अङ्गीकार्यम, अन्यथा जगद आन्ध्यम् प्रसज्येत'। प्रो० सिलवेन लेवी COGITO ERGO SUM' की पहले ही 'स्वसवेदना' से तुलना कर चुके है। तुकी० महायान सूत्रलकार, २, पृ० २०।

पूर्णमायावादी सप्रदाय के विरूद्ध बौद्ध दार्शनिको ने अब घोषणा कि हम स्वसम्वेदना की वैधता को अस्वीकार नही कर लेते क्यो कि यदि हम स्वसवेदना को अस्वीकार करेगे तो हमे खुद चेतना को ही अस्वीकार करना पडेगा। और तब सपूर्ण जगत सर्वथा अन्धत्व की अवस्था मे बदल जायेगा। यदि हम वास्तव मे नही जानते कि हम लाल पट देख रहे है तो स्वय लालपन को हम कभी नही जान सकते।

इसलिए स्व सवेदना को ज्ञान के सार्थक श्रोत के रूप मे अवश्य मानना चाहिए। स्व सवेदना की समस्या ने पूरे भारतवर्ष एव बौद्ध दार्शनिको को भी समर्थक एव विरोधी[15] दलो मे बाट दिया। लेकिन ऐसा मालूम पडता है कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य माध्यमिको के अतिसशयवाद का प्रतिकार करना था। बौद्ध दर्शन के तृतीय काल की यह दूसरी विशेषता है। बौद्ध दर्शन के तृतीय काल की एक अन्य विशेषता है। जिसमे बाहय ससार के अस्तित्व सबधी पिछले काल के सशयवाद को पूर्णतया सुरक्षित रखा गया। इस काल मे बौद्ध दर्शन आदर्शवादी बन गया। बौद्ध दर्शन ने स्वीकार किया कि हर प्रकार का अस्तित्व निश्चित रूप से मानसिक ही है।[16] और यह हमारे विचारो की तदनरूप बाहय वास्तविकता की परिकल्पना मे पुष्टि नही होती।[17] सभी विचारो को परिकल्पित, परतत्र एव परिनिष्पन्न के रूप मे विभाजित किया गया जिसमे परतत्र एव परिनिष्पन्न को वास्तविक माना गया। सापेक्ष एव निरपेक्ष वास्तविकताओ को माना गया था। जब बौद्ध दर्शन के द्वितीय काल मे समस्त विचारो को अवास्तविक या शून्य माना गया थ। क्यो कि वे परस्पर अपेक्ष्य थे। बौद्ध दर्शन के तृतीय काल की यह तीसरी विशेषता है। जो आदर्श वादी बन गया।

---

१५ – तुकी० भाग २ पृ० २६, नोट ४

१६ – विज्ञान मात्रवाद = SEMS - TSAM - PA

१७ – निरालम्बन–वाद

अतिम मे नवीन बौद्ध दर्शन की एक प्रमुख विशेषता उसका 'आलय विज्ञान' भी है। जो इस काल के पहले चरण मे प्रमुख रहा लेकिन अतिम चरण मे छोड दिया गया। कोई वाहय जगत नही और उसका ज्ञान प्राप्त करने वाली कोई सम्वेदना नही केवल एक ही सम्वेदना है जो स्वसम्वेदनात्मक अर्थात वह है जो केवल अपने ही स्वत्व का ज्ञान प्राप्त करती है। अत जगत या वास्तविक ससार को ऐसे सभाव्य विचारो के अपार विस्तार द्वारा निर्मित माना गया। जो चेतना के सगह्यालय मे प्रशुप्त पडे रहते है। इस प्रकार वास्तविकता चिताजनक बन जाती है। एक अनादि वासना को सग्रहीत चेतना का एक अनिवार्य पूरक माना गया। यह वही शक्ति है जो यथार्थ वास्तविकता की तथ्य श्रृखला को कार्यक्षम अस्तित्व की ओर अभिप्रेरित करती है। जिस प्रकार यूरोप के तर्कवादियो ने यह स्वीकार किया कि सभाव्य वस्तुओ के अपार विस्तार ईश्वर की बुद्धि मे सम्मिलित हे। जिनमे से वह उन्ही वस्तुओ को चुनता है और अस्तित्व प्रदान करता है। जो सब समग्र रूप से अधिकतम सहसभाय वास्तविकता का निर्माण करती है उसी प्रकार बौद्ध दर्शन मे भी है। इसमे अन्तर केवल इतना है कि 'ईश्वर की बुद्धि' के स्थान पर 'आलय विज्ञान'[१८] को और उसकी इच्छा को 'अनादि वासना' को स्थापित कर दिया गया। बौद्ध दर्शन के तृतीय काल की यह अतिम विशेषता हे।

---

१८ – आगम – अनुसारिन।

बोद्ध दर्शन के प्रथम काल एव द्वितीय काल की भाति तृतीय काल भी उग्रवादी एव अनुग्रवादी[19] सप्रदाय मे विभाजित है। जैसा कि शेरबात्स्की के 'बौद्ध न्याय' ग्रथ मे स्पष्ट है। इसके द्वितीय भाग मे आरभ[20] के उग्र आदर्शवाद को छोड दिया गया। और एक गुणागुण विचार युक्त अथवा बोधातिरिक्त वास्तविकता को मान लिया। इसने आलय विज्ञान को भी यह मानकर छोड दिया कि यह प्रच्छन्न आत्मा है।

अतिम मे एक धर्म के रूप मे इस काल मे बौद्ध दर्शन बहुत कुछ वैसा ही रहा होगा जैसा कि पिछले काल मे था। इस पद्धति को आदर्शवादी सिद्धान्तो के अनुरूप बनाने के लिए निर्वाण, बुद्ध एव निरपेक्ष सबधी सिद्धान्तो मे कुछ परिवर्तन अवश्य किये गये। इस काल के महान व्यक्ति मुक्त विचारक प्रतीत होते हे। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के विकास की परम्परा के अन्तर्गत सबसे पहले उसके तीनो काल के विभाजन का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।

---

१९ – न्याय – का दिन।

२० – तुकी० भाग २ पृष्ठ ४२८ नोट।

द्वितीय अध्याय
बौद्ध दर्शन का चरम विकास

द्वितीय अध्याय

बौद्ध दर्शन का चरम विकास

बोद्ध दर्शन के विकास मे मुख्य रूप से नागार्जुन, मैत्रेय, वसुबन्धु, असग, दिगनाग, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिकों का महत्वपूर्ण योगदान है। यहा सभी दार्शनिको का विवेचन क्रमश वर्णन करना आवश्यक हे।

नागार्जुन (११३ – २१३ ई०)

नागार्जुन न केवल बौद्ध दर्शन मे बल्कि सपूर्ण भारतीय दर्शन मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह माध्यमिक सप्रदाय के सस्थापक आचार्य थे। इन्होने सत्– असत्, उभय – अनुभय– इन चार कोटियो से बहिर्भूत शून्य तत्व का प्रणयन किया। नागार्जुन के न वाहय प्रमेय अर्थसत् है ओर न प्रमाणसत हे। नागार्जुन प्रमाण का खडन कर प्रमेय का भी खडनकर देते है। तथा 'शून्य' नामक तत्व को सिद्ध करते हे। उनकी शून्यता का अर्थ है वह प्रज्ञा जो किसी सत्य को आत्यन्तिक रूप से सत्य नही मानती ।[1]

---

१ " EPISTEMOLOGICALLY EMPTINESS IS PRAJNA AN, UNATTACHED INSIGHT THAT NO TRUTH IS ABSOLUTELY TRUE" - NAGARJANA'S TWELVE GATE TREATISE P 14

नागार्जुन की मुख्य कृतिया है

(१) मूल माध्यमिक कारिका

(२) विग्रह व्यावर्तनी

(३) युक्तिाषष्टिका कारिका

(४) वेदल्य सूत्र प्रकारण।

मूल माध्यमिक 'कारिका माध्यमिक' सप्रदाय का सर्वप्रथम ग्रथ है। इस ग्रथ मे आर्य नागार्जुन ने न्याय के परिभाषक शब्दो का यदा–कदा प्रयोग किया है । जैसे – अध्याय[४] मे 'साध्यसम ' शब्द का प्रयोग किया गया है२। युक्तिषष्टिका मे युक्तियो या तर्क के सबध मे ६० कारिकाओ की रचना की गई। न्यायशरत्र के सदर्भ मे नागार्जुन की जो रचना प्रसिद्ध हुई है वह है विग्रह व्यावर्तनी की विषय वस्तु प्रमाणशास्त्र के सदर्भ मे जानकारी रखना उपादेय है।

मैत्रेय (३०० ई०)

योगाचार दर्शन के सस्थापक आचार्य मैत्रेय ने विज्ञानवाद से सम्बन्धित कई रचनाओ का निर्माण किया है। जिनमे बोधिसत्व चर्या निर्देश, सप्त – दशाभूमि शास्त्र, योगाचार्य एव अभिसमयालकारिका मुख्य है। आचार्य मैत्रेय के अनुसार साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा के लिए हेतु एव दो उदाहरण मिलना चाहिए। आचार्य मैत्रेय ने कहा कि महर्षि गौतम द्वारा प्रणीत उपमान प्रमाण का उल्लेख नही किया जा सकता।

---

२ विग्रहे य परीहार कृते शून्यतया वदेत।

सर्व तस्यापरिहृत सम साध्येन जायते।।''

वसुबन्धु :

आचार्य असग के अनुज बसुबन्धु का जन्म गाधार राज्य के पुरूषपुर नगर मे हुआ था। ये प्रारभ से वैभाषिक थे लेकिन असग के द्वारा विज्ञानवाद (योगाचार) मे दीक्षित कर दिये गये। इन्हो ने योगाचार एव वैभाषिक दोनो सप्रदायो के लिए ग्रथ की रचना की। परमार्थ ने बसुबधु का समय ३१६ ई० से ३६६ ई० प्रतिपादित किया है। भारतीय एव चीनी विद्वानो ने बसुबन्धु को बोधिसत्व कहा है। बसुबन्धु की अनेक कृतिया है। जिनमे प्रमुख निम्न है–

१) अभिधर्म कोश एव भाष्य

२) विशिका

३) त्रिशिका

४) मध्यात विभग भाष्य

५) त्रिस्वभाव निर्देश

६) पचस्कध प्रकरण

७) कर्मसिद्धि प्रकरण

८) वाद विधि इन सब कृतियो मे सबसे मुख्य रचना वाद विधि [3] है।

---

३ राहुल साकृत्यायन की 'वाद–न्याय' एव अभिधर्म' की भूमिका।

असग (३५० ई०)

असग का जन्म पेशावर के एक ब्राहमण पठान) कुल मे हुआ था। इनके छोटे भाई बसुबन्धु बौद्ध दर्शन के क्षेत्र के प्रसिद्ध दार्शनिक थे। बसुबन्धु के कई ग्रथ काल कवलिक हो गये। बसुबन्धु का अभिधर्मकोश बहुत उच्च कोटि का ग्रथ है। लेकिन वह सर्वास्तिवाद का एक सुश्रृखलित विवेचन ही है। इसीलिए राहुल साकृत्यायन ने उसके बारे मे कुछ नही लिखा। बसुबधु '' मध्यकालीन न्यायशास्त्र'' के पिता दिगनाग के गुरू थे। उन्होने स्वय भी 'वाद विधान' नाम से न्याय पर एक ग्रथ की रचना की थी। लेकिन शिष्य की प्रतिभा के सामने गुरू की कृत्तिया ढक गई। बसुबधु समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मौजूद थे।

असग ने योगाचार भूमि, उत्तरतत्र, जैसे ग्रथो का प्रणयन करके विज्ञानवाद का समर्थन किया। छोटे भाई बसुबधु ने वैभाषिक सम्मत तथा बुद्ध के दर्शन से बहुसम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रथ 'अभिधर्मकोष' तथा उस पर एक बडा भाष्य लिखा।

इसके अतिरिक्त विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि की विशिका एव त्रिशिका की रचना करके 'असग' के दर्शन का सुव्यवस्थित रूप से दार्शनिको के समक्ष प्रस्तुत किया। बसुबधु का अगला महत्वपूर्ण कार्य था 'वाद विधान' नामक ग्रथ लिखकर भारतीय न्यायशक्ति को नागार्जुन से मिली प्रेरणा का नियमबद्ध करना। और इससे महत्वपूर्ण कार्य था कि दिगनाग जैसे शिष्य को पढाकर अब तक किये गये दार्शनिक कार्य को आगे बढाने के लिए तैयार करना। योगाचार दर्शन का नाम असग सबसे बडे ग्रथ 'योगाचार भूमि' से लिया गया है।

असग के मुख्यत पाच ग्रथ है महायानोत्तर तत्र, सूत्रालकार, योगाचार–भूमि–वस्तुसग्रहणी बोधिसत्व–पिटकाववाद। इनमे अतिम दोनो ग्रथ की जानकारी 'योगाचार भूमि' से हुई–

योगाचार भूमि :

असग द्वारा प्रणीत योगाचार भूमि १७ भूमियो मे बटा है। जो निम्नलिखित है।

१– विज्ञान भूमि

२– मन भूमि

३– सवितर्क – सविचारा भूमि

४ – अवितर्क विचारमात्रा भूमि

५ – अवितर्क – अविचारा भूमि

६ – समाहिता भूमि

७ – अरामाहिता भूमि

८ – सचित्तका भूमि

९ – अचित्तका भूमि

१० – श्रावक भूमि[४]

११ – बोधिसत्व भूमि

---

४. श्रावक भूमि तथा बोधिसत्व भूमि तिब्बत मे मिली 'योगाचार भूमि' की तालपत्र पोथी 'दशवी सदी' मे नही है। बोधिसत्व भूमि को प्रो० उ० बोगीहारा 'जापान १९३०' प्रकाशित कर चुके हैं।

---

१२ – भाव मयी भूमि

१३ – श्रुत मयी भूमि

१४ - प्रत्येक बुद्ध भूमि

१५ – चितामयी भूमि

१६ – सोपधिका भूमि

१७ – निरूपाधिका भूमि

आचार्य असग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असग के पूर्व 'लकावार सूत्र' एव सधिनिर्मोचन सूत्र' मे उपस्थित था। इन सूत्रो को 'बुद्ध वचन' कहा जाता है। लेकिन अधिकतर महायान सूत्रो की तरह यह बुद्ध के नाम पर बने पीछे के सूत्र है। लंकावतार सूत्र का उपदेश महात्मा बुद्ध ने दक्षिण मे लका द्वीप के पर्वत (समन्तकूट) पर उपदेश दिया था। वस्तुत उसे दक्षिण मे न ले जाकर उत्तर मे गधार की पर्वतावली मे ले जाना अधिक तर्क सगत है। बौद्धो का विज्ञानवाद बुद्ध के "सब्ब अनिच्च" (सब अनित्य है) के साथ मिश्रण मात्र है। यह मिश्रण उसीगधार मे किया गया जहा यूनानियो की कला के मिश्रण द्वारा गधार मूर्तिकला ने अवतार लिया। विज्ञानवाद विज्ञान को परम तत्व मानता है, यह झूठे मन विज्ञान के अतिरिक्त सातवे आलय विज्ञान को भी स्वीकार करता है। आलय विज्ञान वह है जिसमे विश्व की सारी जड चेतन वस्तुए प्रकट एव विलीन होती है।

योगाचार भूमि कोई सुसबद्ध ग्रथ नही है वह बुद्ध घोष "विक्षुद्धिमग्ग" (विशुद्धि मार्ग) की भाति अधिकतर बौद्ध सदाचार योग तथा धर्मतत्व का विशद विवेचन है। असग ने "गाथार्थ – प्रविचय"[1] मे हीनयान एव महायान की १७८ गाथाये सकलित कर दी है। असग ने बुद्धघोष की तरह सूत्रो की भाषा शैली का बहुत अधिक अनुकरण किया है। कि कभी – कभी भ्रम होने लगता है कि हम अभिसस्कृत सस्कृत काल मे न होकर पिटक काल की किसी पुस्तक को संस्कृत शब्दान्तर के रूप मे पढ रहे है। बुद्धघोष ने अपने ग्रंथ को पाली मे लिखा। असग अपनी कृति को बुद्ध के नाम से प्रकट करने के इच्छुक थे। लेकिन प्रश्न उठता है कि असग ने ऐसी शैली क्यो अपनाई जिसमे किसी मत को सक्षेप मे नही व्यक्त किया जा सकता।

योगाचार भूमि के मुख्य बिन्दु ज्ञेय, विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, हेतु (वाद) विद्या, आदि का सक्षिप्त वर्णन मै कर रहा हूँ।

 :

ज्ञेय (प्रमेय):

योगाचार भूमि मे परीक्षणीय पदार्थ को ज्ञेय कहते है। ज्ञेय ४ प्रकार का होता है। १–सत् या भावरूप २–असत या अभावरूप ३–अस्तित्व ४–नास्तित्व।

सत् ५ प्रकार का होता है १–फल लक्षण (परिणाम के रूप मे) २–हेतु लक्षण ३–सकेत लक्षण ४–सामान्य लक्षण (जाति आदि के रूप मे) ५–स्वलक्षण (अपने स्वरूप मे सत्)।

असत भी ५ प्रकार का होता है १–अत्यन्त असत् (बघ्या युग की भाति) २–परमार्थ असत् (मूल मे जान पर) ३–अन्योन्य असत् (=कुत्ता,बिल्ली नही, बिल्ली कुत्ता नही, इस तरह एक दूसरे के रूप मे) ४–निरूद्ध असत् (जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गया हो। ५–अनुत्पन्न असत् (जो पदार्थ उत्पन्न नही हुआ।)

अस्तित्व भी पाच प्रकार का होता है। १ – परिनिष्पन्न लक्षण जो अस्तित्व परमार्थत है। २ – परतत्र लक्षण अस्तित्व – प्रतीत्यसमुत्पन्न (अमुक के बाद 'अमुक' अस्तित्व मे आ रहा है।) को कहते है। ३ – विशेष लक्षण – काल, मृत्यु, जीवन, आदि के सदर्भ मे माना जाने वाला अस्तित्व है। ४ – परिकल्पित लक्षण अस्तित्व है। सकेतवश जिसे माना जाय। ५–अवक्तव्य लक्षण अस्तित्व वर है। जिसे 'हा' या 'नही' मे जाना जा सके।

---

५ – योगाचार भूमि (श्रुतमयी भूमि १०)

६ – योगाचार भूमि (चितामयी भूमि।।)

नास्तित्व भी ५ प्रकार का होता है–

१ – स्वतत्र रूपेण नास्तित्व २ – सर्वे सर्वारूप से नास्तित्व ३ – परमार्थ रूपेण नास्तित्व ४ – अवक्तत्य रूप से नास्तित्व ५ – अविशेष रूप से नास्तित्व।

परमार्थत अस्तित्व, नास्तित्व, सत्,असत् का ज्ञान कराने के लिए आचार्य असग ने परमार्थ गाथा के नाम से महायानसूत्र की कितनी गाथा उद्घृत की है। इनमे १ – वस्तुओ के भीतर किसी प्रकार के स्थिर तत्व की सत्ता को इकार करते हुए उन्हे 'शून्य' कहा गया है। बाहय एव मानस तत्वो को सारशून्य कहते हुए उन्हे क्षणिक कहा गया है। इसके साथ यह भी कहा गया है कि कोई सृष्टा एव सहारकर्ता नही है। बल्कि ससार के सभी पदार्थ क्षण भगुर है। रूप, वेदना,सज्ञा,सस्कार और विज्ञान इन पाच स्कन्धो मे स्थिरता का भास सिर्फ भ्रम मात्र है। हालॉकि वे फेन, बुलबुले, मृगमारीचिका, कदली गर्भ तथा माया की भाति निस्सार है।[७] –

"आध्यात्मिक जगत (मानस जगत) शून्य है। बाहय भी शून्य है। ऐसी कोई आत्मा नही है। जो शून्यता का अनुभव करता है। अपनी कोई आत्मा ही नही है। यहा कोई सत्य या आत्मा नही है। य सारे धर्म अपने ही कारण है। सारे सस्कार क्षणिक है।

७– योचारभूमि (चितामयी भूमि।।)

८ – रोश्द पृष्ठ – २४२

विज्ञानवाद :

(अ) वाहय आभ्यान्तर, जड चेतन जो कुछ जगत है सब विज्ञान का परिणाम आलय विज्ञान है। इसी से वीथि तरग की भाति जगत् एव सारी वस्तुए उत्पन्न हुई है। इस विश्व विज्ञान या आलय विज्ञान से जैसे जड जगत उत्पन्न हुआ है। उसी तरह वैयक्तिक–विज्ञान पाचो इन्द्रियो के विज्ञान और छठा मन पैदा हुआ है।

(ब) इन्द्रिय विज्ञान – वह है जो इन्द्रियो के आश्रय से पैदा होता है। इन्द्रिय विज्ञान भी ५ प्रकार का होता है–

१ चक्षु विज्ञान :

चक्षु या आख से जो विज्ञान प्राप्त होता है। उसे चक्षु विज्ञान कहते है।

२. आश्रय :

चक्षु विज्ञान के आश्रय ३ प्रकार का होता है। चक्षु जो कि साथ आता है एव साथ ही नष्ट हो जाता है। अत सहयू आश्रय है। मन जो इस विज्ञान का बाद मे आश्रय होता है। इसीलिए समनन्तर आश्रय है। रूप इन्द्रिय, मन, तथा सारे जगत का बीज जिसमे उपस्थित रहता है। उसको सर्वबीजक आश्रय कहते है। यह सर्वबीजक आश्रय आलय विज्ञान है।

३. कर्म :

कर्म ६ प्रकार का होता है 'क' स्वविषय अवलबी 'ख' स्वलक्षण 'ग' एक लक्षण 'घ' वर्तमान काल 'च' शुद्ध।

४. सहाय :

यह चक्षु विज्ञान के साथ पैदा होने वाला एक ही आलबन के चैतसिक धर्म है।

५. आलंबन :

आलबन तीन प्रकार के होते है–

'१' वर्ण 'रग' '२' सरस्थान 'आकृति' '३'विज्ञप्ति 'क्रिया'

वर्ण के अन्तर्गत– नील, पीत, लाल, सफेद, छाया, धूप, प्रकाश, अधकार, मन्द्र, रज, धूम, नम, महिका इत्यादि। सस्थान के अन्तर्गत – लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमडल, अणु, स्थल, सात, विसात, अवनत, उन्नत। विज्ञप्ति के अन्तर्गत – फेकना, लेना, सिकोडना, फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दौडना आदि आता है।

इसी प्रकार ध्राण, श्रोत, जिह्वा, और काया इन्द्रियो के विज्ञान है।

स'–मनविज्ञान छठा विज्ञान है। इसका स्वभाव निम्नलिखित है–

चित्त, मन, विज्ञान, इसके स्वरूप है। सारे बीजो का वाला आश्रय आलय विज्ञान है। मन सदैव अविद्या, अस्मिमान एव तृष्णा (शोपेन हावर की तृष्णा) इन चार क्लेशो से युक्त रहता है। विज्ञान जो आलबन क्रिया मे उपस्थित रहता है।

मन समनन्तर आश्रय है अर्थात चक्षु आदि इन्द्रियो के विज्ञानो की उत्पत्ति हो जाने के बाद वही इन विज्ञानों को आश्रय होता है। आलय विज्ञान ही सारे बीजो को रखने वाला आश्रय है।

मन के सहाय या साथी कई है जैसे– मनस्कार, स्पर्श, सज्ञा, वेदना, चेतना, स्मृति, श्रद्धा, लज्जा, प्रज्ञा, अमोह, अद्वेष, निर्लज्जता, पराक्रम, अहिसा, उपेक्षा, सदेह, राग, क्रोध, ईर्ष्या, हिसा आदि चैतसिक धर्म है।

मन का आलबन पाच इन्द्रियो के पाचो विज्ञान को धर्म कहते है।

कर्म वह है जो अपने पराये विषयो सबधी क्रिया जोकि ६ आकार मे प्रकट होती है। '१'–विषय के सामान्य स्वरूप की विज्ञप्ति '२'–तीनो काल की विज्ञप्ति '३'–क्षणो के क्रम की विज्ञप्ति '४'–प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध–अशुद्ध धर्म, कर्म की विज्ञप्ति '५'–इष्ट अनिष्ट फल का ग्रहण '६'–दूसरे विज्ञान–समुदायो का उत्थापन।

मन की च्युति तथा उत्पत्ति

बोद्ध दर्शन क्षणिक परिवर्तनशील मन को स्वीकार करता है। वह किसी भी नित्य आत्मा या जीव की सत्ता को नही स्वीकार करता। मृत्यु का तात्पर्य – एकशरीर प्रवाह (शरीरभी क्षण–क्षण परिवर्तनशील होने से वस्तु नही बल्कि प्रवाह है) से एक मन प्रवाह (मन सन्तति) का च्युत होना। उसी प्रकार उत्पत्ति का तात्पर्य है एक मन प्रवाह का दूसरे शरीर प्रवाह मे उत्पन्न होना।

मृत्यु के तीन कारण होते है १ आयु समाप्त हो जाना २ पुण्य का समाप्त होना ३ शरीर की विषय क्रिया यानी भोजन मे न मात्रा का ख्याल, न पथ्य का ख्याल,दवा का प्रयोग न करना,अब्रह्मचारी होना। मृत्यु के समय पापियो के शरीर का हृदय से ऊपरी भाग पहले ठडा पडता है और पुण्य आत्माओ का निचला भाग फिर सारा शरीर। एक शरीर के छोडने से एव दूसरे मे उत्पन्न होने के बीच की अवस्था को अन्तराभाव कहते है। मृत्यु के समय अपने भले बुरे कर्मो के अनुसार अपना अन्तराभावीय रूप ग्रहण करता है मन के किसी शरीर मे उत्पन्न होने के लिए तीन चीजे आवश्यक है–

१ पिता का बीज उपस्थित हो माता ऋतु मती हो और गन्धर्व उपस्थित हो,इसके साथ यौनि बीज एव कर्म के दोष इसमे बाधक न हो ।

अन्तराभाव स्त्री–पुरूष की मैथुन क्रिया को देखता है उस समय यदि पुरूष बनने वाला होता है तो स्त्री मे आसक्ति हो जाती है यदि स्त्री बनने वाला होता है तो पुरूष मे आसक्ति हो जाती है।

स्त्री–पुरूष मैथुन के बाद घना बीज छूटता है और रक्त का बिन्दु भी। बीज एव शोणित बिन्दु दोनो माता की यौनि मे मिश्रित होकर एक पिण्ड बनकर उबल कर ठढे हो गये दूध की तरह स्थिति होते है। इसी पिण्ड मे सारे बीजो को समाहित करने वाला आलय विज्ञान समा जाता है अन्तराभाव इसमे आकर जुड जाता है। इसको गर्भ की कलल अवस्था कहते है। बिज्ञान कलल अवस्था के जिस स्थान मे जुडता है वही उसका हृदय स्थानहोताहै कलल से आगे जाते हुए गर्भ सात अवस्थाऐ प्राप्त करता है १ अर्बुद २ पेशी ३ धन ४ प्रशख ५ केश–रोम नखवाली अवस्था ६ इन्द्रिय अवस्था ७ व्यजन अवस्था ।

माता के क्षार लवण रस वाले अन्न पान के सेवन या बुरे कर्मो के कारण बालक के केश के रग कई प्रकार के होते है। बालक के केश काले गोरे होने मे पूर्व जन्म के कई कारण होते है जैसे–मॉ बहुत ठढे कमरे मे निवास करती है तो बच्चा गोरा होता है। यदि मॉ अत्यधिक धूप का सेवन करती हे तो बच्चा काला होता है। मॉ के दौडने कूदने से बच्चे के अग विकृत हो जाते है। इसके अतिरिक्त मॉ के अत्यधिक मैथुन सेवन से चमडे मे दाद,कुष्ठ आदि हो जाता है । पुत्र होने पर गर्भ माता की कोख मे दाहिनी ओर होता है और पुत्री होने पर माता की कोख मे बायी ओर होता है। मॉ के प्रसव के दौरान उदर मे असहाय कष्ट देने वाली पैदा होती है जो गर्भ के पैर को उपर एव सिर को नीचे कर देती है।

प्रतीत्य समुत्पाद एवं अनित्यवाद

असग ने बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिक को बताया है। क्षणिक के अर्थ को लेकर प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हुए उन्होने क्षणिकवाद शब्द से प्रतीत्यसमुत्पाद को स्वीकार किया है प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेषण करते हुए असग बताते हैं कि प्रतिगमन करके प्रत्यय (अर्थात एक चीज को समाप्त करके दूसरी चीज की उत्पत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है) अर्थात गतिशील प्रत्यय के साथ उत्पत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद है जो क्षणिक के अर्थ को लेकर होता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणभगुर है।'

हेतुविद्या :

असग ने हेतु विद्या को छ भागो मे विभाजित किया है– १ वाद २ वाद अधिकरण ३ वाद–अधिष्ठान ४ वाद अलकार ५ वाद निग्रह ६ वादेबहुकर

---

६ योगा चार भूमि (भूमि ३,४,५) "प्रत्यय इत्व रात्ययसगत उत्पाद प्रतीत्य–समुत्पाद क्षणिकार्थमधि कृत्य।"

१० प्रतिक्षण च नय लक्षणानिप्रवन्तेन्ते। क्षण भगुरश्च प्रतीत्य–समुत्पाद ।

धर्मकीर्ति

श्चेरवात्स्की के अनुसार धर्मकीर्ति भारत के काट थे । धर्मकीर्ति ने अपने तर्को के माध्यम से उद्योतकर के 'न्यायवात्तिक' को छिन्न भिन्न कर दिया। जिसके कारण वाचस्पति ने उस पर टीका लिखी।धर्मकीर्ति के कडे आलोचक जयन्तभट्ट ने भी उनके ग्रथो को 'सुनिपुण–

बुद्धि' होने तथा उनके प्रयास को 'जगदभिभव–धीर' स्वीकार किया है।[11] श्री हर्ष ने धर्मकीर्ति को 'दुराबाध'[12] कहकर सम्मानित किया।

धर्मकीर्ति का जन्म चोल (उत्तर तमिल) प्रान्त के तिरूमलै नामक ग्राम मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनके पिता का नाम तिब्बती परम्परा मे कोरूनन्द था। धर्मकीर्ति प्रारम्भ से बहुत प्रतिभाशाली थे। सर्वप्रथम उन्होने ब्राह्मणो के शस्त्रो एव वेद वेदागो का अध्ययन किया। तत्कालीन समय मे नागार्जुन,दिगनाग एव वसुबन्धु की बौद्ध दर्शन अपने चरमोत्कर्ष पर था। धर्मकीर्ति बौद्ध दर्शन से इतना अधिक प्रभावित हुए कि वह नालन्दा जाकर धर्मपाल के शिष्य बन गये एव भिक्षुसघ मे शामिल हो गये। धर्मकीर्ति की रूचि न्यायशास्त्र मे अधिक थी और उससे दिगनाग की शिष्य परम्परा के आचार्य ईश्वर सेन से शिक्षा ग्रहण किया। धर्म कीर्ति का सम्पूर्ण जीवन विद्याध्ययन ग्रन्थ लेखन एव शास्त्रार्थ मे बीता।

---

११ इति सुनिपुण बुद्धिर्लक्षण वक्तुकाम पुदयुगलमपीदम निर्ममे नानवधम् भवतु मति महिम्न श्चेष्टित दृष्टमेतज्ज – गदभिभव धीर धीमतो धर्मकीर्ति । न्यायमज्जरी पृ० १००

१२. दुराबाध इव चाय धर्मकीर्ति पन्था इत्यवहितेन भाव्यभिहेति। खण्डन खण्ड खाद्य।

चीनी पर्यटक इ–चिडने धर्मकीर्ति का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया इसलिए धर्मकीर्ति का जन्म ६७६ ई० के पूर्व माना जाता है। इस प्रकार धर्मकीर्ति का समय ६००ई० सही प्रतीत होता है।

धर्मकीर्ति के ग्रथ :

धर्मकीर्ति ने अपने ग्रथ सिर्फ बौद्ध प्रमाण शास्त्र पर लिखे है इनकी सख्या ६ है इसमे ७ मूल ग्रथ है एव २ अपने ही ग्रथो पर टीका है जो निम्नलिखित है–

ग्रथ का नाम	गद्य या पद्य
१ प्रमाणवार्तिक	पद्य
२ प्रमाणविनिश्चय	गद्य–पद्य
३ न्याय बिन्दु	गद्य
४ हेतु बिन्दु	गद्य
५ वाद न्याय	गद्य–पद्य
६ सम्बन्ध परीक्षा	पद्य
७ रान्तारतर–सिद्धि	पद्य

टीका

८ वृत्ति	गद्य सबन्ध परीक्षा पर
६ वृत्ति	गद्य प्रमाण वार्त्तिक। परिच्छेद पर।

धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्त्तिक दिडगनाग के प्रमाण समुच्चय की स्वतन्त्र व्याख्या है। प्रमाणवार्त्तिक के चार परिच्छेदो का क्रम ग्रथो मे इस कम से मिलता है –स्वार्थानुमान प्रमाणसिद्धि,प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। किन्तु यह क्रम गलत है ।

धर्मकीर्ति ने सिर्फ प्रमाण (न्याय) ास्त्र पर सातो ग्रथो का प्रणयन किया है । इन सातो ग्रथो मे सबसे बडा एव सबसे अधिक प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' ही है। धर्मकीर्ति के दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'प्रमाणवार्तिक' ही सर्वोत्कृ ट ग्रथ है।

धर्मकीर्ति असग के योगाचार (विज्ञान वाद) दार्शनिक सप्रदाय को मानने वाले थे। लेकिन धर्मकीर्ति शुद्ध रूप से योगाचारी नही थे बल्कि सौत्रात्रिक योगाचारी थे। सौतात्रिक दार्शनिक वाह्य जगत की सत्ता को मूलतत्व स्वीकार करते है एव योगाचारी दार्शनिक सिर्फ विज्ञान को मानते है। सौतात्रिक योगाचार्य का तात्पर्य है कि वाह्य जगत की प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकता को मानते हुए विज्ञान को मूलतत्व स्वीकार करना। प्राचीन योगाचार दर्शन मे मूलतत्व विज्ञान का विश्ले ण करके उसे दो भागो मे विभाजित किया गया था।

१ आलय विज्ञान

२ प्रवृत्ति विज्ञान

प्रवृत्ति विज्ञान मे चक्षु,श्रोत, घ्राण जिहवा, स्पर्श–पाचो ज्ञानेन्द्रियो के पाच विज्ञान जो कि विषय तथा इन्द्रिय के सपर्क होते वक्त रग आकार आदि की कल्पना उठने से पूर्व भान होते है। एव छठा हे। मन का विज्ञान। आलय विज्ञान मे उपरोक्त ६ विज्ञान के साथ जन्म मरण भी अपने प्रवाह मे सभी प्रवृत्ति विज्ञानो का घर आलय है। इसी मे सर्तप्रथम सस्कारो की वासना एव आगे उत्पन्न होने वाले विज्ञानो की वासना रहती है। हालाकि क्षणिकता के सदा साथ रहने से आलय विज्ञान मे आत्मा या ब्रह्म का भ्रम नही हो सकता था। फिर भी एक प्रकार का रहस्यमयी तत्व बन जाता था जिससे हरि भद्र,विमुक्तसेन,धर्मकीर्ति जैसे कितने ही दार्शनिक इसमे प्रच्छन्न आत्म तत्व कि शका करने लगे थ। और वे आलय विज्ञान के इस सिद्धान्त को अन्धेरे मे तीर चलाने की तरह खतरनाक समझते थे।[13] धर्मकीर्ति ने आलय (विज्ञान) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग प्रमाणवार्त्तिक मे किया है। लेकिन वह विज्ञान साधारण के अर्थ मे उसके पीछे वहा किसी अद्‌भुत रहस्य मयी शक्ति का ख्याल नही है।[14]

---

१३ तिब्बती नैयायिक जमन्यड–शद्–पा (मजु धोषपाद् १६४८ १७२२ ई०) अपने ग्रथ 'सप्त निबध–न्यायालकार–सिद्धि अलकार सिद्धि) मे लिखते है– 'जो लोग कहते है कि (धर्मकीर्ति) के सात निबधो के मन्तब्यो मे आलय विज्ञान भी है। वह अधे है, अपने ही अज्ञाना–न्धकार मे रहने वाले। 'डा० एफ० टी० शेरबात्स्की की 'ठन्क्कभ्ैज्स्ळष्‍ ट्व्‍ष् पेज ३२६ फुटनोट मे उदधृत

१४ आलय शब्द पुराने पाली सूत्रो मे मिलता है किन्तु वहावह रूचि,अनुनय या अध्यवसाय के अर्थ मे आता है।–महाहत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम–निकाय१/३/८) बुद्वचर्या पृ ठ १७६ ।

धर्मकीर्ति क्षणिक भौतिक जगत की वास्तविकता को स्पष्टत अस्वीकार तो नही करते लेकिन अपने तर्को मे जगह–जगह प्रयुक्त भौतिक तत्वो की वास्तविकता को स्पष्ट रूप से मानते है तो धर्म का नकाब गिर जाता है और प्रत्यक्ष रूप से भौतिक वादी बन जाते है। अत सौत्रान्त्रिक ही सही किन्तु उन्हे विज्ञानवादी रहना आवश्यक था। यूरोपीय देशो मे भौतिकवाद का विकास तब हुआ जब सामन्तवाद के गर्भ से एक होनहार वर्ग व्यापारी एव पूँजीपति–विज्ञान के आविष्कारो के मदद से अपना वर्चस्व बढा रहे थे। प्रत्येक क्षेत्र के प्राचीन विचारो की अवहेलना होने लगी एव भौतिकविचारो को बढावा दिया जाने लगा। छठी सदी इसवी मे भारत मे यह व्यवस्था आने मे १४ शताब्दियो की आवश्यकता थी। किन्तु किसी को कम न समझा जाय कि भारतीय`हेगेल–धर्मकीर्ति जर्मनी के हेगेल (प्रसिद्ध विज्ञानवादी विचारक) से १२ शताब्दी पूर्व हुए थे।

धर्मकीर्ति के प्रमुख के प्रमुख दार्शनिक विचार–विज्ञानवाद, क्षणिकवाद,परमार्थसत् की व्याख्या,नाश अहैतुक होता है, कारण समूहवाद,प्रमाणवाद,मन एव शरीर पर विचारआदि है इसके अतिरिक्त नित्यवादियो का सामान्य रूप से खण्डन, न्यायवैशेषिक का खण्डन,साख्य दर्शन का खण्डन,मीमासा का खण्डन,जैन अनेकातवाद का खण्डन पर भी सम्यक रूप से विचार प्रतिपादित किया है।

दिङ्.नाग

राहुल साकृत्यायन ने पुरातत्व निबधावली मे आचार्य दिग्नाग के बारे मे कहा है (दिङ्नाग ४२५ई०) वसुबन्धु के शिष्य थे। यह तिब्बत की परम्परा से मालूम होता है।

और तिब्बत मे इस सम्बन्ध की यह परपराऐ आठव शताब्दी मे भारत से आ गई थी। इसीलिए इन्हे भारतीय परपराये कहना चाहिए । यद्यपि चीनी परपरा मे दिङनाग के बसुबन्धु के शिष्य होने का उल्लेख नही है । तो वहा भी उसके विरूद्ध भी कुछ नही पाया जाता दिङ्.नाग का काल बसबधु एव कालीदास के बीच मे हो सकता है और इस प्रकार उन्हे ४२५ई० के आस–पास का माना जा सकता है। न्यायमुख के अतिरिक्त दिङ्.नाग का मुख्य ग्रन्थ प्रमाण समुच्चय है जो सिर्फ तिब्बती भाषा मे ही मिलता है। उसी भाषा मे प्रमाण समुच्चय पर महा वैयाकरण काशिका विवरण पजिका (=न्यास) के कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७००ई०) की टीका भी मिलती है।'[१५]

दिङनाग का जन्म तमिल प्रदेश के कजीवरम् के निकट 'सिहवक्र' नाम के एक गाव मे एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। युवा होते ही वह वात्सीपुत्रीय बौद्ध सम्प्रदाय के एक भिक्षु नागदत्त के

ससर्ग मे भिक्षु बन गये। कुछ समय पश्चात अपने गुरू नागदत्त से उनका पुद्गल[1] अर्थात आत्मा के बारे मे मतभेद हो गया। जिसकी वजह से उन्होने मठ को छोड दिया और वसुबन्धु के शिष्यत्व मे आ गये। इसके पश्चात उन्होने न्यायशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया इसके पश्चात शास्त्रार्थ मे प्रतिद्वन्दियो पर विजय पाने एव न्याय के गभीर किन्तु कम सख्या मे ग्रथो की रचना करने मे समय विताया ।

---

१५ राहुल साकृत्यायन कृत पुरातत्व निबधवली,पृष्ठ२१४–२१५

१६ वात्सीय पुत्रीय बौद्धो के पुराने सम्प्रदायो मे वह सम्प्रदाय है जो अनात्मवाद से साफ इन्कार करते भी छिपे तौर से एक तरह का आत्मवाद का समर्थन करना चाहता था।

दिङनाग के प्रमुख ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय मे परिच्छेदो से श्लोको की सख्या निम्नलिखितप्रकार की है–

परिच्छेद	विषय	श्लोक संख्या
१	प्रत्यक्ष–परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान–परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान–परीक्षा	५०
४	दृष्टात परीक्षा	२१
५	अपोह परीक्षा	५२
६	जाति–परीक्षा	२५
		२४७

राहुल साकृत्यायन ने बताया कि प्रमाण समुच्चय के प्रथम श्लोक मे दिङनाग ने गथ लिखने का उद्देश्य इस प्रकार बताया है "जगत के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा बुद्ध को नमस्कार कर जहा तहा फेले हुए अपने मतो को यहा एक जगह प्रमाण सिद्धि के लिए जमा किया जायेगा "[१७]

दिङनाग ने अपने ग्रन्थो मे वात्स्यायन के न्यायभाष्य एव दूसरे अन्य दर्शनो की इतनी अधिक तर्कयुक्त आलोचना की है कि आलोचना का उत्तर देने के लिए वात्स्यायन के भाष्य पर पाशुपताचार्य उद्योतकर भरद्वाज को न्यायवार्तिकालिखनपडा।[१८]

---

१७ "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। प्रमाण सिद्धयै स्वमतात् समुच्चय करिष्यते विप्रसिता दिहैकक ।।

१८ यक्षपाद प्रवरो मुनीना शमाय शास्त्रम् जगतो जगाद।कुतर्किकाज्ञाननिवृत्ति हेतु करिष्यते तस्य मया निबध। न्यायवार्त्तिक१/१ ।।

तृतीय अध्याय

वैदिक दर्शन में समान्य का विवेचन

तृतीय अध्याय

वैदिक दर्शन में सामान्य का विवेचन

अपाह सिद्धान्त का विवेचन करने वे पूर्व यह आवश्यक है कि दिङनाग के अपोह के पूर्ववर्ती आस्तिक एव नास्तिक दर्शनो द्वारा प्रतिपादित शब्द के सिद्धान्तो का विवेचन किया जाय। इतना ही नही बल्कि यह भी आवश्यक है कि दिङनाग के पूर्व प्रचलित हीनयान दर्शन शब्दो को लेकर जो वाद–विवाद हुए उनका भी सम्यक विवेचन किया जाय।

भारतीय दर्शन या वैदिक दर्शन मे सामान्य की समस्या की ओर दार्शनिको का ध्यान प्रारम्भिक समय मे ही हो गया था। प्रथम ऐतिहासिक काल अर्थात साख्य के आरम्भ के समय मे उन दो प्रमुख मतो को रखना चाहिए जिनके बीच बाद के समय मे विभिन्न सम्प्रदाय बॅटे थे। तत्कालीन समय हेतु एव फल के साथ–साथ सम्बन्ध एव विशेष के बीच एकत्व का सिद्धान्त भी अवश्य विकसित हुआ रहा होगा । हेतु एव फल के बीच विच्छेद एव सभी सत्ता के सूक्ष्म धर्मो मे विभक्त होने के साथ ही साथ प्रत्यक्षत सामान्य की अस्वीकृति के बौद्ध दर्शन भी विकसित हुआ रहा होगा। एक समय के पश्चात न्यायदर्शन एव वैशेषिक दर्शन मे समवाय का सिद्धान्त प्रारम्भ हुआ होगा। जिनके कारण विपछियो के आरोप प्रत्यारोप (खण्डन–मण्डन) से अधिक पुष्ट होकर यथार्थवाद अवस्थित हो गया जिनको दर्शन के इतिहास मे अद्वितीय घटना मानी जाती है। भारतीय दर्शन के तीसरे काल मे समाज की स्थितिया निम्न है–न्यायवैशेषिक का सर्वथा यथार्थवाद जो अन्य के अपेक्षावाद मे प्रकट होता है। जैन,मीमासा,साख्य सम्प्रदायो के उदार यथार्थवादी स्थित है। जो सम्भवत प्रारम्भिक मत को नष्ट करते है। बौद्ध सिद्धान्त जिसका एक समय पश्चात वेदान्तियो ने अनुसरण किया। कुछ आस्तिक सप्रदायो मे अतिरजित यथार्थवाद के सम्भवत परोक्ष कारण बौद्ध थे।

वैशेषिक सप्रदाय के सूत्र मे एक स्थान पर कहा गया है। सामान्य एव विशेष बुद्धयपेक्ष है।[1] इसके अयथार्थ के अर्थ मे सापेक्षत्व के रूप मे व्याख्यायित नही किया जा सकता इसका सबसे प्रमुख कारण यह हे कि इस सम्प्रदाय की सामान्य प्रवृत्ति अत्यन्त यथार्थवादी है। इसके अनुसार वस्तुए एक साथ अपेक्षित एव यथार्थ दोनो हो सकती है।[2] इस सूत्र का केवल यही अर्थ है कि सामान्यो के सामन्यता की विभिन्न मात्राए होती है। और ये मात्राए परस्पर सापेक्ष होती है। वैशेषिक सप्रदाय न

केवल समवाय अर्थात विशेष मे एक समान्य की व्यक्तिगत स्थिति[1] को ही मानता है। बल्कि एक दूसरे पदार्थ की स्थिति को भी स्वीकार करता

है। जिसे विशेष कहते है।[2] इसीलिए सभी वस्तुए एक ओर अन्य वस्तुओ के समान होती है। और दूसरी ओर अन्य वस्तुओ से अलग होती है। इसलिए यथार्थवाद प्रत्येक वस्तुमात्र मे इन दोनो ही अर्थात असमानता एव समानता दोनो की उपस्थिति मानता है। हर परमाणु एक विशिष्ट यथार्थता को आधार प्रदान करता है। जिसे विशेष कहा जाता है। जितने भी परमार्थ होते है। सभी मे सर्वगत यथार्थताए जैसे दिक, काल, आत्मा, आकाश ऐसे परम विशेष से युक्त होते है। जो उन्हे एक दूसरे से मिश्रित हो जाने से बचाता है। यह यथार्थ विशेष पृथक इकाइया होते है। जिनका इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष होता है। सर्वगत द्रव्यो एव परमाणुओ मे इन्हे समान्य मनुष्यो के चक्षुओ से नही देख सकते लेकिन योगि अपने चक्षुओ से इनको देख लेते है। क्योकि उनके पास इनको देखने की विशेष क्षमता होती है। यही यथार्थवाद की सीमा है।

---

१ – वैशेषिक सूत्र १,२,३,

२ – अपेक्षिको वास्तवश च कर्तृ – करणादि–व्यहार । तुकी० श्रीधर १६७ २६ ।

३ – सामान्यानि———————स्व विषय–सर्व–गताति ।

४ – प्रशस्त पृष्ठ ३२१, २ और बाद मे यह प्रश्न पूछा गया है कि प्रत्येक परमाणु मे एक विशेष की अतिरिक्तस्थिति के बिना भी योगि सभवत अपने असाधारण चक्षुओ मात्र से परमाणुओ के बीच भेद को देख सकते है।इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया गया है। वैशेषिक सू–१,२,५,६ के अनुसार सामान्य एव विशेष

सभी द्रव्यो, गुणो एव कर्मो मे स्थित होते है। किन्तु परम द्रव्यो मे क़ेवल विशेष ही स्थित होते है। प्रशस्तपाद के भाष्य मे ये परम विशेष ही बचे रहे है। वैशेषिक सप्रदाय नित्य सामान्यो के सर्वगतत्व की समस्या पर आपस मे सदैव विवाद करते रहे। इन का एक वर्ग यह मानता था कि ये वही उपस्थित होते है। जहा तदनुरूप विशेष होते है। दूसरा वर्ग यह स्वीकार करता था कि ये न केवल ऐसे ही स्थानो मे वरन् इनके बीच के व्यवधानो मे भी यद्यपि अप्रगट रूप से उपस्थित होते है।[5] प्रथम वर्ग के मत से प्रशस्तपाद सहमत थे। और इसी मत को इस सप्रदाय का अधिकारिक मत स्वीकार किया गया। बौद्ध मतो द्वारा सामान्यो की अस्वीकृति को दो कालो मे बाटा गया है प्रथम काल मे हीनयान काल मे निमित्त उद्‌ग्रहण, एकीकरण, सामान्यता और जाति नाम कल्पना को या तो चित्त सप्रयुक्त अथवा रूप चित्त विप्रयुक्त सस्कार माना जाता था। दूसरे काल मे नैययिको के समय मे सामान्यो को विकल्प माना जाता था और विशेषो की विषयात्मकता यथार्थता के साथ इनका विभेद किया गया।

इस प्रकार कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जो सामान्यत्व विरोधी प्रवृत्ति मे हीनयान बौद्धमत की बराबरी कर सके। सामान्य के अनुरूप को यहा पर 'सज्ञा'[6] शब्द से अभिहित किया गया। 'सज्ञा' शब्द व्याकरण के इसी नाम से समान ही है। लेकिन यहा इसे चैत्त (चित्त सप्रयुक्त–सस्कार) के नाम से जाना गया है। सर्वास्तिवादी इसे 'चित्त विप्रयुक्त सस्कार' मे बदल देता है।

---

५ – तुकी० न्यावि० और न्यायबिटी० पृष्ट ८२१८ और बाद अनुवाद २२५

६ – प्रशस्तिपाद पृष्ठ ३११,१४ तुकी० श्री धर पृष्ठ ३१२ २१।

७ – चित्त विप्रयुक्त सस्कारो मे निहित नाम 'सस्कार'

इस प्रकार यहा स्पष्ट है कि यहा जिसे 'सामान्यत्व' कहा गया है उसे विभेद की एक क्षमता में बदल दिया है। जाति को भी एक अलग शक्ति के रूप मे बदल दिया गया है जो कुछ ऐसी इकाइयो को सयुक्त करता है। जिनमे स्वय कुछ भी समान नही स्वीकार किया गया है।

इस विचार ने जाति नाम कल्पना के रूप मे जाति के दिङ नाग के वर्गीकरण मे बिल्कुल स्पष्ट है। यह एक वस्तु शून्य प्रज्ञप्तिवाद है। किन्तु ऐसा कि इसका विकल्प वासनावाद के साथ विभेद नही किया जा सकता क्योकि विकल्प स्वय नाम एक ही है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार कल्पना एवं शब्द प्रज्ञप्तिमात्र या नाममात्र है। यह जिस विषय प्रवृत्त वे भी कल्पना प्रसूत या अवस्तुविषयक होते है। न कि वस्तुसत। बौद्ध दर्शन मे जाति,धर्म, गुण एव द्रव्य,आदि असत् एव अलीक है।[9] इन सबका भौतिक जगत मे अस्तित्व नही होता। इसके विरूद्ध तैथिक दर्शन मे जाति,कर्म,द्रव्य,एव गुण आदि को परमार्थ स्वीकारते हुए इन्हे गो,चलति,दण्डी एव शक्ल का प्रवृत्ति निमित्त व्यक्त करता है। इनके अनुसार सभी शब्द अपने–अपने अर्थ का ज्ञान कराने के लिए प्रयुक्त होते है। हालाकि अर्थ ज्ञान शब्दपूर्वक ही होता है। शब्दो के उच्चारित होने पर जो अर्थ मालूम पडता है। वही शब्द का अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त अर्थ का लक्षण नही होता।[11] प्रवृत्ति निमित्त का बोध करने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। विभिन्न दर्शनो मे" 'प्रवृत्ति निमित्त' के स्वरूप को लेकर मतभेद पाया जाता है। मुख्यरूप से बौद्ध मत एव न्याय दर्शन के मध्य 'शव्दार्थ' को लेकर तीव्र मतभेद पाया जाता है।

---

८ – निकाय समागता = जाति। सर्वास्तवादियो ने इसका चित्त विप्रयुक्त सस्कार के रूप मे वर्गीकरण किया है।

९ – तुकी० ऊपर पृष्ठ २५७

१० – गुण द्रव्य क्रिया जाति समवायाधुपतिमि ।

शून्य भातो पिताकार शब्द प्रत्यय गोचरम् ।शास्त्री,द्वारिका दास – तत्व सग्रह पृ० –१

११ – यस्मि स्तूच्चरिते शब्दे यदा पोडर्थ प्रतीयते। तमा हुरर्थ तस्यैव नान्यदर्शस्य लक्षणम्। शर्मा रघुनाथ वाकपदीय का० ४३३०

भारतीय दर्शन मे सामान्य एव अवयवी का सिद्धान्त अपने ज्ञानमीमासीय एव तात्विक विश्लेषण मे अन्य दूसरे सिद्धान्तो को अपने अदर निहित कर लेता है। भारतीय दर्शन मे किसी भी समस्या के अनुशीलन मे और जितनी भी अन्य समस्याये है। सभी उसमे आत्मसात हो जाती है। न्याय वैशेषिक का बौद्ध दर्शन का विरोध इन्ही दोनो सिद्धान्तो को लेकर है।[१२] सामान्य की समस्या का विवेचन पाश्यचात्य दार्शनिको ने तीन प्रकार से किया है–

---

१२ – शास्त्री, धर्मेन्द्र नाथ – क्रिरिम आफ इडियन रियलिज्म भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी१६७६,पृष्ठ३०६ ।

वस्तुवाद सप्रत्ययवाद एव नामवाद।[13] वस्तुवाद के अनुसार सामान्य 'विशेष' से पृथक वस्तुसत है। तथा स्वत अस्तित्ववान होते हुए 'विशेष' से सम्बन्धित है। लेकिन 'सप्रत्ययवाद' मे सामान्य को केवल सप्रत्यय मात्र स्वीकार किया जाता है। जिसकी प्रतीति मनुष्य के बुद्धि मे होती है। नाममात्रवाद मे सामान्य की सत्ता का निराकरण करके केवल इसे नाममात्र या शब्दमात्र स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य नाममात्र की तुलना बौद्ध दर्शन के नाम प्रज्ञप्तिवाद या नाममात्रवाद से की जाती है। जबकि इन दोनो मे मौलिक रूप से पाश्चात्य नाममात्र तत्व–मीमासा का निराकरण का केवल निराकरण करता है। जबकि भारतीय दर्शन के बौद्ध नाममात्रवाद प्रमाण व्यवस्थावादी तत्वमीमासा का फल है। बौद्ध दर्शन अपने ज्ञानमीमासीय एव तत्वमीमासीय विश्लेषण मे 'सामान्य' को अभावमात्र या वस्तु शून्य प्रदर्शित करता है। जबकि पाश्चात्य दर्शन मे इसके विपरीत नाममात्र विश्लेषणवादी तर्कनिष्ठ भाववादी होने के कारण 'सप्रत्ययात्मक सामन्य' की भावात्मक भूमिका को बनाये रखना चाहता है।

भारतीय दर्शन मे न्याय वैशेषिक, वेदान्त, जैन दर्शन एव बौद्ध दर्शन मे 'सामान्य' की विवेचना भिन्न–भिन्न प्रकार से की गई है। न्याय–वैशेषिक एव मीमासा दर्शन वस्तुवाद को मानने के कारण सामान्य को नित्य, एव अनेक समवेत मानते है।[15]

१३– द्रविड राजाराम – दि प्राब्लम आफ युनिवर्सल इन इडियन फिलासफी, मोती लाल बनारसी दास दिल्ली १६७२, पृष्ठ २६८

१४– त्रिपाठी, सी० एल०–दि प्राब्लम आफ नालेज इन योगाचार बुद्धिज्म, भारत भारती वाराणसी, १६७२,पृष्ठ २६८

१५–"नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्।" विश्वनाथ पचानन–न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि चौखम्बा सस्कृत सीरीज १६५१, वाराणसी का० ८ ।

वेदान्त एव जैन दर्शन सप्रत्ययवादी विचारधारा मानने के कारण सामान्य को विशेष से अलग एव वरतुसत न मानकर व्यक्तियो मे ही अमूर्त रूप से पाया जाता है। इन दोनो विचारधाराओ से अलग बोद्ध दर्शन सामान्य' को केवल वस्तु शून्य विकल्प मात्र मानता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार सामान्य विकल्पात्मक होने के कारण अलीक है। और अनादि वासना से उद्भूत है।'

इस प्रकार यह दृष्टिगोचर होता है कि 'सामान्य' की समस्या ज्ञानमीमासीय, मनोवैज्ञानिक एव सत्तामीमासीय है।

न्याय–वैशेषिक के अनुसार सामान्य विचार

सामान्य रूप से विभिन्न वस्तुओ मे विद्यमान अनुगताकार प्रतीति को 'सामान्य' कहते है। जैसे – सभी गायो मे पाये जाने वाले समान धर्म 'गोत्व' सामान्य या जाति है। न्याय वैशेषिक दर्शन वस्तु वादी है। इनके वस्तुवदी होने के कारण ज्ञेयवस्तु को ज्ञान से स्वतत्र मानते है। यह जगत की सभी वस्तुओं को सात पदार्थ के अन्तर्गत मानते है। तथा 'सामान्य' को पृथक एव स्वतत्र पदार्थ के रूप मे स्वीकार करता हे। इनके अनुसार 'सामान्य' एक नित्य एव अनेक वस्तुओ मे समानरूप रूप से अनुगत होता है।'

१६–''वस्तुशून्य विकल्पा ------ विकल्प विषयो अलीक एवास्थेय। अनादि वासनाद्भूत विकल्पाधिष्ठान विकल्पाकारस्यवाअलीकस्य वा स्व अनुमानगोचरोऽम्युपेयम्।''वाचस्पति मिश्र---- तात्पर्य टीका विजयानगरम् सस्कृत सीरीज बनारस १६६६ पृष्ठ १२ ।

१७–''नित्यमेक मनेकानुगत सामान्य।'' शास्त्री कुप्पुस्वामी अन्नभट्टकृत तर्क सग्रह शास्त्री रिसर्च इन्स्टीटयूट मद्रास १६३२।

सामान्य के कारण ही अनुगतवृत्ति होता है। सामान्य न्याय दर्शन के अनुसार जाति है। क्योकि उसी के कारण समान आकार की प्रतीति होती है। जाति अनेक मनुष्यो मे समवेत एव नित्य होते हुए अनुवृत्ति प्रत्यय का आधार होती है। जाति ही अपने–अपने विषयो मे सर्वगत एव अभिन्नरूप से विद्यमान होती है।१८ न्याय दर्शन के अनुसार समान आकार प्रतीति उपाधि है। लेकिन विशेष मे समवाय सम्बन्ध से रहने पर यह 'सामान्य' कहलाता है। गुणत्व, कर्मत्व एव द्रव्यत्व जातिया हैं लेकिन अभावत्व, समानत्व, एव उपाधिया है। यह जातिया 'सामान्य' को जन्म देने वाली होती है।[१९] लेकिन सभी पदार्थो मे जाति नही पायी जाती न्याय वैशेषिक दार्शनिको का मानना है कि व्यक्ति अभेद, तुल्य, प्रसग, सकर, अनवस्था, रूपहानि, और असम्बृद्ध आदि इन स्थलो जाति का विचार नही पाया जाता है।

---

१८ – "भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव।"

'स्वविषय सर्वगत अभिन्नात्मक अनेकवृत्ति एक द्विबहुषु आत्मस्वरूपानुगम प्रत्ययकारि स्परूप भेदेन आधारेषु प्रबन्धेन वर्तमान अनुवृत्ति प्रत्ययकारणम्।"

द्विवेदी, पी० वी०–वैभाषिक सूत्र प्रशस्तिपाद भाष्य वी० एस० एस० वाराणसी १८६५ पृष्ठ ३११।

१६ – " समान प्रसवात्मिका जाति।" न्याय सूत्र २।२ ।७०

२० – व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सड् करोडथानवस्थिति ।रूपहानिर सम्बन्धी जाति बाधक सग्रह ।–वेदान्त तीर्थ नरेन्द्रचन्द्र– "किरणवली"एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता १६११, पृष्ठ १६१।

न्याय वैशेषिक दार्शनिको ने स्वीकार किया है कि प्रत्येक वस्तु मे सामान्य एव विशेष आकार पाया जाता हे। लेकिन 'वस्तु' को 'सामान्य' के आकार मे निर्दिष्टे किया जाता है। विशेष के रूप मे नही।[21] सामान्य पदार्थ की दृष्टि से विशेष रूप से पृथक एक भिन्न पदार्थ है। ऐसा मालूम पडता है कि न्याय वेशेषिक दर्शन मे 'अर्थ' एव 'पदार्थ' के मध्य भेद किया गया है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद द्रव्य, गुण एव कर्म को "अर्थ" के रूप मे मानते है। और सत्ता को इन्ही तीनो मे सत स्वीकार करते है। जबकि सामान्य विशेष एव समवाय को पदार्थ मानते हैं और इनको बुद्धय पेक्ष रूप मे सत कहते हैं। क्योकि यह शब्द द्वारा अभिव्यक्त होते है।[22] न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेष प्रत्यय एव सामान्य प्रत्यय अलग–अलग होते है। जैसे गाय एव गायो। सामान्य वस्तुए भी ज्ञान का विषय होती है। सामान्य 'गो' या 'गोत्व' विशेष 'गो' से एक अलग नाम है। इसीलिए सामान्य विशेष से भिन्न है। लेकिन सामान्य एव विशेष बिल्कुल भिन्न नही है। सामान्य एव विशेष के बीच समवाय सम्बन्ध पाया जाता है। दो वस्तुओ के मध्य अयुतसिद्ध सम्बन्ध को सम्बन्ध कहते है।[24]

---

२१ – 'सर्वस्व च वस्तुनो द्वौ आकारौ,सामान्याकारो विशेषाकाश्च, तत्र सामान्ये नैवाकरेणा भिधीयते न विशेषाकारेण।" न्यायवार्तिक कलकत्ता सस्कृत सीरीज, १९३६, पृष्ठ १३१

२२ – शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ–पूर्वोल्लिखित पृष्ठ ३१०–११।

२३ – द्रविड, राजा राम–पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १७ ।

२४ – अयुत सिद्धानाम आधार्या धारभूताना च सबन्ध इह प्रत्यय हेतु स समवाय। वैशेषिक सूत्र – ७।२।२६

द्रव्य–गुण, अवयव–अवयवी, सामान्य विशेष के मध्य समवाय सम्बन्ध पाया जाता है। इसीकारण 'प्रत्यक्ष' मे विशेष के साथ–साथ 'सामान्य' का भी प्रत्यक्ष होता है। व्यक्ति के बिना सामान्य का रफुरण नही होता है क्योकि जो सामग्री व्यक्ति के स्फुरण के लिए जरूरी होती है वही सामान्य के स्फुरण के लिए भी जरूरी होती है। वरतुत व्यक्ति के अभाव मे सामान्य का स्फुटाभास नही होता है।२५ प्रत्यक्ष अवरथा मे वस्तु नाम जाति आदि धर्मो से सपृक्त होकर प्रतीत होती है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन 'सामान्य' को 'पर' एव अपर के रूप मे मानते है।'अपर' की अपेक्षा 'पर' इन दोनो (अर्थात पर एव अपर) के मध्य 'परापर' 'सामान्य' को माना गया है जैसे–द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार वस्तु का सामान्य प्रत्यय 'सामान्य सत्ता'को दृष्टिगोचर करता है। क्योकि सामान्य सत्ता वस्तु का सामान्य गुण है। अत सामान्य नित्य एव वस्तु सत है। जबकि अनेकानुगत भी है। सामान्य नित्य होता है। जबकि मनुष्य पैदा होता है एव मृत्यु को प्राप्त करता है।

---

२५ – ''तरमात व्यक्ति ग्रहण योग्यतान्तरगतैव जाति ग्रहण योग्यतेति तदनुपलभ्भे जातेर नुपलभ्भेव।
''द्विवेदी, वि० प्र० – पूर्वोल्लिखित पृष्ठ ३१७।

मीमासा दर्शन के अनुसार सामान्य सिद्धान्त :

मीमासा दर्शन के अनुसार 'सामान्य' व्यक्तिओ से भिन्न वस्तुसत है। परन्तु सामान्य एव विशेष के मध्य समवाय सम्बन्ध नही पाया जाता, जिस प्रकार न्याय–वैशेषिक दर्शन मे पाया जाता है। न्याय–वैशेषिक एव मीमासा दर्शन मे समवाय सम्बन्ध के बारे मे मतभेद पाया जाता है आचार्य प्रभाकर जाति को व्यक्ति से भिन्न मानते है। सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान का गोचर होता है तथा पूर्व–पूर्व आकार के अवमर्श से प्रत्यक्षीभूत होता है।[26] इनके अनुसार सामान्य एव विशेष के मध्य मे समवाय सम्बन्ध होता है, जैसा कि न्याय वैशेषिक मानते है। लेकिन यह सम्बन्ध नित्य न होकर अनित्य होता है। सामान्य एवं व्यक्ति के बीच नित्य सम्बन्ध मानने पर व्यक्ति के अभाव मे भी सामान्य को स्वीकार करना पडेगा जबकि अनुभव इस प्रकार नही होता है। इस मत के विपरीत कुमारिल भट्ट सामान्य एव व्यक्ति के बीच समवाय सम्बन्ध का निराकरण करके मतभेद सम्बन्ध मानते है। जिसे स्वभाविक या तादात्म्य सम्बन्ध भी कहते है।[27] कुमारिल के अनुसार गोत्व सामान्य का 'गो' व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होता है क्योंकि 'गोत्व' 'गो' मे ही विद्यमान रहता है अन्य कही नही पाया जाता। यह तादात्म्य सामान्य के कारण हाता हे जिसे व्यक्ति प्रकट करता है।

२६– जाति राश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर ।पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकर गुरोर्मता।

–शास्त्री,सुब्रहमण्यम–'प्रकरण पजिका' बी० एच० यू० प्रकाशन१९६१, पृष्ठ ६४।

२७– स्वाभाविकश्च सम्बन्धो जाति व्यक्तियो हेतुमान।''राजा, के० –श्लोकवार्तिक मद्रास युनिवरर्सिटी प्रेस १९४६, आकृति ३१ ।

मीमासा दर्शन के अनुसार द्रव्य गुण कर्म मे अनुगत 'सामान्य' आकृति है और व्यक्ति विशेष है गो सम्बोधन करने पर 'सामान्य' का अहसास होता है तथा सख्या आदि के प्रयुक्त होने पर 'गो' से व्यक्ति का बोध होता है।[28] इसिलिए व्यक्ति असामान्य स्वरूप है तथा 'आकृति' वस्तु का सामान्य रूप है। लेकिन कुमारिल सर्वत्र जाति या सामान्य को ही अभ्युपगत स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार व्यक्ति को शब्द का प्रवृत्ति निमित्त मानने पर कई प्रकार के दोष आ जाते है।[29] सामान्य या जातिसत नित्य एव व्यापक है। जिसके आधार पर व्यक्ति को सामान्यीकृत किया जाता है।

---

२८ – "का पुनाराकृति का व्यक्ति। इति। द्रव्य गुण कर्मणा सामानयमात्रमाकृति असाधारण विशेषा व्यक्ति। कुत सशय। गो इत्युक्ते सामान्य–प्रत्यय व्यक्तौ च क्रिया सम्बन्धात्।" भट्टाचार्य, वी० स०–मीमासा दर्शन शबर भाष्य, कलकत्ता १८८३, सूत्र १३/३०

२९ – आनन्त्य–व्याभिचारस्य शक्त्य नकत्व दोषत। आकृते प्रथम ज्ञानात् तस्या एवाभिधेयता।। व्यक्रिया कृत्योर भेदाच्च व्यवहारोपयोगिता। लिड सख्या दिसम्बन्ध सामानाधिकरणाधी। सर्व समज्जस हयेतद् वस्त्वनेकान्तवादिन लक्षणा वाभ्युयेतव्या जातेत स्तेना भिधयता। सेगर, हरिसिह–––भारतीय अर्थविज्ञान,पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १५०

सामान्य या आकृति भिन्न–भिन्न पिण्डो मे सामान्य बुद्धि का उपपादन करती है।[30] लेकिन आचार्य कुमारिल भिन्न–भिन्न पिण्डो सामान्य एव विशेष दोनो को समाहित स्वीकार करते हैं जिनके आधार पर सामान्य एव विशेष का मान होता है। इनके अनुसार सामान्य एव विशेष दोनो एक दूसरे आश्रित है न तो व्यक्ति के बिना सामान्य होता है। न सामान्य के बिना व्यक्ति होता है। लेकिन व्यक्ति के अनत होने के कारण सामान्य का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नही होता है।

इस प्रकार सामान्य व्यक्ति से भिन्न होता है। सामान्य की सत्ता न मानने पर न तो अनुमान हो सकता है न शब्द ज्ञान हो सकता है।[31]

---

३० – जाति देवा कृति प्राह्न व्यक्तिरा क्रियतेऽनये।। सामान्य तच्च पिण्डानाम एक बुद्धि निबन्धम्।।
राजा० के०–––श्लोकवार्तिक पूर्वोल्लिखित का० ३

३१ – अनिष्यमाणे सामान्ये वृत्ति शब्दानुभानयो। न हि स्पान्न हि सम्बन्धो भेदैरानन्त ययो भवेत।।
पूर्वोक्त क० ३६

अद्वैतवेदांत के अनुसार सामान्य

अद्वैतवेदान्त दर्शन सामान्य की व्याख्या अनेकान्तवादी परिप्रेक्ष्य मे न करके केवल अद्वैत के परिप्रेक्ष्य मे करता है इसके अनुसार "ब्रह्म सत्य जगत्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर।" अर्थात केवल बह्म ही सत्य है। जगत या ससार केवल मिथ्या है। इसके अतिरिक्त कुछ नही है। इस प्रकार ब्रहम ही 'सामान्य या महा सामान्य है। लेकिन यह महा सामान्य न्याय वैशेषिक दर्शन की तरह अनेकानुगत नही है। क्योकि अद्वैत वेदात मे अनेक की कल्पना करना आत्म व्याघाती है। अद्वैत वेदात मे 'सामान्य' वस्तुसत न होकर सप्रत्यात्मक होता है। सप्रत्यय अनुगताकार वृत्ति का आधार है अत सामान्य अनुगत धर्म के अलावा कुछ और नही है। सामान्य "घटत्व" विशेष घट मे अनुगत धर्म है। अद्वैत वेदात वस्तुवादियो द्वारा स्वीकृति 'सामान्य' के खडन पर अधिक महत्व देता है। जबकि 'सामान्य' का प्रतिपादन करने मे उतना रूचि नही लेता।[32]

---

३२ – द्रविड, राजाराम------पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ १७६–८४ ।

पतंजलि एव भर्तृहरि के अनुसार स्फोटवाद :

स्फोट सिद्धान्त भारतीय दर्शन मे एक तात्विक सिद्धान्त के रूप मे शब्द, स्फोट एव अर्थ प्रत्यय के सम्बन्ध को निरूपित करता है। वस्तुत यह तीनो एक दूसरे से अलग न होकर आपस मे मिले रहते हे। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन व्याकरण दर्शन अर्थ बोध कराने मे असमर्थ तथा कालक्रम मे उच्चारित ध्वनियो से व्यतिरिक्त शब्द द्वारा अर्थ ज्ञान कराने के लिए करता है। लेकिन स्फोट का आदि एव अन्त ध्वनि से ही सम्बन्धित है। क्योकि बिना ध्वनि के इसको व्यक्त नही किया जा सकता। 'स्फोट' वाचक है। क्योकि इस शब्द से अर्थ निकलता है। वह स्फोट अर्थ प्रत्यायक होता है। अर्थात इससे अर्थ निकलता है। इसके अतिरिक्त स्फोट वर्णो से व्यक्त होता है। इस प्रकार हम देखते है कि स्फोट एक तरफ एक तत्व के रूप मे वर्ण से अभिव्यक्त होता है। दूसरी तरफ अर्थ प्रत्यायक होता है।

स्फोट के उद्भव एव प्रवर्तक को लेकर दार्शिनिको मे मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान वेद मे उल्लिखत 'प्रणव' की परिकल्पना को 'स्फोट' का स्रोत बिन्दु।[33] और पाणिनि द्वारा अनुरेखित महर्षि स्फोटायन को 'स्फोट' का सस्थापक या प्रर्वतक मानते है।[34]

---

३३ – चक्रवर्ती, पी० सी० दि फिलास्फी आफ सस्कृत ग्रामर, कलकत्ता युनिवर्सिटी कलकत्ता १६३०
पृष्ठ ८६ ।

३४ – द्विवेदी, कपिलदेव––––अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, पूर्वोल्लिखित पृष्ठ ३४६ –५०

यह सम्भावना की जाती है कि आचार्य व्याडि ने स्वकीय ग्रथ "सग्रह" मे शब्दार्थ से सम्बन्धित अनेक पक्षो का उल्लेख करने के साथ–साथ 'स्फोट' का उल्लेख किया है।[३५] लेकिन इस ग्रथ के अनुपलब्ध रहने के कारण इस सदर्भ मे यह निश्चित रूप से कुछ नही कह सकते। लेकिन 'स्फोट' का स्पष्ट रूप से वर्णन पतजलि द्वारा प्रणीत महाभाष्य मे मिलता है। जिसके आधार पर भर्तृहरि एव उनके परवर्ती वैयाकरणो ने इस सिद्धान्त को आगे बढया।

महर्षि पतजलि दो प्रकार की शब्दात्मा को मानते है। प्रथम नित्यात्मा द्वितीय कार्यात्मा। इनमे स्फोट नित्यात्मा है एव ध्वनि कार्यात्मा है। यहा 'स्फोट' एक शब्द है तथा ध्वनि शब्द का गुण होता है। स्फोट से ही अर्थ अभिव्यक्त होता है। स्फोट ध्वनियो से अभिव्यग होता है। और स्वय ध्वनिया इसकी अभिव्यजक या निमित्त होती है। महर्षि पतजलि स्फोट को अर्थ बोधक स्वीकार करते हैं इनके अनुसार शब्द द्रव्य,गुण,क्रिया,और आकृति से अलग है। क्योकि यह सभी शब्द प्रवृत्ति निमित्त है। शब्द वह है। जिनके उच्चारण से सप्रत्यय होता है। शब्द उच्चारित ध्वनि या वर्ण से पृथक है। जिसे स्फोट कहते है। स्फोट का क्रियाकारित्व अर्थ का अभिप्रकाशन है। यह स्फोट स्रोत से उपलब्ध होने पर भी बुद्धि निग्राहय होता है। 'गौ' का उच्चारण करने पर शब्द न तो सास्नालाड गूल आदि से समवेत वस्तु रूप होता है। न शरीर व्यापार द्वारा अभिप्रायो का अभिव्यक्तिकरण या चलना फिरना होता है। न शुक्ल, नील, कपिल, कपोल, होता है। और न सभी मे रहने वाली आकृति होता है जिससे इन सब का ज्ञान या प्रत्यय होता है। उसी को शब्द कहते है।

---

३५ – "द्वौ शब्दात्मानौ, नित्य कार्यश्च। कीलहर्न–––पूर्वोद्धधृत महाभाष्य भाग१,पृष्ठ ३

इस प्रकार महर्षि पतजलि ध्वनि से व्यतिरिक्त स्फोट के अर्थ प्रत्यायक रूप पर विशेष महत्व देते है उनके अनुसार ध्वनि स्फोट मे प्रवृत्ति होता है। और स्फोट अर्थ को अभिव्यक्त करता है।[1]

स्फोट के सदर्भ मे भर्तृहरि का दृष्टिकोण दार्शनिक एव व्याकरण परक दोनो है। इसीलिए उन्होने 'स्फोट' को द्विधा कहा है। जिसमे पहला तात्विक रूप है। तथा दूसरा शाब्दिक रूप है। तात्विक रूप से स्फोट परमतत्व या शब्द ब्रहम का समवर्ती है। जो प्रपचात्मक जगत का आधार होता है। जगत सवृत्तिसत्य ही जबकि 'स्फोट' परमार्थसत्य है। भर्तृहरि ब्रहम को शब्दतत्व केरुप मे स्वीकार करते है। साक्षात्कृत धर्मऋषि इसी नित्य एव परम का दर्शन मत्र रूप मे करते है। वेद को शब्द तत्व प्राप्ति का साधन माना गया है। ब्रह्म एव वाक मे तादात्म्य है। यही ब्रहम ही वैयाकरणिक विश्लेषण का आधार है। शब्द तत्व या वाक ही जीवन मे श्रुत या ध्वनि के रूप मे प्रतीत होता है।

---

३६ – अथ गौरित्यत्र क शब्द । कि यत्त्त सारनालाड् गूलक कुदर बुर विषाण्यर्थरूप स शब्द । नेत्याह। द्रव्य नाम तत्। यत्तार्हि तदिडि़ग त चेष्टित निर्मिषित मिति स शब्द नेत्याह। क्रिया नाम सा यत्तर्हि तच्छुक्लो नील कपिल कपोत इति स शब्द । नेत्याह गुणो नाम स । यत्तर्हितदि्भन्नेष्वभिन्न छिन्नेष्वाच्छिन्न सामान्यभूत, स शब्द । नेत्याह।आकृतिर्नाम सा कस्तर्हि शब्द । येनोच्चरितेन सारनालाड् गूलुकदखुर विषाणिना सप्रत्ययो भवति स शब्द । ''मिश्र, मधुसूदन प्रसाद–पूर्वोल्लिखित पृष्ठ ४ – ७।

विश्व की सभी वस्तुए शब्द से अनुबिद्ध है। यह सारा प्रपच शब्द का आकार है।[37] बुद्धि मे विद्यमान शब्द ही बाहय रूप प्रतीत होता है। वास्तव मे शब्दतत्व एक है एव नित्य है लेकिन नाद से सप्रृक्त होकर अनुभव मे अलग रूप से दिखाई देता है। नाद शब्द या बैखरीवाक है जो उच्चारित होकर वक्ता के विचार को श्रोता तक पहुँचाता है। वक्ता की बुद्धि मे रहने वाला शब्द या विचार मध्यमा वाक है। मध्यमा वाक के भी दो रूप होते हैं।

१ – विचार

२– शब्द

भर्तृहरि के दृष्टिकोण से योगी को साधना या जप करने की अवस्था मे मध्यमावाक का ही अनुभव होता है। यही मध्यमा वाक व्यक्त होने पर बैखरी का रूप ले लेता है। बैखरी वाक ही जिहवा ताल्वादि से ध्वनि के रूप मे उच्चारित होता है। भावो को अभिव्यक्त करने का मूल कारण मध्यमावाक है। यह मध्यमा वाक स्फोटात्मक होता है। क्योकि इसी से अर्थ निकलता है। स्फोट की तात्विकता वैयाकरणो के अनुसार अर्थज्ञान मे है।

---

३७ – अनादि निधन ब्रहम शब्दतत्व यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभवेत प्रक्रिया जगतो यत.।

शुक्ल,राम गोविन्द––पूर्वोल्लिखित पृष्ठ २

बैखरी एव मध्यमावाक से भिन्न पश्यन्ति और परावाक है।[38] जिसको योगियो ने सप्रज्ञात एव असप्रज्ञात कहा है। क्योकि परावाक की अनुभूति असप्रज्ञाप्ति समाधि मे होती है। और पश्यन्तिवाक की अनुभूति सप्रज्ञात समाधि की अवस्था मे होती है। परावाक् को जगत या ब्रम्हाण्ड का आधार कहा गया है। जिसे व्याकरणचार्यो ने 'अनादिनिधन' कहा है। इसलिए स्फोट ही अनादि निधन तत्व है जो परमार्थ सत्य के रूप मे या अविभाज्य रूप मे शब्द ब्रहम या ब्रहम है।

तात्विक दृष्टिकोण से 'ब्रहम' शब्दतत्व एव अक्षर है। यह जगत शब्द का परिणाम या विवर्त है। लेकिन कोई भी मनुष्य अपने साधारण जीवन मे न इसे उच्चारित करता है न इसको सुनता है।[39] इसीलिए भर्तृहरि शाब्दिक दृष्टिकोण से 'स्फोट' को नाद या ध्वनि द्वारा उच्चार्यमाण एव श्रूयमाण मानते है। इस दृष्टि से स्फोट का सम्बन्ध नाद या ध्वनि से है।

---

३८ – वेखर्यामध्यमा याश्च पश्यन्त्याश्चैतददद्भुतम। अनेकतीर्थ भेदायारत्रम् या वाच पर पदम।।

पूर्वोक्त पृष्ठ १५०

३६ – अनादि निधन ब्रहम शब्दतत्व यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ।।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नाथ विदो विदु। छन्दोभ्य एव प्रथमयेत दिश्व व्यवर्तत।। पूर्वोक्त २ पृष्ठ १२५

शाब्दिक दृष्टिकोण के अनुसार उपादान शब्द मे दो तत्व होते है–१ ध्वनि २ स्फोट।[40] स्फोट शब्द का अर्थ प्रत्यायक रूप होता है। एव ध्वनि शब्द का निमित्त रूप होता है। स्फोट नाद से अलग होने के कारण बुद्धिस्थ है। श्रोत्रेन्द्रियो से जो शब्द सुनाई पडता है उसको नाद कहते हैं। नाद के माध्यम से ही स्फोट अभिव्यक्त होता है। स्फोट अर्थात्मारूप है क्योकि यह अर्थ का वाचक है। 'रस' एव 'सर' दोनो शब्दो के ध्वनिरूप एक है। फिर भी स्फोट के कारण अलग –अलग अर्थ प्रदान करते है। भर्तृहरि के अनुसार जिस प्रकार ज्ञान मे आत्मरूप से विद्यमान ज्ञेय वाहय रूप से प्रतीत होता है। उसी प्रकार शब्द मे विद्यमान अर्थरूपता अपने आप प्रकाशित होती है।[41] अर्थात स्फोट का अर्थ सरल होता है। स्फोट या शब्द मे अर्थ को प्रदान करने की क्षमता दीपके की तरह स्वत रहती है। इस प्रकार स्फोट अर्थज्ञान कराता है।

शब्द या स्फोट पहले की सभी ध्वनियो की आवृत्ति के बल से बुद्धि मे अवधारित होता है। इस अर्थ मे यह वर्ण या ध्वनि से अलग होता है। लेकिन ध्वनि द्वारा निरूपित शब्द मे ही स्फोट स्वरूप ग्रहण करता है।

---

४० –द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदु । एको निमित्त शब्दानामतोऽर्थे प्रयुज्यते।

४१ –आत्मरूप यथा ज्ञाने ज्ञेय रूप च दृश्यते। अर्थरूप तथा शब्दे स्वरूप च प्रकाशते।। पूर्वोक्त ६७

स्फोटात्मक बुद्धि सस्कारात्मक होती है।[42] यह पद,वर्ण एव वाक्य रूप वस्तुत होती है। वैयाकरणो मे पद,वर्ण एव वाक्य के स्फोटात्मक स्वरूप को लेकर विरोध दिखाई पडता है। महर्षि पतजलि वाक्य एव पद के साथ–साथ वर्ण को भी स्फोटात्मक मानते है।[43] भर्तृहरि भी वर्ण को प्रतिपादक एव पद एव वाक्य को अन्वाख्येय शब्द कहते हुए वर्ण,पद,एव वाक्य को मानते हैं। इस सदर्भ मे भर्तृहरि दो प्रकार की परपरा बताते है। पहली परपरा के अनुसार वर्ण नित्य है पद एव वाक्य अनित्य है। द्रितीय परपरा मे वाक्य को सत्य मानते है। तथा वर्ण एव पद को असत्य माना जाता है। व्याकरण मे जहा एक दृष्टिकोण मुख्य होता है।वही दूसरा दृष्टिकोण गौण होता है। वाक्यवादी या पद के लिए वाक्य या पद मुख्यरूप से सत्य होता है। जबकि वर्णवादी के लिए वर्ण मुख्य रूप से सत्य होता है। और पद या वाक्य गौण होता है।[44] मीमासा दर्शन मे वर्ण को नित्य माना जाता है। उनके अनुसार वर्ण सदैव एक तरह रहता है। इसीलिए वर्ण से भिन्न पद एव पद से भिन्न वाक्य की सत्ता नही है।

---

४२ – प्रत्ययेरनुपाख्येयैग्रर्हणानु गुणैस्तथा, ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमर्वधार्यते। नादैता हित बीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तपरिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते।–पूर्वोक्त पृष्ठ६७

४३ – राजा के० के०–––पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १०२–१०३

४४ – अपोद्धार पदार्थो ये ये चार्थो स्थित लक्षणा। अन्वाख्येयाश्चयेशब्दायेचापि प्रतिपादका। –पूर्वोक्त,ब्रहमकाड।२४

४५ – भिन्न दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते। तत्र यन्मुख्यमेकषा तत्रान्येषा विपर्यय। पूर्वोक्त, ब्रहमकाड।७४

अर्थात वर्ण ही पद या वाक्य है।[46] इसके विपरीत भर्तृहरि का कहना है कि वाक्य से भिन्न पद एव वर्ण की सत्ता नही होती है। पद मे वर्ण नही होते, वर्ण मे अवयव नही होते एव वाक्य से भिन्न पद नही होता। वाक्य ही एक नित्य एव सत्य होता है। वाक्य वर्ण एव पद आरोपित होते है।

वैयाकरणो का मानना है कि पद,वाक्य एव वर्ण ध्वनियो द्वारा श्रोत ग्राहय होने के साथ–साथ बद्धि ग्राहय रूप मे तीनो स्फोटात्मक है। अनुभव मे शब्द वर्ण के रूप मे उच्चारित होकर श्रोता द्वारा ग्रहण किया जाता है।वर्ण से पद, पद से वाक्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसीलिए पद,स्फोट, वर्ण स्फोट, एव वाक्यस्फोट तीनो अलग–अलग है। भर्तृहरि ने इन तीनो का वर्गीकरण ध्वनि के आधार पर किया है। लेकिन भर्तृहरि अद्वैत्यवादी होने के कारण वर्ण स्फोट एव पद स्फोट को वाक्य स्फोट की प्रतीति मे उपाय मानते है। भर्तृहरि के अनुसार पहले वर्ण और पद भाग वाली बुद्धि प्रवृत्त होती है।

---

४६ – पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्व न निवर्तते। वाक्येषु पदमेक च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते।।

न वर्ण व्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते। वाक्य वर्ण पदाभ्या च व्यतिरिक्त न किचन।।

पूर्वोक्त ब्रह्मकाड।७१,७२

४७ – पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च। वाक्यात्पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन।।

पूर्वोक्त पृष्ठ ८१

तब वाक्यात्मक स्फोट का ज्ञान होता है।[48] इस वाक्य स्फोट से अर्थ पूरी तरह व्यक्त होता है। लेकिन कभी–कभी वर्ण एव पद से भी अर्थ अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार वैयाकरण ध्वनि से अलग पद, वर्ण एव वाक्य स्फोट को मानते है।

स्फोटवाद का प्रभाव :

अभिधार्मिक दर्शन शब्द के द्विस्तरीय स्वभाव का ऊहापोह करते हुए अन्त मे शब्द के एक तात्विक आधार को मानता है। वैयाकरण शब्द के दो रूप मानते है। पहला 'स्वरूप' है। दूसरा 'अर्थरूप' है। शब्द केवल अर्थ को ही नही व्यक्त करता बल्कि अपने स्वरूप को भी व्यक्त करता है। जैसे–ज्ञान अपने ज्ञेय रूप एव अपने आत्मरूप दोनो को अभिव्यक्त करता है। शब्द अपने को अलग तात्विक रूप का इगित करता है। यह अपने आप मे कोई आत्म निर्धारक या आत्म बद्ध सत्ता नही है। शब्द अपने को अभिव्यक्त करता है। एव उस वस्तु को भी अभिव्यक्त करता है। जिसके लिए वह प्रयोग मे लाया जाता है। भर्तृहरि शब्द के इस रूप को इस प्रकार बताते है, "जिस प्रकार तेज या प्रकाश मे ग्राहय या ग्राहक शक्ति होती है। उसी प्रकार शब्दो मे भी स्वरूप एव अर्थरूप प्रकाशित करने की शक्ति होती है।"[49] शब्द वाचक एव वाक्य दोनो से उपेत होता है।शब्द मे प्रतिपाद्य शक्ति एव प्रतिपादक नित्य रूप से अलग दिखाई पडते है।

---

४८ – असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते। प्रतिपत्तुरशक्ति सा ग्रहणोपाय एव स ।
यथा द्यसख्या ग्रहण मुपाय प्रतियत्तये। सख्यान्तराणा भेदेऽपि तया शब्दान्तर श्रुति । व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्ति हेतुभि । भागावग्रहरूपेण पूर्व बुद्धि प्रवर्तते।।
पूर्वोक्त, पृष्ठ ६६,१००,१०२।

४९ – आत्मरूप यथाज्ञाने ज्ञेयरूप च दृश्यते। अर्थरूप तथा शब्दे स्वरूप च प्रकाशते।
ग्राह्यत्व ग्राहकत्व च हे शक्ति तेजसो यथा। तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते।
शुक्ल, राम, गोविन्द–––पूर्वोल्लिखित पृ० ६७,७० ।

आभिधार्मिको के अनुसार शब्द का द्रिस्तरीय स्वभाव जेरो – 'स्वरूप' एव 'अर्थरूप' क्षणिक एव उत्पत्ति विनाशशील शब्द मे न होकर वाक या घोष से उत्पन्न एव व्यतिरिक्त 'नामनिमित्त' मे होता है। शब्द अपने स्वरूप को प्रवर्तित करता है। एव भक्ति कल्पनया "अर्थरूप" को व्यक्त करता है।[50] शब्द स्वय अर्थ का वाचक नही होता। वैयाकरणो के दृष्टिकोण से शब्द 'स्फोट' रूप मे वर्ण से व्यतिरिक्त एव वर्ण से अभिव्यग तथा अर्थ प्रत्यायक होने के कारण नित्य तत्व है। अभिधर्म दर्शन नाम निमित्त तीनो काल मे अस्तित्ववान अनित्य तथा चित्त विप्रयुक्त धर्म है। इस चित्त विप्रयुक्त धर्म का उद्भव व्या करण दर्शन के प्रभाव से सर्वास्तिवादी अभिधर्म मे प्रथम बार हुआ है। चित्त विप्रयुक्त धर्म को मान लेने के कारण ही थेरवाद 'अभिधर्म' महाविभाषाशास्त्र या ज्ञान प्रस्थान विभाषाशास्त्र से अलग हो जाता है। इस रूप मे अभिधर्म बौद्ध दर्शन व्याकरण दर्शन से आतरिक रूप से मिला हुआ है। तथाकथित शब्द का द्विस्तरीय विवेचन एक ओर वर्ण पद वाक्य विस्फोट के रूप मे हुआ तथा दूसरी ओर व्यजन नाम पदकाय के रूप मे दोनो मे अभिव्यक्त हुआ।इसलिये व्याकरण दर्शन का शब्दार्थ विषयक दृष्टिकोण अभिधर्म दर्शन को किस प्रकार प्रभावित करता है। इसको जानना आवश्यक है।

गौतम बुद्ध के काल मे तीन प्रकार की विचारधाराए प्रचलित थी।[51] पहली विचारधारा के अनुसार मनुष्य को यज्ञ आदि कर्म के द्वारा मनोवाछित फल प्राप्त होता है। दूसरी विचारधारा मे ब्रहम या आत्मा अभिन्न है। तथा नाम रूपात्मक जगत माया है। ब्रहम या आत्मा ही सत्य है। तीसरी विचारधारा के अनुसार सत्य नाम की कोई वस्तु नही होती है। न कोई नियम है। न कोई नियामक है।

---

५० – स्वरूप वेदयशच्छब्दो व्यञ्जनादीनि चध्रुवम ।अर्थप्रत्यायक प्राज्ञैर्भक्तिकल्पनयोच्यते।

जैनी, पी० एस०–अभिधर्मदीप– के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना १९५९,पृ० १११।

५१ – दास गुप्त, एस० एन० – भारतीय दर्शन का इतिहास भाग राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, १९७८,पृ० ८४ १७७

बुद्ध ने इन सभी विचारधाराओ को अप्रसगिक कहा और इसके स्थान पर नवीन विचारधारा प्रतिपादित किया। बुद्ध ने पुद्गल या आत्मा–अस्ति के स्थान पर सर्वम् अस्ति को स्थापित किया उनके अनुसार धर्मसत है। इसलिए धर्म का अस्तित्व है। बुद्ध ने वैदिक ऋत की धारणा को प्रकारान्तर से धर्म के रूप मे विवेचित किया। इस प्रकार धर्म या अभिधर्म वेदोपनिषदिक विचारो का विरोधात्मक रूप है। बुद्ध की प्राचीनतम उपदेशात्मक औपनिषदिक है। न कि अभिधार्मिक है। उन्होंने औपनिषदिक तत्व या ब्रहम की धारणा को 'धर्म' के रूप मे विवेचित किया।[52] अभिधर्म या महाविभाषा की तत्कालीन विचारको एव दर्शनो जैसे – साख्य, योग, दर्शन,न्याय – वैशेषिक दर्शन तथा मीमासा दर्शन के साथ किये गये विचार विमर्श का फल है। इन दर्शनो के प्रभाव से अभिधार्मिक दर्शन का उद्भव ही नही हुआ बल्कि इन दर्शनो के अनेक सिद्धान्तो एव विषयो को उसमे जोडा गया। जिसके परिणामस्वरूप वैभासिक जैसे अभिधार्मिको को नवीन धर्मो की अभिकल्पना करनी पडी और इन धर्मो को चित्त विप्रयुक्त सस्कार के अन्तर्गत रखना पडा। चित्त विप्रयुक्त सस्कार मे पदकाय, नामकाय,एव व्यजनकाय का तात्विक रूप मे पृथक भूत के रूप मे माना गया है।

वैसे अभिधर्मिको का 'नामनिमित्त' सिद्धान्त विभिन्न दर्शन सप्रदायो के अन्तर्गत अनेक विचारको द्वारा शब्दार्थ समस्या के समाधान मे किये गये विभिन्न प्रयासो का चरमोत्कर्ष है। शब्द एव अर्थ के वास्तविक स्वरूप के बारे मे एक नए दृष्टिकोण के गठन मे मीमासा सूत्र, शबर भाष्य, न्याय सूत्र, वात्स्यायन भाष्य एव योगसूत्र व्यास भाष्य के साथ–साथ या मुख्य रूप से प्राचीन वेयाकरण दार्शिनिको ने अभिधार्मिक दर्शन को प्रभावित किया इसीलिए यह कथन युक्ति सगत नही है कि बौद्ध दर्शन कि बौद्ध दर्शन का प्रभाव का व्याकरण दर्शन पर पडा।[53] यह भी नही कहा जा सकता कि 'नाम निमित्त विषयक सिद्धान्त का 'उद्भव पालि अभिधम्म' मे विवेचित 'नाम पञ्ञति' से हुआ। नाम प्रज्ञप्ति एव अर्थ प्रज्ञप्ति दोनो प्रज्ञप्ति सट या काल्पनिक है। यह द्रव्यसत या तात्विक नही है। ये व्यवहारमात्र, सज्ञामात्र या नाममात्र होती है। जब कि वेभाषिक नाम निमित्त को वस्तुसत या द्रव्यसत मानता है। और रूप स्कन्ध के अन्तर्गत परिगणित न करके सस्कार स्कन्ध मे बदल देता है। स्थविरवाद मे 'नाम प्रज्ञप्ति' वाक स्वभाव है। न कि नाम स्वभाव।

---

५२ – नाकामुरा हाजिमे–पूर्वोल्लिखित पृ० ६५

५३ – राजा, क० के -- पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १०६

जब कि अभिधार्मिक दर्शन नाम निमित्त को शब्द से व्यतिरिक्त नाम स्वभाव मानता है। नामस्वभाव व वाक स्वभाव का प्रमुख आधार बुद्ध वचन का स्वरूप है। लेकिन थेरवाद बुद्धवचन के स्वरूप को लेकर नाम स्वभाव एव वाक स्वभाव के बीच उठे विवाद का जिक्र तक नही करता है। अभिधार्मिको मे पहले शब्द के वाक स्वभाव एव नाम स्वभाव का उल्लेख प्राचीन वैयाकरणो के शब्द के द्रिस्तरीय स्वभाव के प्रभाव के कारण हुआ। महात्मा बुद्ध के बारे मे विदित है कि वह स्वय वेद की प्रामाणिकता का निराकरण करके श्रुति के स्थान पर अनुभव को ज्ञान का एक मात्र श्रोत माना था लेकिन मीमासको विशेषकर व्याकरणो के प्रभाव मे महात्मा बुद्ध को सर्वज्ञ, बुद्ध वचन को अपौरूषय तथा बुद्ध को प्रमाण माना गया है।

व्याकरण दर्शन स्फोट को अर्थ प्रतिपादक एव ध्वनि को शब्द का निमित्त मानता है। उपादान शब्द के दो रूप है कार्य एव नित्य। कार्य ध्वनि है एव नित्य स्फोट है। स्फोट व्यग है। और ध्वनि व्यजक है। ध्वनि से व्यग स्फोट ही अर्थ प्रत्यापक होता है। व्याकरण के अनुसार अर्थ निमित्तक ही शब्द होता है न कि शब्द निमित्तक।[54] अर्थ निमित्तक शब्द वर्ण मात्र या ध्वनि मात्र वर्णातिरिक्त होता है। वर्ण ध्वनि अर्थ प्रत्यापन कराने मे समर्थ नही होता है। इस प्रकार वैयाकरण 'स्फोट' को वास्तविक शब्द के रूप मे प्रतिपादित करते हुए क्रमश वर्ण, पद एव वाक्य को स्फोटात्मक रूप मे मानता है।

अभिधार्मिक वाक्य या घोष एव नाम निमित्त के बीच भेद करता है। नाम निमित्त वाकया घोष के अधीन जन्म लेता है।[55]

---

५४ – 'युक्ता पुनर्यत्छब्दनिमित्तको नामार्थ स्यात्, नार्थ निमित्तकेन नाम शब्देन भवित व्यम। अर्थानिमित्तक एव शब्द।'' झा, रूद्रधर -----पूर्वोल्लिखित सूत्र १/१४५

५५ – वाक शब्दाधीन जन्मान स्वार्थ प्रत्यापन किया। सज्ञाद्य परणामानरस्त्रयो नामादय स्मृता ।।
जैनी पी० एस० – पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १०८

नाम निमित्त नाम स्वभाव है तथा वाक् या घोष रूप स्वभाव है। नाम–निमित्त एक प्रकार का सस्कार है जो तीनो काल मे वस्तु सत है। नाम निमित्त की वाक या घोष से पृथक तात्विक सत्ता है। नाम निमित्त ही अर्थबोध या अर्थ प्रत्यायक होता है। घोष या वाक नाम – निमित्त मे प्रवृत्ति होता है। ओर नाम अर्थ को रेखांकित करता है। इसीलिए शब्द का अर्थ विषय नही होता है।

लेकिन जहा शब्दार्थ विषयक विवेचन मे अभिधर्म दर्शन एव व्याकरण दर्शन मे समानता है। वही उसमे विरोध भी है। वैयाकरण शब्द को नित्य मानता है। वैयाकरण के अनुसार शब्द से व्यतिरिक्त ओर अर्थप्रत्यापक 'स्फोट' नित्य होता है। स्फोट बुद्धिनिर्ग्राहय है। क्योकि नाद से अनुसहृत होता है। अभिधर्मदर्शन के अनुसार लोक मे जो प्रतीत पदार्थ होता है। वह शब्द होता है।[५६] इस दृष्टि कोण से स्फोट' भी शब्द है। शब्द से अर्थ का प्रत्यायन नही होता है। वैयाकरणो द्वारा स्वीकृत बुद्धि निर्ग्राहय शब्द भी श्रोतेन्द्रिय का विषय नही होता है।[५७] शब्द या ध्वनि से अलग नामकाय आदि ही अर्थ प्रत्यापक होते है क्योकि ये स्वार्थ विषयक होते है।[५८] ये नामकायदि नित्य न होकर अनित्य होते है। क्योकि ये घोष आदि हेतु की अपेक्षा से उत्पन्न होकर अर्थ के प्रत्यायक होते है।[५९]

५६– तस्मात् प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनि शब्द । १–पूर्वोक्त पृष्ठ११३

५७–स्फोटाख्योनापरोघोषाच्छब्दोनित्य प्रसिद्धयाति।

क्रमवृत्तेन शब्देन कश्चिदर्थोऽमिधीयते।।–पूर्वोक्त पृष्ठ११२

५८–'ततश्चान्ये नामादय सर्वाथ विषया इति स्थापना।'' पूर्वोक्त पृष्ठ ११३ ५६ – अन्ये नामादय शब्दादप्राप्तार्थ प्रकाशनात। अनित्यास्ते तु विज्ञेया सापेक्षार्थ विभावनात्।। पूर्वोक्त पृष्ठ ११० १११

आभिधार्मिक दर्शन नाम–निमित्त को अर्थवान मानता है। उसके अनुसार नाम निमित्त सवार्थ विषयक होते है। अथवा नाम निमित्त वस्तु स्वभाव को प्रतिपादित करता है। नाम निमित्त विधि रूप मे अपने विषय को व्यम्त करता है। क्योकि नाम निमित्त एव अर्थ के मध्य नियत सम्बन्ध होता है। नियत सम्बन्ध भी सकेताधारित होकर अर्थ का प्रत्यायन करता है। वैसे अभिधार्मिको के पहले वैयाकरणो ने शब्द एव अर्थ के बीच नित्य एव स्वभाविक सम्बन्ध का उल्लेख किया है। महर्षि पतजलि के अनुसार नियत विषयक या 'सर्वार्थवाचक' होते है। सकेत से केवल शब्द एव अर्थ के बीच विद्यमान योग्यता सबन्ध प्रकाशित होता है।[1] भर्तृहरि भी 'सर्वे सर्वार्थवाचक' के माध्यम से यह मानत है कि पूर्णयोगी को योग्यता के आधार पर शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। लेकिन साधारण व्यक्ति को समय या सकेत के आधार पर सकेत का ज्ञान होता है। इसलिए सकेत सबन्ध व्यर्थ नही होता है। इसलिए सभी शब्द सभी अर्थ के वाचक होते है। शब्द एव अर्थ के मध्य नियत सबन्ध होता है।

---

६० – प्रतिद्योत्य यथायोग नियतानियताश्च ते। नियतोद्भावनाद् बुद्ध सर्वज्ञ इति गम्यते।। पूर्वोक्त पृष्ठ ११३

६१ – झा, रूद्रधर-----पतजलि महाभाष्य, पूर्वोल्लिखित सूत्र १/१/१

६२ – शर्मा,वीरेन्द्र–वाक्य पदीय सम्बन्ध सुद्देश, विश्वेश्वरानन्द–विश्वबधु,सस्कृत भारती शोध सस्थान, होशियारपुर,१९७७,पृष्ठ १६४–१६७ ।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आभिधार्मिक दर्शन मे नाम निमित्त सिद्धान्त का विकास व्याकरण दर्शन के रूप मे हुआ। वैयाकरणो द्वारा प्रदत्त विधि और तर्क के आधार पर वैभाषिको ने शब्द एव अर्थ के सम्बन्ध मे बौद्ध प्रस्थान से नितात भिन्न एक ऐसे सिद्धान्त का विवेचन किया जो उसे व्याकरण एव तैथिक दर्शन के नजदीक ला देता है। जिसके कारण सौत्रान्तिक दर्शन को बाध्य हो कर इस सिद्धान्त का निराकरण करना पडा। वैसे नाम स्वभाव एव वाक स्वभाव का भेद, नाम निमित्त एव शब्द का भेद, शब्द का 'अर्थ रूप' एव 'स्वरूप' भेद एव शब्द का नियत एव अनियत भेद इत्यादि स्पष्टत वैयाकरणो द्वारा स्वीकृत शब्द के द्विस्तरीय स्वभाव का रूपान्तरण है। इसीलिए कहते है कि आभिधार्मिक दर्शन पर व्याकरण दर्शन का प्रभाव पडा है।

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन बौद्ध दर्शन में शब्दार्थ विवेचन

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन बौद्ध दर्शन मे शब्दार्थ विवेचन

भारतीय दर्शन मे शब्द एव ध्वनि वाक के मध्य मौलिक भेद माना गया है। ध्वनि परमाणु रूप होती है। जो प्रत्येक क्षण उच्चरित होकर उत्पन्न एव विनष्ट होती है। इसी अनित्य ध्वनिवाक से पद बनता है। पद से वाक्य जो अर्थ को व्यक्त करता है। लेकिन तार्किक दृष्टि से क्षण प्रतिभासी एव उत्पत्ति विनाशशील वाक का सघात अथवा सचय सभव नही होता है। अत ध्वनि या वाक से पद एव वाक की उद्भावना का विचार युक्ति पूर्वक नही कहा जा सकता। ध्वनि एव शब्द के मध्य किसी प्रकार का सबन्ध भी स्थिर नही होता है। शब्द एव ध्वनि के बीच सम्बन्ध के स्वरूप को लेकर मीमासा दर्शन एव न्याय वेशेषिक और व्याकरण दर्शन के मध्य विरोध पाया जाता है। न्याय दर्शन अनित्य ध्वनि से सस्कार रूप मे प्राप्त 'शब्द' से एव मीमासा दर्शन वाक से अभिव्यग्य नित्य वर्ण रूप 'शब्द' से अर्थबोध को मानते है जबकि व्याकरण दर्शन वाक से अभिव्यक्त एव व्यतिरिक्त एक, निष्क्रम तथा निर्भागसत्ता रूपी शब्द से अर्थावबोध को मानता है। वेसे इन दोनो के मध्य मतभेद 'शब्द' के श्रोत्रगाहय' एव अर्थप्रत्यायक स्वरूप को लेकर है। तैथिक दर्शन 'शब्द' को केवल 'श्रोत्रगाहय' मानता है। लेकिन व्याकरण दर्शन 'शब्द' को अर्थप्रत्यायक स्वीकार करता है। व्याकरण दर्शन एव तैथिक दर्शन शब्द स्वरूप को लेकर अलग–अलग सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते है। व्याकरण दर्शन मे शब्द स्वरूप के सदर्भ मे 'स्फोट' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जब कि बौद्ध दर्शन म आभिधार्मिक दर्शन 'स्फोट' सिद्धान्त का खडन करता है। लेकिन वैयाकरणो के प्रभाव के कारण शब्द के द्विस्तरीय स्वभाव को मान लेता है।

शब्द के द्विस्तरीय स्वभाव के सदर्भ मे बौद्ध दर्शन के थेरवाद, वैभाषिक और सौत्रान्तिक सप्रदायो के मध्य भी मतभेद है। लेकिन इस मतभेद का स्वरूप तैथिक दर्शनो से अलग है शब्द या ध्वनि वाक स्वरूप है या सस्कार रूप है। शब्द प्रज्ञाप्ति सत अथवा द्रव्य सत् है। शब्द से व्यक्त अर्थ द्रव्यसत है या प्रज्ञप्ति मात्र है। शब्द से अर्थ बोध की प्रक्रिया तात्विक या मनोचेतनात्मक है। इन सभी मतभेदो का समाधान थेरवाद, वैभाषिक एव सौत्रान्तिक दर्शनो अपने–अपने प्रस्थान के अनुरूप किया है। दिङनाग के पूर्व बौद्ध दर्शन मे शब्दार्थ से सम्बन्धित समस्याओ को विवेचन नही मिलता है। जबकि दिङ्नाग के पूर्व शब्दार्थ बोध एव शब्दार्थ सिद्धान्त का अपोह सिद्धान्त की उत्पत्ति एव कल्पना म विशेष महत्व है। जिसे भूला नही जा सकता। बौद्ध दर्शन मे नाम निमित्तवाद, नाम

नाम को उत्पन्न करता है। गाथा नाम से उत्पन्न होता है। गाथा अर्थ को प्रकाशित करती है। पृथ्वी, समुद्र, आदि नामो से सनिश्रितगाथा होती है।[3] यहा विचार करने के योग्य यह है कि वैभाषिक दर्शन की तरह थरवादी दर्शन शब्दार्थ विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय सूत्र या देशना का विवेचना नही करता हे। जहा बाद के दर्शन मे समरत शब्दार्थविषयक चितन को रूप स्कध के अन्तर्गत विवेचित करते हुए नाम एव अर्थ दोनो प्रज्ञप्तिसत धर्म के रूप मे माना गया गया है। वही पर वैभासिक दर्शन मे शास्त्र एव आगम को उद्धृत करते हुए नामकायादि चिता को सस्कार के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। नाम पद व्यजनकाय प्रज्ञप्तिसत धर्म न होकर द्रव्यसत है। ऐसा वैभाषिक मानते है।

---

३ " नाम सन्निश्रिता गाथा गाथाना कविराश्रय।

४ – विपञ्जनाति जानानम् अक्खर हि पद जनेति, पद गाथ जनेति, गाथा अत्तम् पकासेताति। नाम सन्निसिता ति समुद्दादि–पन्नति–निसित्ता–गाथा–अरमन्तो हि समुद्द वा पथविवाय कञ्चि नामन निस्सचित्वा या आरमति। – उपरियत, पृ० ८४।

ज्ञान प्रस्थान शास्त्र मे विशेष वचन तथा अभिवचन के संदर्भ मे सज्ञा एव अनुसज्ञा रूप नाम समूह को नामकाय, अर्थपूर्ण अर्थ को पूरा कराने वाले पदो के एकत्र विन्यास को पदकाय एव अक्षर समूह का व्यजन काय कहा गया है।[5] ये नामकाय आदि धर्म स्कन्ध धातु,आयतन के द्योतक होने के कारण महत्मा बुद्ध के गोचर है। इसलिए इनके बारे मे तर्क नही कर सकते। यह तीनो धर्म अपौरूषेय है। इनके अवबोध के परिणामस्वरूप भगवान को सर्वज्ञ कहते है। वैभाषिको के अनुसार नाम,काया आदि का अपने–अपने विषय विशेषकर धातु, स्कध, आयतन मे नियत होना ही औपरूषेय है। इसके अनुसार नाम,काया आदि नियत एव अनियत रूप मे बस्तु के रूप मे होते है। नामकायादि का नियत अभिधेय द्वादश आयतन आदि है।[6]

---

५ – एक ज्ञान विज्ञान द्विचित्र हेत्वालम्बन स्मृति श्राद। त्रीन्द्रिययोगोऽतीतो विचिकित्सा नाम पद व्यजनकाया । शास्त्री, शा० मि० – ज्ञान प्रस्थान शास्त्रविश्वभारती, शान्तिनिकेतन १९५५ पृ० १०

६ – "ये ह्यपौरूषेया धात्वायतन स्कन्धाद्य वद्योत्का ते प्रथम बुद्ध विषया एव। तद्वाबोधाच्च भगवान सर्वज्ञ इत्यभिधीयते।" जैनी, पी एस०——————पूर्वोद्धृत पृ० ११३

७ – प्रतिबोध्य यथा योग नियता नियताश्च ते।

नियतोदभावनाद् बुद्ध सर्वज्ञ इति गम्यते।। उपरिवत कारिका २/१४८

इन नियत अभिधेयो की उत्पत्ति बुद्ध धारा होती है। जिसके फलस्वरूप महात्माबुद्ध को सर्वज्ञ कहते है। लेकिन नाम काय आदि का वस्तु के साथ नियत सबन्ध न होकर अनियत सबन्ध होता है। नामकायादि के यदृच्छा या यादृच्छित विषय होते है। एक पिता द्वारा अपनी इच्छा से अपने पुत्र का डित्थ या डवित्थ आदि नामकरण नियत न होकर अनियत होता है। वैभाषिक दर्शन के अनुसार नामकायादि की वस्तु सत्ता की अवहेलना नही की जा सकती है क्योकि ये धर्म तथागत के ज्ञान के विषय है। इसलिए इन धर्मो के बारे मे तार्किक दृष्टि से ऊहापोह नही किया जा सकता है। अभिधर्म की प्रमाणिकता का परित्याग कत्तई नही किया जा सकता है। नामकाय पदकाय एव व्यजनकाय चित्त विप्रयुक्तसंस्कार है।

---

८ – "तत्र य आर्यया निरुक्त्या निरूच्यन्ते द्वादशायतन विषयास्तेनियताभिधेय सम्बन्ध लौकियाश्च केचिन्नियताभिधेया निरूच्चन्ते। उभये हि एते कृतसकेतस्यार्थ प्रत्याययन्ति। ये तु यथेच्छ पित्रादिभि क्रियन्त नामकायादि भिरते ध्यनियता यदृच्छिका इत्युच्यन्ते। द्यथा डित्थडवित्थदय । उपरिवत पृ० ११३

९ – "न हि सर्वे धर्मास्तर्कगम्या इति। केचिदेव तर्कगम्या न सर्वे। ये हि तथागत ज्ञान गोचर पतिता एव, न ते तर्कगम्या इत्यभिप्राय।"–शास्त्री, द्वारिका दास–– पूर्वोद्धृति पृ० २७६

१० – नामकायदय सज्ञा वाक्याक्षर समुभ्त्य।काम रूपाप्तसत्त्वाख्या निष्यन्दाव्याकृतास्था।
उपरिवत कारिका २/४७

व्यंजनकाय

व्यजन अक्षर या वर्ण है। ऐसा वैभाषिक दार्शनिको का मत है। साधारणतया ध्वनि को वर्ण कहते है। जो सार्थक एव निरर्थक दोनो होता है। व्यजन का सघात नामकाय होता है। यह सघात सार्थक होता है। इसलिए व्यजन भी निरर्थक न हो कर सार्थक ध्वनि रूप होता है। यह सार्थक ध्वनि वर्ण स्वर व्यजन जैसे आ,आ,क,ख, इत्यादि तीनो कालो मे अर्थबोधक होता है। इस ध्वनि समूह या वर्ण समूह को व्यजनकाय कहते है। जो एक द्रव्यसत धर्म है। यहा पर ध्यान देने की बात है कि वैभाषिक दर्शन सावयव अक्षर समूह को व्यजन कहता है। क्यो कि वह कार्य को समुक्ति के अर्थ मे प्रयोग करता है। यह व्यजनकाय मीमासा दर्शन का नित्य वर्णन होकर अनित्यवाक होता है। जिसे निरवयव, अमूर्त, अप्रतिध,रूपलक्षण,विमुक्त, मानसिक एव प्रतिहत गमनशील कहा जाता है।[11] सस्कृत अभिधर्मदर्शन व्यजन एव वर्ण को पर्याय के रूप मे मानता है।[12] उसके अनुसार व्यंजन एव वर्ण का विपुल 'समुच्चय' व्यजनकाय है।[13] लेकिन योगाचार दर्शन मे 'समुच्चय' प्रज्ञप्ति है। इसलिए उनके अनुसार 'व्यजन' अक्षरो की प्रज्ञप्ति है। जो नामकाय एव पदकाय का आधारमात्र होता है।[14] इस दृष्टि कोण से वैभाषिक दर्शन एव योगाचार दर्शन मे व्यजनकाय के स्वरूप को लेकर प्रस्थानगत भेद है। व्यजनकाय को वैभाषिक दर्शन मे द्रव्यसत धर्म के रूप मे माना गया है। लिपि अवयव नाम व्यजन काय नही होता है। लिपिअवयव खुद व्यजन की प्रतीति कराने के लिए लिखे जाते है। जब व्यजन सुनाई नही पडता तब पर भी लिपिअवयव को देखकर इतनी प्रतीति हो जाती है।

---

११ – व्यजन पर्यायोऽक्षर यथा'क इत्येतदक्षतर निरवयवमर्मूतम प्रतिघ रूप लक्षण विमुक्त त्रैकालिकार्थ– प्रत्यायन समर्थ–––प्रतिहितगमन मित्ति। –उपरिवत पृ० १०६

१२ – तथा अपरिभाणा वन्ना अपरिभाणा व्यजना। अपरिभाणा वन्ना ति अप्पामानानि अख्खराणि 'व्यजना' ति तेषा एव विवेचनम्। ''भिम्खु, ज० क०–पूर्वोद्धघृत, सयुक्त निकाय ५ पृष्ठ ४३०

१३ –''विपुल समुच्चय, वर्णसामान्य व्यजनकाय।'' शास्त्री, शा० मि०–अभिधर्मामृत, विश्व भारती, शाति निकेतन १६५३, पृष्ठ १३०।

१४ –''तद अभया श्रेयषु अक्षरेषु व्यजनकाया इतिप्रज्ञप्ति।'' प्रधान,पृ०––––––अभिधर्म समुच्चय विश्वभारती शाति,निकेतन, पृष्ठ ११।

अत व्यजनकाय न हो लिपि अवयव का नाम मात्र है। और न व्यजन का उच्चारण लिपि अवयव का परिचय कराने को होता है।[15] जब यह कहते है कि व्यजन अर्थ को अभिव्यक्त करता है

या वाक अर्थ को प्रदान करता है तब यहाँ व्यजन का अर्थ वर्ण अक्षर न होकर 'नामन' होता है क्योकि 'नामन' अर्थ को प्रदान करने मे सक्षम होता है। इसी तरह 'वाक' अर्थ का प्रत्यायक न होकर नाम निमित्त अर्थ सहज होता है।'

नामकाय :

समस्त बुद्ध वचन को वैभाषिक 'वाकस्वभाव' न मानकर नाम स्वभाव मानते है। नाम स्वभाव होने के कारण अलग चित्त–प्रयुक्त–सस्कार है।इस प्रकार 'नामकाय' नाम स्वभाव है। जो शब्द से अलग वस्तुसत धर्म है। नामकाय अर्थ को व्यक्त करता है। 'नामकरण' नामधेय या 'सज्ञाकरण' है जैसे– राम, गध,रूप आदि। नामकरण सज्ञाकरण का पर्यायवाची है। जैसे–घट ।"

---

१५ –"ननु चाक्षराण्यपि लिप्यवयवाना नामानि। न वै लिप्यववाना प्रत्यायनार्थ भक्षराणि प्रणीतानि अक्षराणामेव तु प्रत्यायनार्थ लिप्यवयवा प्रणीता। कथमश्रूयमाणानिलेख्येन प्रतीयेरन्निति नाक्षराण्येषा नामानि।"शास्त्री, द्वारिका दास'– पूर्वोद्घृत पृष्ठ २७।

१६ – कदाचिद व्यजने नार्थमाकर्षति। व्यजन निर्वृत्तेन नाम्नार्थ माकर्षति———अयमस्य नाम्नोऽर्थ इति। कदाचिदर्थेन व्यजनमाकर्षति। इदमस्याभिधेयस्यार्थस्य व्यजन नामेत्यर्थ। अय हि व्यजन शब्दो नाम्नि प्रयुक्त। सूत्रेऽपि चोक्तम्–"स्वर्थ सुव्यज्जनम" इति।– पूर्वोक्त पृष्ठ ८६

१७ – तत्र सज्ञाकरण नाम, तघथा – रूपम शब्द इत्येवमादि ।एषाचसज्ञादीना समुक्तयो नामकायदया उच समवाये पठन्ति, तस्य 'समुक्ति' इत्येतदरूप भवति। योऽर्थ समवाय इति, सोऽर्थ समुक्तिरिति ।तत्रनामकायस्तधया–रूप, शब्द, गन्ध सरस्प्रस्ट व्यानीत्येवमादि। उपरिवत्,पृष्ठ २७१ –७२१। "तत्र नामपर्याय सज्ञाकरण यथा घटइति।"जैनी, पी० एस० –– पूर्वोद्घृत पृष्ठ १०६

वैसे सञ्ज्ञा एव नाम मे भेद है। सञ्ज्ञा एक चैतसिक धर्म है। जब कि नामन् चित्तविप्रयुक्त धर्म है। 'नामन' वाक् या घोष से अर्थद्योतन के लिए नामन को व्यक्त करते है। नामन 'सञ्ज्ञा' को उत्पन्न करता है। बौद्ध दर्शन मे 'सञ्ज्ञा' को पचस्कन्ध के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। सञ्ज्ञा के दो प्रकार होते है।१ सप्रति सञ्ज्ञा २– अधिवचन सञ्ज्ञा। सप्रतिध सञ्ज्ञा मे वस्तुबोध आता है जो बाहरी वस्तुओ के आघात से चेतना मे प्रत्यीभूत होती है। जैसे– नील जानाति। यह प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य होता है। अधिवचन सञ्ज्ञा 'नाम' द्वारा उत्पन्न होती है यह इन्द्रियजन्य नही होती। इसमे वस्तु विशेष को 'नामन' से जाना जाता है। यह सञ्ज्ञा (अधिवचन सञ्ज्ञा) वस्तु का अवस्था विशेष मात्र है। यानी वस्तु विशेष को 'नामन' से जानना अधिवचन सञ्ज्ञा है। जहा वस्तु को 'नाम' से जाना जाता है। यहा वस्तु का इन्द्रिय जन्य ज्ञान नही होता है। यह ज्ञान अधिवचन सञ्ज्ञा हे। अत अधिवचन सञ्ज्ञा नामन् है। नामन् अर्थ सहज होता है और सञ्ज्ञा निमित्तोदग्राहक होते है।[1] बौद्ध दर्शन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो मे 'सञ्ज्ञा' को धातुज एव अव्युत्पन्न माना गया है। धातुज सञ्ज्ञा कर्म या भाव प्रधान होती है। जैसे गो सञ्ज्ञा। यह किसी वस्तु के गतिशीलता को देखकर किया जाता है। अव्युत्पन्न सञ्ज्ञा परम्परा प्रधान होती है। किसी वस्तु का बोध कराने के लिए परम्परागत रूप मे की गई सञ्ज्ञा, यथा अश्व, हस्ती इत्यादि। सञ्ज्ञा की तरह "नाम" भी वस्तु बोधक होता है। परन्तु नामवस्तु का बोध एकात्मक एव सामग्रयात्मक रूप मे ही नही कराता है। नाम वस्तु के समस्त गुणो का बोध न कराकर केवल वस्तु के एक अश का ज्ञान कराता है। नाम वस्तु के उतने ही रूप का सग्रह करता है। जितना सभव होता है। यही कारण है कि वस्तु के अन्य रूप का बोध कराने के लिए अन्य 'नाम' की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'नाम' जब वस्तु के एक अश को गृहीत करता है तो वस्तु के दूसरे अश का निषेध करता है। नाम का स्वरूप अपोहात्मक है। सभवत इसी परिप्रेक्ष्य मे दिङ नाग शब्द या नाम अन्यायोहात्मक स्वीकार करते है।

---

१८ –"सञ्ज्ञाया करण सञ्ज्ञाकरण, येन सञ्ज्ञा चैतसिको धर्म क्रियते जन्यते।" – शास्त्री, द्वारिका दास------पूर्वोद्धृत पृष्ठ २७०।

१९ – इन्द्रियार्थस्त एवेष्टा दशायतन धातव। वेदनाऽनुभव सञ्ज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका। उपरिवत्, कारिका १/१४

क्योकि उसके मत मे शब्द वस्तु के समग्ररूप को अविनाभाव रूप मे ग्रहण करने मे समर्थ नही होता है। आचार्य दिङनाग शब्द या नाम के व्युत्पत्ति निमित्त एव प्रवृत्ति निमित्त का निराकरण करते है। गो शब्द का प्रवृत्ति निमित्त 'गोत्व' है तथा व्युत्पत्ति निमित्त 'गमनकर्तृता' है। वैसे दिङनाग शब्द के निमित्त मात्र का अपोह करते है।[21] वैभाषिक दर्शन के अनुसार नाम स्वभाव होता है। नाम निमित्त सार्थक होता है।[22] अत वैभाषिक दर्शन 'नामन' को अर्थ सहज स्वीकार करता है। इसी प्रकार योगाचार दर्शन भी नामन को सस्वभाव मानता है लेकिन उसके मत मे'नामकाय'दव्यसत न होकर प्रज्ञप्तिसत है। वैसे योगाचार दर्शन का सिद्धान्त थेरवादी दर्शन के 'नाम प्रज्ञप्ति' से मिलता जुलता है।[23]

पद काय :

अभिधर्मदर्शन मे 'पदकाय' को 'वाक्य' के अर्थ मे प्रयोग किया गया है। बुद्ध देशना मे वाक्य को 'गाथा' कहा गया है। पद गाथा की पक्ति है या गाथा 'पद' है। पदकाय नामकाय से व्यत्पन्न होता है। वैभाषिक अभिधार्मिक दर्शन व्यजनकाय एव नामकाय की तरह पदकाय को भी पृथक धर्म स्वीकार करता है।[24]

---

२० – शास्त्री रिजवानुल्ला बौद्ध दर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एकविमर्शात्मक अनुशीलन, शोध प्रबधद्धपृष्ठ १०४ १०५

२१ – द्विवेदी, क० दे०–अर्थविज्ञान एव व्याकरण दर्शन, हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश इलाहाबाद १९५१,पृष्ठ १४३

२२ –''सार्थकाक्षराणि नामकाय ।'' शास्त्री, शा० मि० – अभिधर्माकृत,पूर्वोल्लिखि पृष्ठ १३०

२३–''धर्माणाम स्वाभावाधिवचने नामकाय इति प्रज्ञप्ति।'' प्रधान, प्र०——————— अभिधर्म समुच्चय, पूर्वोद्धृत पृष्ठ११

२४ – वाक्छब्दाधीन जन्मान स्वार्थ प्रत्यायन क्रिया। सज्ञाद्य परणा मानस्त्रयो नामादय स्मृता।। जैनी, पी० एस०————————पूर्वोल्लिखित कारिका २।१४२

लेकिन पदकाय के सबन्ध मे उनका विचार स्पष्ट नही है। अभिधर्मग्रथो मे वाक्य के लक्षण के सदर्भ मे तीन पकार के विचार पाये जाते है। १ पदकाय वाक्य का पर्याय है।[25] जैसे घटो दृश्यत ,२द्ध पदकाय द्वारा क्रिया,गुण, एव काल विशेष का बोध होता है। जेसे–वह पकाता है, वह कृष्ण है, वह पकाएगा–पकाया–पकाएगा और ३ पदकाय उन पदो का समूह हे जिनसे विवक्षित अर्थ पूर्ण होता है। जैसे– सस्कार अनित्य है, धर्म अनात्म है और निर्वाण शात है।[26] ऐसा मालूम पडता है कि वैभाषिक दर्शन अपने वैचारिक चितन मे पदकाय को वाक्य के पर्याय के रूप मे मानते हुए सर्वप्रथम उसे पदो के सघात के रूप मे अभिव्यक्त करते हुए द्रव्यसत धर्म के रूप मे मान्यता प्रदान करता है। लेकिन कोई भी वाक्य केवल पदो का समूह नही होता है। उसमे क्रिया या भाव की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार व्याकरण दर्शन मानता है। इसीलिए वैभाषिको को स्वीकार करना पडा कि पदकाय मे स्वलक्षण वस्तु की क्रिया–गुण–काल सबन्ध विशेष अवगमित होती है।

---

२५ – पदपर्यायो वाक्यम। यथा घटो दृश्यत इति। येन क्रिया गुणकाल विशेषा गम्यन्त इति क्वचित। यावदिम पदैर्विक्षितार्थ परिपूरिर्भवात तावता समूह पदम् इत्याभिधर्मिका।" जैनी, पी० एस०, पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ १०६

२६ – "वाक्य पदम् यावतार्थ परिसमाप्ति तथया–अनित्या वत सस्कारा इत्येवमादि येन क्रिया गुण काल सम्बन्ध विशेष गम्यन्ते। शास्त्री,द्वारिका दास––अभिधर्म कोश इत्यादि पूर्वोद्धृत पृष्ठ २७०

सर्वास्तिवादी दर्शन क्रिया–गुण- काल को धर्म के रूप मे मानते हुए वस्तु की त्रैकालिक सत्ता मानता है।

वस्तु की भूत, भविष्य एव वर्तमान सत्ता को व्याक[illegible] दर्शन भी मानता है। इसके अनुसार शब्द का अर्थ के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध होता है। न्यायवैशेषिक दर्शन द्वारा किये गये आक्षेप "वर्तमान मे उच्चरित शब्द का अतीत एव अनागत वस्तु के साथ सम्बन्ध कैसे सुष्ठ है।"[27] का समाधान करते हुए व्याकरण दर्शन कहता है कि वस्तु का तीनो काल मे अस्तित्व रहता है। जैसे–कस मारा जाता है। कस मारा जायेगा एव कस मारा गया।[28] शब्द की प्रवृत्ति सत्ता मे होती है। इसलिए अर्थ बोध कराने के लिए वस्तु को त्रिकालात्मक माना जाता है। इसीलिए शब्द का अर्थ के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध होता है। वस्तु की त्रैकालिक सत्ता स्वीकार किये बिना व्यवहार नही चल सकता।[29] इस दृष्टिकोण मे व्याकरण दर्शन भी पदों के अवस्था विशेष को वाक्यार्थ कहता है।[30] यह अवस्था विशेष वस्तु की क्रिया–गुण–काल सम्बन्ध विशेष है। वाक्य या पदकाय के सम्बन्ध मे अभिधार्मिको का मत सर्वास्तवादियो से भिन्न है। अभिधार्मिक दर्शन सार्थक पदो के समूह को वाक्य मानता है। उनके अनुसार जितने पद से विवक्षित अर्थ पूरा होता है। उन पदो का समूह को पदकाय कहते है। मीमासा एव न्याय दर्शन भी पद समूह को मानते है। जिन पदो से अर्थ की समाप्ति होती है।[31] इनके अनुसार विवक्षितार्थ के लिए पदो का उच्चारण होता है। भारतीय दर्शन मे पद एव वाक्यार्थ के सम्बन्ध को लेकर दो प्रकार के सिद्धान्त पाये जाते हैं (१) अभिहितान्वयवाद (२) अन्विताभि–धानवाद। अभिहिता– न्वयववाद पदो द्वारा कहे गये अर्थ के अन्वय को मानता है। इनके अनुसार प्रत्येक पद अलग रूप रो पदार्थ का ज्ञान कराते है। पदार्थ ज्ञान हो जाने पर आकाक्षा, योग्यता और आसक्ति आदि के अधार पर पदार्थ का अन्वय होता है।

---

२७ –"असति नास्तीति च प्रयोगात्।" वैशेषिकसूत्र ७ २ १७

२८ –"तदस्यास्त्य स्मिन्निति मतुप।"महाभाष्य ५/२/६४ "त्रैकाल्य खाल्बपि लोके लक्ष्यते।"महाभाष्य ३/१/२६

२६ –द्विवेदी, क० दे० –पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १७६–१८० ।

३० –"एषा पदाना सामान्ये वर्तमानानायद्विशेषअवस्थान सवाक्यार्थ।"झा,रूद्रधर––पूर्वाद्धधृत महाभाष्य१/२/४५

३१ "पद समूहो वाक्य मर्थसमाप्तौ,समर्थमृद्ध–मजूषा पृष्ठ १ "एकार्थ पद समूहो वाक्यम्।"शबर भाष्य२/१/४६ दृष्टव्य अर्थ विज्ञान व्याकरण दर्शन,पूर्वाद्धधृत पृष्ठ ३०३,३०८

अन्विता भिधानवाद पदार्थ को न मानकर समन्वित पदार्थ को मानता है। यहा पद एव पदार्थ की पृथक सत्ता नही होती।[32] इस सदर्भ मे आभिधार्मिको की स्थिति अन्विताभिधानवाद की तरह है। क्योकि ये भी वाक्यार्थ की साक्षात उपलब्धि को मानते है। एकार्थ–प्रतिपादक पदसमूह ही वाक्य है। जबकि सर्वास्तिवाद पदो एव पदार्थो के आधार पर वाक्यार्थ को मानता है। अभिहितान्वयवादी की तरह यह स्वीकार करता है कि क्रिया–गुण–काल का सम्बन्ध पद एव पदार्थो के बीच होता है। वाक्यार्थ का ज्ञान इन्ही पदार्थो के आधार पर होताहै। वैयाकरण एव नैयायिक दोनो वाक्य को अर्थप्रत्यात्मक मानते है। इस दृष्टिकोण से वाक्य के बारे मे विभिन्न मतो का प्रतिपादन किया गया है।[33] जैसे– आख्यात वाक्य सघातवाक्य, जाति वाक्य, एकोऽनवयव–वाक्य, क्रमवाक्य, बुद्ध्यनुसहतिवाक्य, आद्यपद वाक्य, एव पृथकसाकाक्षसव पदवाक्य। परन्तु वाक्य के स्वरूप एव सरचना को लेकर वैयाकरणो एव नैयायिको के बीच मतभेद है। सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि वाक्य पद सघात है जिससे अर्थपरिपूर्ण होता है।[34] वाक्य नाम एव क्रियामूलक होता है। लेकिन नैयायिक दार्शनिक वाक्य मे 'सज्ञा' को प्रमुख मानते है। इनके अनुसार वाक्य सज्ञामूलक है। नाम एव विशेषण भी मिलकर वाक्य बनते है। अत वाक्य मे क्रिया पद का होना जरूरी नही है। वाक्य मे सज्ञा किसी न किसी वस्तु की ओर निर्देश करती है। जो वस्तु उस अवस्था मे क्रिया को सपन्न करती है। द्रव्य मे गुण,सम्बन्ध एव क्रिया आदि धर्म रहते है। वैसे नैयायिक तत्वमीमासीय दृष्टिकोण से परार्थवादी है।

---

३२ – त्रिपाठी, राम सुरेश सस्कृत व्याकरण दर्शन, राजकमल प्रकाशन दिल्ली १९७२, पृष्ठ ४११–२५

३३ – आख्यात शब्द सघातो जाति सघातवर्तिनी। एकोडनवयव शब्द क्रमोबुद्धभनुसहति ।।
पदमाद्य पृथक पद साकाक्षमित्यापि। वाक्य प्रति मतिर्मिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।।
शास्त्री, प० रघुनाथ – वाक्यपदीयम् वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, काशी १९६३, २/१२

३४ - 'पदसघातज वाक्यम'' (व्यादि)। ४ पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ (कोटिल्पम) एकार्थ पदसमूहो वाक्यम् (काशिका)'' सुपतिड न्यतययो वाक्य क्रिया वा कारिकान्विता (अमरकोश) ''पद समूहो वाक्यम्'' (न्यास) विशिष्टैकार्य प्रति पादक निराकाक्ष पद समूहो वाक्यम्। (चन्द्रलोक टीका) त्रिपाठी, तम सुरेश–––पूर्वोद्धधृत पृष्ठ ३५९

इसीलिए ये लोग द्रव्य को प्रमुख मानते है।[35] लेकिन वैयाकरण लोग 'वाक्य' मे क्रिया पद पर विशेष महत्व देते है। इनके अनुसार क्रिया के बिना 'वाक्य' का निर्धारण नही होता है।[36] भाव या

क्रिया सर्वशक्तिमान होता है। उसी अवस्था या क्रिया मे अन्य तत्व विशेषण के रूप मे मिले रहते है।

वैभाषिक दर्शन 'द्रव्य' को धर्म के रूप मे मानता है तथा वाक्य द्वारा वस्तु के अभिधान को मानता है।[37] लेकिन वैभाषिको की 'वस्तु' की धारणा नैयायिको की वस्तु की धारणा से भिन्न है। वैभाषिक दर्शन के अनुसार वस्तु स्वलक्षण है। जो धर्म को धारण करता है। वस्तु का अभिधान करने के फलस्वरूप पदकाय द्रव्यसत या वस्तुसत कहलाता है। योगाचार दार्शनिको के अनुसार पदकाय वस्तुसत् न होकर प्रज्ञप्तिसत है। जिसके द्वारा धर्मो की विशेष अवस्था का अधिवचन होता है।[38] अधिवचन संज्ञा या नाम है। यह नाम सस्वभाव न होकर नि स्वभाव या प्रज्ञप्ति है।

---

३५ – मतिलाल, वि० कृ० – लाजिक एव रियलिटी मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, १९८५, पृ० ३९८ – ४१६

३६ –"न हि क्रिया – विनिर्मुक्त वाक्यम अस्ति। झा, रूद्रधर–पूर्वाद्धधृत महाभाष्य २/१ ।।

३७ – "पदसमुच्चेन वस्त्वभिधान पदकाय।" शास्त्री, शा०भि०-----अभिधर्मामृत पूर्वाद्धृत पृ० १३०

३८ –"धर्माणा विशेषाधिवचने पदकाया इति प्रज्ञप्ति।"प्रधान, प्र०----अभिधर्म समुच्चय पूर्वोद्धृत पृ०।।

वैभाषिक दर्शन मे सज्ञा या नाम वस्तु के प्रत्यक्षत न उपस्थित रहने पर भी अर्थसहज होती है। नाम कोई शब्द नही है। क्योकि शब्द से अर्थ का द्योतन नही होता है। 'शब्द' केवल क्रन्दन या

घोष मात्र है जिसे वाक् कहते है।वाक अर्थ को व्यक्त करने मे असमर्थ होता है। वाक नामन् मे प्रवृत्त होता है और नामन अर्थ की प्रतीति कराता है। वैभाषिक दार्शिनिको के अनुसार वाक या घोष परमाणु रूप होने के कारण अक्षर मात्र होते है। जो अर्थ प्रत्यायन मे असमर्थ होते है। वर्ण या वाक समुदाय के रूप मे भी अर्थ बुद्धि को उत्पन्न करने मे समर्थ नही होते। यह कहना कि अतीत वर्ण समुदाय उच्चरित अतिम वर्ण की अपेक्षा से मन एव बुद्धि द्वारा गृहीत होकर अर्थ सम्बन्धी बुद्धि वो उत्पन्न करते हुए अर्थ बोध करा देता है। युक्ति सगत नही है क्योकि समुदाय एव समुदाय की कल्पना तार्किक दृष्टि से उचित नही है।[39] वाक या घोष के परमाणु रूप होने के कारण उनका एकत्व अप्रसिद्ध है। नामन ही वाक या घोष से व्यक्त होकर अप्राप्त अर्थ का प्रकाशन करता है।[40] वैभाषिक दार्शनिक शब्द या वाक भी भक्ति–कल्पनया या उपाचारत अर्थ का बोध कराता है। क्योकि घोष या वाक मे अर्थ प्रत्यायन की क्षमता होती है। परन्तु घोष या वाक स्वभावत अर्थ प्रत्यायक नही होता है। वैसे प्रतिवर्णानुवर्ती वाक नामन का अभिलाप करती है। और नाम्न अर्थ को द्योतित करता है।

---

३६ –''न चार्थान्तर समुदायिभ्य समुदायो अस्ति। स कथमर्थ प्रत्यायभिष्यतीति। अतीत वर्ण समुदायरत्वन्यवर्णापेक्षो मनोबुद्धयोग गृहीतरस्वरूप राबन्धिन्यर्थे बुद्धि मुत्पाद यत्प्रत्याययतीति युक्तरूपो व्यापदेश ।'' जेनी, पी० एस० – अभिधर्मदीप, पूर्वोल्लिखत पृष्ठ ११२

४० –अन्ये नामादय शब्दादप्राप्तार्थ प्रकाशनात्। अनित्यास्ते तु विज्ञेया सापेक्षार्थ विभावनात्।। परमाणु स्वभावत्वाद घोषैकत्व न युज्जयते। तादात्म्य प्रतिघातित्वात् तत्सिद्धिर्वरणादिभि ।। उपरित्वत, कारिका २।१४३ और १४५

क्योकि नाम सन्तान मे प्रवर्तित वाक का अपना स्वरूप है। अत वाक या शब्द का वाच्य प्रत्यक्षत अर्थ नही होता है।[41] दूसरी ओर शब्द या वाक परमाणु रूप होता है। अत वाक क्रमरूप मे

अथवा युग पदरूप प्रकाशित करने मे समर्थ नही हो सकता है।"[41] सभवत ध्वनि या वाक् के अर्थ प्रत्यायकता के प्रश्न को सबसे पहले व्याकरण दर्शन ने उठाया। न्याय–वैशषिक दर्शन वाक् रूप शब्द से सस्कार रूप मे ग्रहीत शब्द द्वारा अर्थ प्रतिपत्र को मानते है। लेकिन व्याकरण दर्शन वाक रूप शब्द से व्यतिरिक्त 'स्फोट' को शब्द मानते हुए उसी से अर्थ प्रत्यायकता को मानता है।"[43] इस प्रकार हम देखते है कि व्याकरण दर्शन शब्द एव वाक ध्वनि के मध्य स्पष्ट रूप से भेट मानता है। वैभाषिक दर्शन भी नाम्न एव घोष के मध्य भेद स्वीकार करता है। उसके अनुसार वाक घोष आदि शब्द है तथा शब्द क्रमरूप मे अथवा युगपद रूप मे नही मिलते है। इस लिए इनसे अर्थबोध नही होता है। वैभाषिक दार्शनिको का मत है कि बहुत से बल्वज पदार्थ असपृक्त रूप मे किसी भी वस्तु को खीचने या बाधकर उठाने मे असमर्थ होते है। लेकिन जब वही रज्जु स्वरूप को प्राप्त हो जाते है। तब आकर्षण आदि क्रिया को करने मे समर्थ हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति शब्द के साथ नही है। शब्दो का एकीकरण कत्तई सभव नही है। शब्द वल्वज की तरह, न तो क्रमरूप मे और न युगपद रूप मे प्राप्त होकर अर्थ बोध कराने मे समर्थ होता है।"[44] घोष या वाक का अर्थ प्रत्यायक नही होता है। क्योकि घोष या वाक के साथ प्रत्यायय – प्रत्यायक का सबन्ध सिद्ध नही है।

---

४१ "आञ्जसा हि वाड नाम्नि प्रवर्तते नामाभिलपतीत्यर्थ। नामत्वर्थद्योतयतीति प्रतिवर्णानुवर्तिनी वाक् खलुनामाभिलपन्ती स्वञ्च रूपमुद्भावयन्ती सन्तानैन प्रवर्तमाना गुणकल्पनयार्थ प्रत्यायतीत्य। न रवर्थ शब्दवाच्यो द्योत्यो वा।" उपरिवत,पृष्ठ १११,

४२ –शब्दोहि परमाणु सचय। स प्राप्यार्थ प्रकाशभेत प्रदीपवत।––––तस्मात्प्रतिपद्य स्व शब्दोऽर्थ प्रत्याययतीति इतश्च क्रमर्यागपद्य प्रत्यायनासभवात। उपरिवत् पृष्ठ ११०,

४३ –भट्टाचार्य, बि० –ए स्टडी इन लैग्वेज एण्ड मीनिग प्रोगेसिव पब्लिशर्स कलकत्ता १६६२, पृष्ठ ,

४४ –"इह हि बहूनि बल्वज द्रव्याणि प्रत्येकम समर्थानि सभूयरञ्जवात्मनावस्थितानि दार्वाधिकर्षण क्रिया सामर्थ्योपेतानि भवन्ति। न चैव वाक्यात्मन शब्दा बुद्ध युगपगृहीतावयव समुदाय सक्षेपा क्रमलब्धजन्मान प्रत्येकमर्थ प्रत्यायनसमर्था नापि सभूय प्रत्याययन्ति, सभूयानवस्थानाद बल्वज्वत्। तस्मात्क्रमयौगपद्यत्प्रत्यायनड सभवान्न शब्दा कश्चिदर्थ प्रत्यायन्तीत सिद्धम्। जैनी, पी० एस० – पूर्वोद्धृत पृष्ठ ११०।

जिस तरह दीपक प्रत्यायक शक्ति से युक्त होकर 'घट' दर्शनार्थी को अधकार मे 'घट' वस्तु की प्राप्ति करा देता है। उसी तरह शब्द या वाक नियतवृत्ति से सम्बन्धित होकर अर्थ प्राप्ति कराने

मे समर्थ नही होता है। क्योकि शब्द या वाक मे वाचकत्व शक्ति का अभाव होता है। अत शब्द का न कोई प्रत्यायक है न प्रत्याय्य है।"[४५] वैभाषिक के अनुसार शब्द एव वाक के मध्य सयोग सम्बन्ध भी नही माना सकता है। सयोग सबन्ध दो सत् वस्तुओ के बीच होता है। न कि दो असत्। परन्तु शब्द एव वाक मे जब ध्वनि वाक होता है। तब शब्द नही होता है। और जब शब्द होता है। तब ध्वनिया उच्चारित होकर नष्ट हो जाती है। ध्वनि या वाक भी एक कालिक होता है। जैसे –'घट' शब्द मे 'घ' होने पर 'ट' नही होता है। उसी प्रकार 'ट' के होने पर 'घ' नही होता है। यह भी नही कह सकते कि वाक् आकाश के गुण या समवाय सम्बन्ध के रूप मे अर्थ प्रत्यायक होता है।"[४६] विचार एव वितर्क के अधीन व्युत्पन्न शब्द का क्रम या यौगद्य सभव नही होता है। अत वाक सामयिक सम्बन्ध के अधार पर भी अर्थ के बोध कराने मे समर्थ नही है। मीमासा दर्शन वाक् से अभिव्यग वर्ण से अर्थ ज्ञान मानता है। उनके अनुसार अतिम वर्ण के उच्चारण के साथ अतीत वर्णो का स्मरण करते हुए प्राप्त शब्द के द्वारा अर्थ ज्ञान होता है। वैभाषिक दर्शन इस सिद्धान्त का खडन करते हुए कहा है कि यह जरूरी नही है कि जिस क्रम मे शब्द का उच्चारण होता है। उसी क्रम मे वर्णो का स्मरण भी होता है। इसी तरह पूर्व––पूर्व वर्ण के प्रत्यक्ष से उत्पन्न सस्कार अतिम वर्ण के उच्चारण के साथ मिलकर 'घट' शब्दत्व रूप जाति के रूप मे प्राप्त शब्द के द्वारा भी अर्थ का ज्ञान नही हो सकता है क्योकि जिस क्रम मे वर्णो का प्रत्यक्ष होता है।

---

४५ –''इतश्च, प्रत्याय प्रत्यायक दिसम्बन्धानुपपत्ते कथम। प्रदीपवत् ।तद्यथाप्रदीप स्तमसि घटादि प्रत्याय्य प्रत्यायक शक्तियुतोघट दर्शनार्थ भिरूपादीयते न च कश्चिच्छब्द कस्मिश्चदर्थे केन चित्सबन्धि विशेषण नियतवृत्ति, यस्त गृहीत्वा प्रत्याययेमे (दि) ति। उपरिवत – पृष्ठ ११०

४६ –तत्र तावत्। (न) प्रदीप स्यैव प्रत्याय प्रत्यायक सम्बन्धोऽस्ति अकृति सकेतस्या प्रत्यायनात्। नापि सयोगाख्य सम्बोऽस्ति सदसतोस्तदनुपपत्ते। गुणत्वाच्चेति कस्मिश्चित। नसमवायख्य ।अतएवाकाशगुणत्वाच्चेतिकश्चित। तस्मात्प्रत्यायय – प्रत्यायनादि – सबन्धानुपपत्ते यदगर्ष्मि न शब्दोऽर्थ प्रत्याययतीति तत्सम्यगम्य धामेति। –––उपरिवत पृष्ठ ११०।

उसी क्रम मे वर्णानुभव या सस्कार नही होता है। 'घट' शब्द मे 'घ' एव 'ट' के प्रत्यक्ष उत्पन्न सस्कार 'घट' के रूप मे गृहीत न होकर 'टघ' के रूप मे गृहीत हो सकता है। इसलिए शब्द किसी भी रूप मे अप्राप्त अर्थ का प्रकाशन करने मे असमर्थ है। वाक से उत्पन्न नाम्न ही अर्थ का

परिचायक होता है। वैभाषिक दर्शन मे घोष या वाक द्वारा द्योत्य नाम्न ही अर्थ प्रत्यायक होता है। वाक की कृतार्थता नाम निमित्त के अभिप्रकाशन मे है।[47] विचार करने योग्य यह है कि वैभाषिक दर्शन वाक, ध्वनि एव शब्द को समानार्थी मानता है। अत वह वाक् को रूपस्कन्ध के अन्तर्गत परिगणित करता है। जब कि वाक् से व्युत्पन्न नामकाय आदि को संस्कार स्कध मे संग्रहीत करता है। उनके अनुसार नाम्न सज्ञा से अलग है। नाम अर्थ सहज होता है। लकिन सज्ञा अर्थ के अधीन नही होती क्योकि एक सज्ञा का प्रयोग कई अर्थो के लिए करते है। यह 'नाम्न' वाक् की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण नित्य न होकर अनित्य होता है।[48] वाक या शब्द क च ट त इत्यादि रूप मे उत्पन्न होता है एव विनष्ट होता है। परन्तु वाक अवमुक्त होने पर भी शब्द भेद सँचय का प्रत्यय सामर्थ से उत्पन्न करा देती है। अत 'नाम्न' वाक से अलग होता है। यह नाम निमित्तक होता है। अथवा वस्तु का प्रत्यायक होता है। नामन एव वस्तु के मध्य अपौरूषेय सबन्ध होता है। क्योकि नामन अपने–अपने अर्थ मे नियत होता है। जैसे – इन्द्रिया अपने– अपने विषयो मे नियत होती हे।

---

४७ – सामयिक शब्दोऽर्थ प्रत्यायन लिडग गमिति चेत्। । न। साध्यत्वा द्वितर्क विचाराधीन जन्मान शब्द रूप क्रमयोगपद्य प्रत्यायनानुपपतेश्च। प्रतिवर्ण विषया स्मृति प्रत्याययतीति चेत् । न । तत्समानदोषत्वात्पूर्व पक्षोत्सर्गत्वाच्च। सस्कार इति चेत। न । असिद्धत्वा दक्तोत्तरत्वाच। यादृच्छिक सवृत्ति शब्दमात्राभ्युपगमे वक्ष्यमाण दोष प्ररागाच्चेति। उपरिवत पृष्ठ१११

४८ – वाड नाम्नि प्रवर्त्तते नामार्थ द्योतयाति। उपरिवतपृष्ठ १०६ वाड नाम्नि प्रवर्त्तते, नामार्थ द्योतयति। शास्त्री द्वारिकादास ––– पूर्वोद्धृत पृष्ठ २७२

४६ – ' वाक तु रूपस्कन्ध सगृहीता वाग्गीनिर्रुक्ति रित्यर्थ । तेच तद धीनोत्पत्तयो निरूक्त्यधीनार्थ प्रवृत्तेयश्च ज्ञान वदर्थस्य प्रतिनिधि स्थानीया । निरूक्ति नाम सज्ञा। नार्थाणाभेक सज्ञत्वात्। यथा्ु चक्षुर्विज्ञानकायादय पञ्चरूपाद्यात्तवृत्तय तदवत तेऽपि। वाक्छब्दा धीन जन्मान। अनित्यास्ते तु विज्ञेया सापेक्षार्थ विभावानात्। कथन। ज्ञानवत। तद्यथा ज्ञान चतुरादीन हेतूनपेक्ष्यार्थ विभावयति तदृन्नामादयोऽपि धोषादीन हेतून पेक्ष्यार्थ प्रत्याययन्ति। तस्मात्सापेक्ष प्रत्यायनाद नित्या इकति जैनी,पी० एस० – पूर्वोल्लिखित, पृष्ठ – १०८ १११।

शब्द या वाक अर्थ का वाचक कत्तई नही होता है। शब्द या वाक नामनिमित्त मे प्रवृत्त होता है और नाम निमित्त अर्थका अभिलाप करता है। यह नामन वाक का अपना स्वरूप है। इस स्वरूप को बिना प्राप्त हुए शब्द अर्थ का अभिलाप नही करता है। इसलिए वाक् से उत्पन्न अक्षर, सज्ञा एव वाक्य की समुक्तिरूप व्यजनकाय, नामकाय एवपदकाय अपने अर्थ का प्रत्यायन करने मे समर्थ होते है।[50]

वैभाषिक दार्शनिक मानते है कि वाक् व्यजन को उत्पन्न करती है। व्यजन नाम को उत्पन्न करता है। ओर नाम्न अर्थ का बोध कराताहै। नाम्न निमित्तक'निमित्त' वस्तु या विषय होती है। अत नाम्न जिस वस्तु या विषय मे प्रवृत्त होता है उसे नाम–निमित्त कहते है। नामनिमित्त का अर्थ नाम का स्वभाव होना है अथवा नाम स्वभाव को व्यक्त करता है। नाम की तरह सज्ञा भी निमित्त का उद्ग्रहण करती है।

लेकिन नाम निमित्त एव सज्ञा समान विषयक होते हुए भी एक दूसरे से अलग है। सज्ञा का स्वभाव विषय निमित्त उद्ग्रहण है। विषय निमित्त आलम्बन विशेष होता है। जैसे– नील, पीत आदि। नील, पीत का निरूपण ही उद्ग्रहण है। इस प्रकार सज्ञा का कार्य प्रज्ञप्ति एव नाना अभिधान को उत्पन्न करना है। तब सज्ञा विषयक निमित्त को व्यवस्थित कर देती है। जैसे– यह लाल है। यह हरा है। यह लाल से अन्य नही है। और यह हरा से अन्य नही है। तव निमित्तो के अनुरूप अभिधानो की उत्पत्ति होती है। यह अभिधान ही नाम काय आदि है। इस प्रकार नामन सवस्तुक या निमित्तिक होता है। 'घट' पट आदि नाम्न घट, पट निमित्त को विषय बनाकर प्रयोग होते है। निमित्त का अर्थ वस्तु का सस्थान, आकृति विशेष आकार रूपादि लक्षणो से उपेत रूप मे दिखाई पडना है।[51]

---

५० – वाक छब्दाधीन जन्मान स्वार्थप्रत्यायन क्रिया। सज्ञाद्य परणानामानस्त्रयो नामादय.स्मृता।। उपरिवत कारिका – २/१४२

५१ – तत्र महामते निमित्त यत्सस्थानाकृति विशेषाकार रूपादि लक्षण दृश्यते तन्निमित्तम्। यत्तस्मिन्निमित्ते घटादि सज्ञा कृतम – एवमिद नान्यथेति तन्नाम। "वैद्य, पी० एल० लङ्कवतारसूत्रम, मिथिला पीठ दरभगा, १९६३ पृष्ठ ६३ "निमित्त वस्तुनोडवस्था विशेषो नीलत्वादि।" शास्त्री, द्वारिका दास————————पूर्वोद्धृत पृष्ठ ४८

इसी निमित्त मे 'घट' आदि की सज्ञा होती है। जिसे नाम्न निमित्त बनाकर अभिधान करता है। वैसे सज्ञा वस्तु का सामान्य धर्म होती है। जैसे – 'गो' सज्ञा। 'गो' सज्ञा की प्रवृत्ति वही होती है। जहा – जहा 'गोत्व' सामान्य धर्म होता है। इसप्रकार 'गो' आदि सज्ञाओ का अपने प्रवृत्ति निमित्त के साथ उद्ग्रहण योजना सज्ञा स्कन्ध है एव नाम योजना सस्कार स्कन्ध है। अत नाम निमित्त को चित्त विप्रयुक्त सस्कार कहते है। नाम सवस्तु एव अर्थसहज होता है।[52] सामान्य तौर "सहज" का अर्थ जन्म के साथ उत्पन्न होता है। अथवा जो धर्म या वस्तु के साथ स्वाभाषिक रूप से रहता है वही सहज होता है। नाम्न इस अर्थ मे अर्थसहज है। क्योकि यह वस्तुओ के साथ स्वभाविक रूप से रहता है। वस्तु के अस्तित्व के

साथ 'नाम' भी तात्विक रूप से रहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि 'नाम्न' अर्थ सहज होता है। तब उन्ही विषयो के नाम्न होने चाहिए जो नाम के साथ स्वभाविक रूप से सम्बद्ध हो लेकिन अक्सर यह देखा जाता है कि जो वस्तु अतीत मे हो चुकी है अथवा अनागत मे घटित होगी उनके 'भी नाम' वर्तमान मे प्रयोग होते है। ऐसी सिथित मे नाम्न को अर्थ सहज कैसे कहा जा सकता है। वैभाषिक दर्शन के अनुसार मनुष्य की सतान मे अतीत एव अनागत विषयो का एक लिग गभूतधर्म विद्यमान रहता है।[53] इस आधार पर अतीत पर अतीत एव अनागत वस्तुओ मे भी नाम निमित्त प्रयुक्त हो जाता है। एक पिता भविष्य मे उत्पन्न होने वाले पुत्र का नाम करण इसी आधार पर करता है।[54] वैभाषिक के अनुसार अतीत एव अनागत विषयक ज्ञान प्रमाणिक होता है। क्योकि सभी ज्ञान अर्थवान होता है। नाम्न के माध्यम से जो भी ज्ञान होता है वह भी अर्थवान होता है।[55]

---

५२ –"अथाप्यर्थ सहज नाम जात्यादिवदिष्यते।"उपरिवत,पृष्ठ २७४

५३ – नरेन्द्र देव आचार्य------अभिधर्मकोश पूर्वोद्धृत पृष्ठ २३२

५४ –"एव सत्यतीतानागतस्यार्थस्य वर्तमान नाम न स्याद।अपत्याना पितृभिर्यथेष्ट नामानि कल्पयन्त इति कतमन्नाय तत सहज स्यात्। असस्कृताना च धर्माणा केन सहज नाम न स्यात इत्यनिष्टरेवेयम।" – शास्त्री, द्वारिका दास-------अभिधर्मकोश, पूर्वोद्धृत पृष्ठ २७५

५५ –"नन्वस्ति प्रमाणम्, सर्वस्य ज्ञानस्यार्थवत्त्वात्। शाब्दमपि ज्ञानमर्थदेव।"
शास्त्री, द्वारिका दास ------ प्रमाणवर्त्तिक, बौद्धभारती, वाराणसी,१९६८ पृष्ठ १०६,

अत 'नाम्न' निमित्तक या सबरतुक होता है। निमित्त या वस्तु एक प्रकार से धर्मो का विशेष रूप हाती है। यही विशेष रूप धर्मो का सग्राहक रूप है जिसमे घटादि नाम्न की प्रवृत्ति होती है परन्तु निमित्त के स्वरूप को लेकर वैभाषिक दर्शन एव सौत्रान्तिक योगाचार तथा माध्यमिको के मध्य मतभेद है। योगाचार एव सौत्रान्तिक के अनुसार निमित्त या वस्तु अविद्या आदि वासनाओ से उत्पन्न होता है तथा कल्पना विषयक होने के कारण आरोपित होती है।[56] इस आरोपिताकार मे शब्द एव कल्पना पवृत्त होते है। माध्यमिक दार्शनिक नाम्न को नि स्वभाव मानते है। क्योकि वस्तु शून्य होती है।

सौत्रान्तिक सिद्धान्त. कानामनिमित्त समीक्षावाद

वैभाषिक दर्शन की यह मान्यता है कि 'शब्द' अर्थ प्रत्यायक नही होता है क्योकि 'क्योकि 'शब्द' क्रमरूप अथवा युगपद रूप मे गृहीत नही होता है जबकि तैथिक दर्शन की इसके विपरीत मान्यता है। ''शब्द'' से व्यतिरिक्त 'नाम्न' अर्थ बोधक होता है। क्योकि नाम्न अर्थ चिन्ह रूप होता है। लेकिन चित्त विप्रयुक्त सस्कार के रूप मे स्वीकृत नाम निमित्त से भी अर्थ ज्ञान नही हो सकता है यदि नाम निमित्त क्षणिक है तो उनका अन्वय नही हो सकता है और अक्षणिक मानने पर क्रमिक ज्ञान की अनुपपत्ति होती है। इसिलिए तैथिक मत मे जो दोष है वही वैभाषिक मत मे आपतित हो जाता है। अत सौत्रान्तिक दर्शन के मत मे 'नाम निमित्त' सिद्धान्त युक्तिसगत नही है।''[57]

---

५६ –''तथा हयूस्माभिरिष्यत एवैषा मन्तर्जल्प वासना प्रबोधो निमित्तम, न तु विषयूटम, भ्रान्त्वेन पूर्वस्य शब्द प्रत्ययस्य निर्विषयत्वात्।'' शास्त्री, द्वारिका दास –––––– तत्वसग्रह, बौद्धभारती, वाराणसी १९८१, पृष्ठ ३३६,

५७ – शास्त्री, रिजवानुल्ला–––––बौद्धदर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एक विमर्शात्मक अनुशीलन 'शोध प्रबन्ध'--पृष्ठ ११७

सौत्रान्तिक दर्शन का दृष्टिकोण प्रारभ से ही तार्किक एव विमर्शात्मक रहा है। इसलिए वह वैभाषिक सम्मत शास्त्र, सिद्धान्त, शब्दानुक्रमणि एव पद्धति का विरोध करता है। सौत्रान्तिक दर्शन विभिन्न सूत्रधारा अथवा बहुश्रुतियो द्वारा किया गया एक वैचारिक परिवर्तन है। जो अभिधर्म एव महाविभाषा मे साख्य, वैशेषिक और मीमासा आदि के विभिन्न मतो के स्थान देने के विरोध मे खडा हुआ। वस्तुत वैभाषिक एव सौत्रान्तिक दर्शन के बीच अन्तर्विरोध का सूत्रपात विभिन्न साप्रदायिक मतो के आकार के रूप मे प्रणीत विभाषा शास्त्र से होता है। विभाषा शास्त्र या महाविभाषा शास्त्र दार्शनिक एव धर्मशास्त्रीय मतो का उपन्यास मात्र है। जिसमे सौत्रान्तिक मत को भी पूर्व पक्ष या उत्तर पक्ष के रूप मे सकलित किया गया है। इसके प्रणयन के पश्चात वैभाषिको को अभिधर्म विभाज्यवादी या शस्त्रवादी और सौत्रान्तिक को सूत्र विभज्यवादी या सूत्रवादी कहा जाने लगा।[५८] एक स्वतत्र दर्शन एव सप्रदाय के रूप मे विवक्षित होने के उपरान्त आगम एव युक्ति का अनुगमन करने के कारण सौत्रान्तिक दर्शन दो रूपो मे विकसित हुआ–यथा आगमानुयायी सौत्रान्तिक दर्शन एव युक्तानुयायी सौत्रान्तिक दर्शन।[५९] वसुबन्धु को आधार मानकर प्रत्यक्ष रूप से वैभाषिक दर्शन के विपरीत आगमानुयायी सौत्रान्तिक दर्शन खडा हुआ और युक्त्यानुयायी सौत्रान्तिक दर्शन धर्मकीर्ति रचित सप्तन्याय ग्रथो को आधार बनाकर तैथिक दर्शन के समक्ष खडा हुआ। सौत्रान्तिक दर्शन एव वैभाषिक दर्शन के मध्य अभिधर्म बुद्धवचन एव वस्तु स्वभाव इत्यादि के बारे मे मतभेद पाया जाता है। अभिधार्मिक दर्शन वस्तु को उत्पत्ति स्थिति भडग कालिक मानता है। उनके अनुसार वस्तु धर्म स्वभाव के रूप मे अतीत अनागत एव प्रत्युत्पन्न तीनो काल मे रहती है। इस तरह अनित्यता द्रव्य या धर्म स्वभावता है। सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार अनित्यता 'क्षण कालिकता' है।

---

५८ – शास्त्री, रिजवानुल्ला–––बौद्धदर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एक विमर्शात्मक अनुशीलन (शोध प्रबन्ध) – पृष्ठ ११७ – ११८

५९ – सोपा, जी० एल० एव हापकिस जाफरी –––– प्रेक्टिस एण्ड थियरी आफ तिब्बतेन बुद्धिज्म बी० आई० पब्लिकेशन, नई दिल्ली १९७६, पृष्ठ ६२

वस्तु का धर्म स्वभाव अतीत अनागत काल व्यापी न होकर प्रत्युपन्न होता है। इसके अनुसार अतीत अनागत मे वस्तु स्वभाव को मानने का अर्थ है कि प्रकारान्तर से आत्मवाद को मानना। जबकि वैभाषिक दर्शन चित्त विप्रयुक्त सस्कार के अन्तर्गत अतीत अनागत की द्रव्य सत्ता को स्वीकार करता है तथा नामकायादि को अतीत अनागत की वस्तु स्वभाव का द्योतक मानता है। इसी तरह सौत्रान्तिक एव वैभाषिक के मध्य बुद्धवचन, सूत्रशास्त्र, नामस्वभाव, वाक स्वभाव एव चित्तविप्रयुक्त सस्कार आदि को भी लेकर विरोध दिखाई देता है। सामान्य रूप से पदार्थो का वर्गीकरण रूप, चित्त चैत्तसिक, चित्त– विप्रयुक्त एव्र असस्कृत के अन्तर्गत किया जाता है।[60] लेकिन सौत्रान्तिक दर्शन केवल रूप,चैत्तसिक एव चित्त कीद्रव्यसत्ता को मानता है। इसके अनुसार चित्त विप्रयुक्त धर्म प्रज्ञप्ति मात्र है और असस्कृति धर्म अभाव मात्र है। केवल अरूप, रूप, निर्वाण एव व्यवहार 'प्रज्ञप्ति' परमार्थ धर्म है।[61] वैसे चित्त विप्रयुक्त के अन्तर्गत परिगणित होने वाले धर्मो की वस्तु स्वभावता को लेकर सौत्रान्तिक एव वैभाषिक के बीच अत्यधिक मतभेद है। सस्कृति अभिधर्म एव पालि अभिधर्म के मध्य प्रस्थान भेद चित्त विप्रयुक्त को लेकर है। सौत्रान्तिक दर्शन चित्त विप्रयुक्त को जड मूल से नही मानता है। इसका प्रमुख कारण है कि इसके बारे मे बुद्ध प्रमाण नही मिलता है।

सौत्रान्तिक दर्शन चित्त –विप्रयुक्त संस्कार के अन्तर्गत परिगणित नाम–पद व्यजनकाय की स्वभाविक सत्ता का खंडन करता है एव वैभाषिक दर्शन के विपरीत नाम काय आदि से अर्थ बोध न मानकर केवल घोष या वाक से अर्थ ज्ञान मानता है। इसके अनुसार 'वाक' घोष मात्र न होकर घोष विशेष है। जिससे अर्थ निकलता है। वाक् ही वर्ण समुदाय के रूप मे गृहीत होकर सकेतादि की अपेक्षा से अर्थ को अभिव्यक्त करता है।[62]

---

६० – सर्वोइये धर्मा पञ्यभवन्ति रूप, चित्त, चैतसिका चित्तविप्रयुक्ता,सस्कारा असस्कृत च।"
शास्त्री, द्वारिका दास————————अभिधर्मकोश भाष्य, पूर्वोल्लिखित पृष्ठ १८०,

६१ – शास्त्री, अवययास्वामी——आलम्बन परीक्षा, आड्यार लाइब्रेरी मद्रास १६४२, पृष्ठ ७०१

६२ – "वाक छब्द एवार्थेषु सज्ञा कर्तृकतावधि स्मृत्या ग्रृहीतावयव समुदाय श्रोतुर्त्थ प्रत्यायतीति किमन्यैनामादिभि परिकल्पितै। "जैनी पी० एस० – अभिधर्म दीप,
पूर्वाद्धृत पृष्ठ ११०

श्रोता एव वक्ता मे अमुक वाक् अमुक अर्थ की प्रतीति कराता है। ——— सकेत पहले से रहता है। एक शब्द से कई अर्थ की प्रतीति भी सकेत के आधार पर होती है।[६३] सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार शब्द या घोष वाक् सम्भव है जो वर्णनात्मक होता है। जिससे अर्थ प्रत्यायन क्रिया होती है। वर्णनात्मक शब्द सकेत आधारित होकर अर्थ की प्रतीति कराता है। इसलिए वाक् से अलग 'नाम्न' को अर्थ प्रत्यायन के लिय माना नही जा सकता है।[६४] वैसे 'नाम्न' भी सकेत के आधार पर ही अर्थ की प्रतीति कराता है। यह नाम्न नाम—स्वभाव न होकर शब्दो की रचना विशेष है जो स्वभाविक सत् या द्रव्यसत नही है। पक्ति या चित्तनुपूर्व नाम की वस्तु का अस्तित्व पिपिलिका पक्ति अथवा चित्तसतति से अलग नही होता है। चित्तसतति या पिपिलिका पक्ति का अस्तित्व तभी तक होता है जब तक चित्त या पिपिलिका अनुगमन होता रहता है। इसीप्रकार शब्द या वाक् से व्यतिरिक्त नाम नही होता है। शब्द ही नाम्न है। नाम्न की रचना विशेष गाथा है रचना विशेष द्रव्यसत् नही होता है इसी अर्थ मे नाम्न गाथा मे सन्निश्रित होता है। वैसे नाम अर्थ मे कृत सकेतात्मक शब्द है।[६५]

---

६३ – वाग्दिग्भूरश्मि वज्रेषु पशवक्षि स्वर्ग वारिषु। नवस्वर्थेषु मेघावी गो शब्द मुप धारयेत।। शास्त्री, द्वारिका दास – अभिधर्म कोश, पूर्वाद्धृत पृष्ठ २७२

६४ – न वय घोषमाण वागिति वर्णयाम, कश्चिदेवतु घोषो वर्णात्मक। सैव वाग्योऽर्थेषु कृताविधि। कृतमर्याद। ऐतेन सकेतापेक्ष शब्दाऽर्थ प्रत्याययति, न य कश्चिच्छब्द इति दर्शयाति, कृतसकेत शब्दोऽर्थ प्रत्याय यतीति। उपरिवत पृष्ठ २७२

६५ – तत्रार्थेषु कृतावधि शब्दो नाम, नाम्ना च रचना विशेषो गाथेति नाम सन्निश्रिता भवति। रचना विशेषत्त्च द्रव्याातत नोपपघेटे, पक्तिवत चित्तानुपूर्व्यवच्च। उपरियत, पृष्ठ २७५।

यह नाम प्रज्ञप्ति धर्म है। न कि द्रव्य धर्म है। प्रज्ञप्ति धर्म व्यवहार – मात्र या सवृत्तिमात्र होता है। इसका अपना स्वभाव नही होता है। क्योकि रूपादि की तरह इसकी उपलब्धि नही होती है।' इस प्रकार वाक् या शब्द से अलग नाम कायादि को द्रव्यान्तर रूप मे कल्पना करना बेकार है। ऐसा मानन से अतिरिक्त प्रयोजन की सिद्ध नही होती है।

भारतीय दर्शन मे योगदर्शन तथा व्याकरण दर्शन को छोडकर मीमासा दर्शन एव न्याय वैशेषिक दर्शन आदि ध्वनि रूप वर्णो से अथवा ध्वनि व्यग्य वर्णो से अर्थ प्रत्यय की उपपत्ति मानते है। सौत्रान्तिक दर्शन भी वर्ण या वाक् से अर्थ प्रत्यय को मानता है। लेकिन इसके अनुसार वर्ण नित्य न होकर अनित्य है। जैसा कि न्याय वैशेषिक भी सकेत के आधार शब्द से अर्थप्रत्यय को मानता है। नाम्न को द्रव्यसत् या स्वभाव सत मानने पर यह प्रश्न उठता है कि यह नाम्न वाक् से उत्पन्न है या प्रकाश्य है। यदि नाम्न को वाक् से उत्पन्न माना जाता है। तो इस प्रकार की स्थिति मे सभी वाक् से नाम्न को व्युत्पन्न स्वीकार करना पडेगा। परिणामस्वरूप पशु गर्जन या क्रन्दन से भी नाम्न की उत्पत्ति होगी लेकिन क्रन्दन या पशु गर्जन से अर्थ अवगत नही होता है। इसलिए यह स्वीकार करना पडता है कि वाक् घोष या घोष से नाम्न की उत्पत्ति होती है। इसलिए जो वाक् विशेष नाम्न को उत्पन्न करता है वही अर्थबोध कराने मे समर्थ हो सकता है।

---

६६ – 'सर्वथा प्रज्ञप्तिधर्मो न द्रव्यधर्म इति। सर्व प्रकारेण यधुत्पत्ति । हे तुर्यदि व्यवस्था हेतुर्यद्याश्रय विशेषो यद्याधिवासनाविनोदन वा, सर्वथा प्रज्ञप्ति धर्म। प्रज्ञप्त्या सवृत्या व्यवहारेण धर्म प्रज्ञप्तिधर्म'। न द्रव्यधर्म न द्रव्यतो धर्म, स्वभाव इत्यर्थ। अथवा द्धर्मश्च स द्रव्य धर्म। न रूपादिव विद्यमानश्च लक्षणो धर्म इत्यर्थ। उपरियत्– पृष्ठ २१८

फिर वाक् से अलग नाम्न को स्वीकार करना बेकार है। इसी प्रकार नाम्न को वाक् या घोष से प्रकाश्य या व्यग मानने पर सभी घोष से नाम्न को प्रकाशित मानना पडेगा। इस प्रकार की स्थिति मे सभी घोष या वाक् सार्थक सिद्ध होगे। यदि यह कहा जाता है कि वाक् या घोष विशेष नाम्न को प्रकाशित करता है तब उसी घोष विशेष से अर्थ भी प्रकाशित होगा। इसलिए घोष से अलग नामन की अभिकल्पना अतार्किक है।

वैभाषिक दार्शनिक नाम्न को द्रव्यसत् धर्म मानता है। किन्तु एक द्रव्यसत् धर्म का भागश उत्पत्ति सभव नही है। क्योकि शब्द उच्चरित एव ध्वस स्वभाव होने के कारण युगपद रूप मे ग्रहीत नही होता है। रूप' शब्द मे जब 'र' वाक् रहता है तब उकार, पकार, और अकार अनागत होते है।इसी तरह जब उकार, वर्तमान होता है तब 'र' वाक् अतीत हो जाता है। और पकार, अकार अनागत होता है।इसी क्रम मे पकार, अकार जब विद्यमान होते है।तब अन्यवाक् वर्तमान नही होता है।

---

६७ –"एव चेत सर्व घोष मात्र वृषभादिगर्जित माप नामोत्पादष्यिति, घोष स्वभावागिति कृत्वा। यादृशोवा घोष विशेषो इष्यते नाम्न उत्पादक स एवार्थस्य द्योतको भविष्यति।"
उपरिवत पृष्ठ २७२ ।

६८ –"अथ प्रकाशयति, घोषस्वभावत्वाद् वाच सर्वघोष मात्र नाम प्रकाशयिष्यति।
यादृशो वा घोष विशेष इष्यते नाम्न प्रकाशक, स एवार्थस्य द्योतको भविष्यति।
उपरिवत, पृष्ठ २७२ ।

६९ –"तनैव विचार्यते – इहोच्चरित प्रध्वसिन शब्द तस्मदेषा युगपद स्थान नास्ति। एकस्य च द्रव्यसतो धर्मस्य भागश खण्डश उत्पादो न युक्त। यदा हि रूपमिति च शब्दो वर्तमानो भवति तदा उकार पकाराकारा अनागता भवन्ति, यदा अकारो वर्तमानो भवति तदार शब्दोऽतीत पकाराकारा वनागतौ, एव पकाराकारवपि क्रमशो यदा वर्तमानो भवतस्तदा इतरे न वर्तमाना इत्येवम सा वाड ग नाम नैवोत्पादयेत। उपरिवत, पृष्ठ २७२ ।

इसलिए वाक नाम्न को उत्पन्न नही कर सकता है क्योकि वाक क्षणिक एव अनित्य है। क्षणिक वस्तु का अन्वय कत्तई सभव नही है। नाम्न को अक्षणिक स्वीकार करने पर भी अर्थ प्रत्यय नही हो सकता है। क्योंकि अक्षणिक वस्तु का भी क्रमिक ज्ञान अनुपपन्न होता है।[70]

सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार वाक् से नाम्न की उत्पत्ति अविज्ञप्ति की भाति नही हो सकती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार वाक् विज्ञप्ति अथवा कायविज्ञप्ति का पश्चिम क्षण अतीत क्षणो की अपेक्षा से अविज्ञप्ति को जन्म देता है।[71] इसी तरह वाक् का पश्चिम क्षण अतीत वाक् की अपेक्षा करक नाम्न को उत्पन्न करता है। सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार जो पश्चिम वाक् नाम्न को उत्पन्न कर देता है वही अर्थ को भी प्रतिपत्ति भी करा सकता है। इसलिए अर्थावबोध के लिए वाक् से पृथक नाम–निमित्त का मानने की आवश्यता नही है।[72]

---

७० – "योऽपि वैभाषिक शब्द विषय नामाख्य निमित्ताख्यम् चार्थचिन्हरूपम् विप्रयुक्त सस्कारमिच्छति, तद प्येतेनैव इषित द्रष्टव्यम्। तथा हितन्नामादि यदि क्षणिकम्,तदाऽन्वयायोग, अक्षणिकत्वे क्रमिक ज्ञानानुपपत्ति, बाहये च प्रवृत्यभाव प्रसग।

शास्त्री, द्वारिका दास ———— तत्वसग्रह पजिका पूर्वोद्धृत पृष्ठ ३५७ ।

७१ – विक्षिप्ता चित्त कस्यामि योऽनुबन्ध शुभाशुभ। महाभूतान्युपादाय सा ध्या विज्ञप्ति रूच्यते।।

उपरिवत, कारिका १/११

७२ – कथ तावदतोतपेक्ष पश्चिमो विज्ञप्तिक्षण उत्पाद यत्य विज्ञप्तिम्। एव तर्हि पश्चिम शब्दे एव नाम्ना उत्पादाद योऽपि तमेवैक श्रणोति सोऽप्यर्थ प्रतिपद्येत।" उपरिवत – पृष्ठ २७३

यह भी नही कह सकते है कि 'रूप' शब्द या नाम मे वर्तमान 'र' शब्द पूर्व भाग को व्युत्पन्न करता है। वर्तमान 'उ' शब्द द्वितीय भाग को और इसी तरह 'प' और 'अ' शब्द या वाक् नाम्न का खण्डश उत्पाद करने मे समर्थ नही है, क्योकि नाम्न एक धर्म है। वाक् के युगपद प्राप्ति के अभाव मे व्यजन का भी उत्पाद सभव नही है। व्यजन के अनुत्पन्न होने से "नाम्न" की भी उत्पत्ति नही होती है। इस प्रकार की स्थिति मे 'नाम्न' से अर्थ–प्रत्यय का प्रश्न ही नही उठता है क्योकि व्यजनो का सामग्रय सभव नही होता। इस तरह सौत्रान्तिक दर्शन का कथन है कि वाक से व्यजन, व्यजन से नामन एव नाम्न से अर्थ मे प्रवृत्ति नही होती है।" इसलिए नाम निमित्त का भागश उत्पाद या प्रकाशन सभव नही है। वाक् न तो व्यजन की प्रकाशिका है न उत्पादिका है। एव व्यजन की तरह वाक् 'नाम' को भी न तो उत्पादिका है न प्रकाशिका है।" सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार वर्ण एव वाक एक दूसरे से अभिन्न है। इसलिए वाक् से वर्ण की उत्पत्ति नही होती है।

---

७३ – वर्तमानो र शब्दस्तस्य रूपानाम्ना पूर्वभागमुत्यादयति, अशव्दोऽपि वर्तमानो द्वितीय भागम एव यावदाकार शब्दस्तस्य चतुर्थ भाग मुत्पादयतीति। तद युक्ताम, एकस्य धर्मस्य भागश उत्पादासम्भवादिति। – उपरिवत, पृष्ठ २७२

७४ – वाग व्यजन जनयति, व्यञ्जन तु नाम जनयति। अत्रापि स एव प्रसगो व्यञ्जनाना सामग्रयाभवात् । कथम । न खलु व्यजना सामग्रयमस्ति। – उपरिवत, पृष्ठ २७३ – ७४

७५ – एष एव तु प्रसङगो नाम्न प्रकाशकत्वे वाच.। व्यञ्जन चापि वाग्विशिष्ट प्राज्ञा अव्यवहित चेतस्कालाक्षणत परिच्छेत्तु नोत्साहन्तइतिव्यजनस्यापि वाङ् नैवोत्पदिका, न प्रकाशिका युज्यते।" उपरिवत, पृष्ठ २७४

न्याय वैशेषिक दर्शन की तरह सौत्रान्तिक दर्शन यह स्वीकार करता है कि वर्ण या वाक् क्रमशः उच्चरित होकर सस्कार छोडते है। इस प्रकार सस्कार रूप मे उपलब्ध शब्द ही सकेत के आधार पर वस्तु का वाचक होता है। सकेत के आधार पर 'नामन' भी अर्थबोध कराता है। इसलिए नाम्न या शब्द को सवस्तुक या अर्थसहज नही कह सकते है। यदि नामन अर्थ सहज है तो उस वाक् से उत्पन्न कहना तर्कसगत नही है। नाम्न को अर्थ सहज मानकर अतीत अनागत एव असस्कृत वस्तुओ की व्याख्या नही हो सकती।[76]

अक्सर यह देखा जाता है कि वस्तु अतीत या अनागत होने पर व्यवहार मे उसका नामन प्रयोग होता है। माता–पिता अनागत पुत्र का 'नाम' करते हुए देखे जाते है। असस्कृत धर्मो का 'नाम' अर्थसहज नही हो सकता है क्योकि असस्कृत वस्तु तो अनुत्पन्न ही होती है। ऐसी स्थिति नाम्न को अर्थसहज कैसे माना जा सकता है।[77]

---

७६ –"अथाप्यर्थसहज नाम जात्यादिवदिष्यते। एव सत्यतीतानागस्यार्थस्य वर्तमान नाम न स्याद्। अपत्याना पितृभिर्यथेस्टम् नामानि कल्प्यन्त इति कतमन्नाम तत् सहज स्यात्। असस्कृताना च धर्माणा सहज नाम न स्यात्। इत्यनिष्टिरेवेयम्। --- उपरिवत, पृष्ठ २७४

७७ –" नामकायादयो वक्तव्य न खलु वक्तव्या न हि ते शब्दात् अनये विद्यन्ते, स्वभाव करियाभवाद इति तद्उपदर्शनार्थम्इदम्आरभ्यते।" जैनी,पी०एस०--------अभिधर्मदीप, पूर्वोद्धृत पृष्ठ ११२

इसलिए वसुबन्धु अनुयायी सौत्रान्तिक दर्शन के विचार मे शब्द ही नाम्न है। शब्द से अलग नाम निमित्त का स्वभाव नही होता है। शब्द या नाम्न सकेत पूर्वक अर्थ का बोध कराता है। नाम्न को अर्थसहज मानना बेकार है।

वसुबन्धु के अनुयायी सौत्रान्तिक जहा एक तरफ चित्त विप्रयुक्त सस्कार की परिकल्पना का खडन करते है। वही दूसरी ओर धर्मकीर्ति मत के समर्थक (अनुयायी) सौत्रान्तिक दर्शन चित्त विप्रयुक्त सस्कार को मानता है। लेकिन यह वैभाषिक दर्शन की भाति चित्त से व्यतिरिक्त चित्त विप्रयुक्त सस्कार को न मान कर साकार विज्ञान मे ही चित्त विप्रयुक्त सस्कार की उद्भावना को स्वीकार करता है। इसके अनुसार चित्त विप्रयुक्त–सस्कार विकल्प बुद्धयात्मक है। यह विकल्प बद्धि बाहय वस्तु न का प्रतिभास करते हुए उत्पन्न होती है तथा विकल्प बुद्धि बुद्ध याकार को बहिस्त्वेन निश्चित करती हुई व्युत्पन्न होती है। इस तरह बुद्धि अपने ही अश का अवग्रहण करती है। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन निराकार विज्ञान वादी होने के कारण वाहयार्थ परिभाषित करने वाले ज्ञान को नही मानता है। यदि वह ऐसा मानता है तो अपने प्रस्थान को ही जड मूल से नष्ट करता है। अत निराकार बुद्धियादी वैभाषिक मत मे वाहयार्थ का प्रतिभास करने वाली ज्ञानाकार बुद्धि के उपपन्न न होने के कारण नामा–दिविषयक ज्ञान अर्थ का निश्चय करते हुए वस्तु या अर्थ मे प्रवृत्त नही हो सकता है। लेकिन वैभाषिक

---

७८ –"अन्यत्र नामादि विषयिणी ज्ञाने तदर्थाध्यवसायात् अर्थेप्रवर्तन न युक्त, निराकार बुद्धिवादि वैभाषिक मते बाहयार्थ प्रतिभाषाया ज्ञानाकारायाधि योऽनुपगमत।"शास्त्री, द्वारिका दास––––––प्रमाणवार्तिक पूर्वाद्धृत पृष्ठ १०५

दर्शन का कहना है कि जिस प्रकार साकार विज्ञानवाद मे शब्द की प्रवृत्ति ज्ञानाकार मे न होकर वस्तु मे होती है। उसी तरह शब्द की प्रवृत्ति नाम निमित्त मे होती है। और नाम निमित्त वस्तु को व्यक्त कर देता है। क्योकि नाम निमित्त एव वस्तु मे सारूप्य होता है। जिस प्रकार साकार ज्ञानवादी ज्ञानाकार एव वस्तु के मध्य सादृश्य या सारूप्य के आधार पर वस्तु मे प्रवृत्ति अनादि–अविद्या के कारण होती है। इसलिए बुद्धि या शब्दीधी अपने ही अश का बाहय रूप मे निश्चय करती हुई वस्तु मे प्रवृत्ति होने के कारण भ्रान्त होती है। शब्द ही वस्तु मे प्रवृत्ति सक्षात न होकर सामर्थ्य से होती है। शब्द ज्ञान निराकार विज्ञानवाद मे नाम निमित्त को ही वस्तु रूप मे निश्चित करता हे इसलिए शब्द की प्रवृत्ति नाम निमित्त मे हो सकती है न कि वस्तु मे हो सकती है। 'देवदत्त' कहने पर देवदत्त मे प्रवृत्ति होगी उनके पिता मे प्रवृत्ति नही होगी।

युक्तानुयायी सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार भ्रान्तज्ञान भी अविसवादी होता हे। जैसे– मणि प्रभा को देखकर 'मणि' समझने वाला ज्ञान भ्रान्त होते हुए भी अर्थ क्रियार्थी को मणि प्रभा के आधार पर 'मणि' का

---

७६ –"न ज्ञाने ज्ञानाकारे वाच्चेऽर्थेऽप्रवर्तन तुल्य। दिमस्तथाविधाया बहिस्त्वेना ध्यवसिता कराया उत्पर्यातित। शब्द जनिता हि बुद्धिर्वस्तुत. स्वाशालम्बना प्यानाद्य विधवशाद बहिर्बिषया व्यवसीयत इति युक्तमर्थे प्रवर्तनम। उपरिवत, पृष्ठ १०५

८० –"न हि देवदत्त प्रतिपादिते तत् पितरिप्रवृत्त। उपरिवत, पृष्ठ १०५

प्राप्त करा देने के कारण अविसवादी होता है।[81] लेकिन भ्रम वश वस्तु मे प्रवृत्ति कभी–कभी होती है। सदैव नही होती है। यमलक मे कभी–कभी भ्रम के कारण एक को दूसरा समझ लिया जाता है लेकिन उनमे कभी–कभी सही प्रवृत्ति भी हो जाती है।[82] सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार भ्रम देशान्तर मे विद्यमान वस्तुओ के मध्य न होकर नियत देश मे होता है। इस तरह शब्द की प्रवृत्ति नाम्न मे और नाम्न के प्रवृत्ति अर्थ मे भ्रम वश नही हो सकती है। नामन या शब्द का श्रोता या वक्ता के साथ एक नियत देश मे सबन्ध होता है। एक नियत देश मे विद्यमान नाम निमित्त का अन्य देश मे विद्यमान वस्तु के साथ सदृश्य के आधार पर प्रवृत्ति नही हो सकती है।[83] तथा नाम निमित्त वक्ता या श्रोता से भी सबन्धित या असबन्धित होकर अर्थ प्रतीत कराने मे समर्थ नही है। यदि वैभाषिक दर्शन भ्रमवश नामन की प्रवृत्ति अर्थ

---

८१ –"मणि प्रदीप प्रमयोर्मणि बुद्धयाभिधावतो मिथ्या ज्ञान विशेषेऽपि विशेषोऽर्थ क्रिया प्रति। यथा तथा यथार्थऽवेप्युनुमान तदाभयो। अर्थक्रिया नुरोधेन प्रमाणत्व व्यवस्थितम्। उपरिवत, कारिका प्रत्यक्ष ५७–५८

८२ –"निमित्तस्यार्थ सारूप्यात तद भ्रान्तितोऽर्थे प्रवृत्तेश्च। सम्भात्यत एतत,किन्तु न स्याद सर्वदा। न हि यमलकयोर्निभमेन भ्रान्त्याऽन्यत प्रवृत्ति कदायिततत्रापिदर्शनात् । तथा देशभ्रान्तिश्च न स्यात्।" पूर्वोक्त पृष्ठ १०५

८३ –"देश भ्रान्तिश्च, न ज्ञाने तुल्यमुत्पत्तितो धिय । तथा विधाया, अन्यत्र तत्रानुपगभाद् धिय । उपरिवत, कारिका प्रत्यक्ष । १३ वक्तृश्रोता दिसम्बन्धिनि नियत देशे नामादौ प्रतिपादते तदन्य देशे घटादौ सारूप्यादपि न युक्ता प्रवृत्ति । पूर्वोक्त – १०५

मे स्वीकार करता है तो वह अपने को साकार विज्ञानवाद मे आपतित कर लेने पर चित्त से व्यतिरिक्त चित्त विप्रयुक्त ससकार की स्थापना अप्रमाणिक हो जाती है।

धर्म कीर्ति के अनुयायियो के अनुसार वैभाषिक दर्शन जिस रूप मे चित्त से व्यतिरिक्त नाम्न आदि को चित्त विप्रयुक्त सरकार को मानता है। उस रूप मे ज्ञान मे चित्त विप्रयुक्त आकार अवभासित नही होता है। इसलिए ज्ञान के अलावा चित्त विप्रयुक्त सरकार की कल्पना अप्रमाणिक है। नाम निमित्त का वस्तु के साथ अन्वय–अतिरेक व्याप्ति भी असिद्ध है। नाम निमित्त इन्द्रियो के होने पर भी वस्तु का ज्ञान तब तक नही होता है जब तक नाम्न या शब्द का अर्थ के साथ सकेत नही होता है। शब्द को सुनकर सकेत के आधार पर अर्थ की प्रतिपत्ति होती है जबकि वैभाषिक नाम्न का वस्तु के साथ सकेत नही स्वीकार करता है। यह कहना कि सभी ज्ञान अर्थवान होने के कारण प्रमाणिक होते है। शब्द ज्ञान भी अर्थवान होता है। अत नाम्न शब्द का विषय है।[८५]

---

८४ –"यदि ज्ञेयाकारा बुद्धि स्यात, स्यात् तत्प्रतीत्याऽभिमानात् प्रवृत्ति रेपि अप्रवृत्तिदोष दर्शनाद् वहियार्य प्रतिमासाया बुद्ध रूपाये स्वीकारे वा प्रमाणता नामादे विप्रयुक्त ररस्य विज्ञान व्यतिरिक्तस्य। उपरिवत, पृष्ठ १०५

८५–"नन्वरितप्रमाणम्, सर्वस्य ज्ञानस्यार्थवत्वात्। शाब्दमपिज्ञानकर्थवदेवपारिशेष्यान्नामदिक मेवति। उपरिवत, पृष्ठ १०६

सौत्रान्तिक दार्शिनिको के अनुसार सभी ज्ञान अर्थवान नही होते है। स्वप्न जगत मे वस्तु नही होती है फिर भी वस्तु विषयक ज्ञान होता है और तैमरिक राग से ग्रसित मनुष्य को वस्तु के न रहने पर तद विषयक ज्ञान होता है। अत नाम्न को सवस्तुक मानना उचित नही हे।

वैभाषिक दार्शनिक के अनुसार स्वप्न जगत मे वस्तु नही होती है।लेकिन नाम निमित्त होता है। अत स्वप्न ज्ञान चित्त विप्रयुक्त सस्कार से विरहित नही होता है। इस पर सौत्रान्तिक दर्शन का कहना है कि स्वप्न ज्ञान मे प्रतिभासित होने वाली वस्तुए वर्ण सस्थानात्मक होती है जबकि नाम निमित्त वर्ण सस्थान से रहित होता है। स्पप्न मे प्रतिभासित वस्तुए प्रतिघात से रहित होती है अत स्वप्न मे परिभासित वस्तुए सत नही होती है। जो सत होता हे वह प्रतिघात युक्त होता है। स्वप्न मे रहने वाली वस्तु अपने ही देश मे रहने वाली वस्तु से प्रतिघात नही करती है। जबकि स्वप्न मे प्रतिभाषित नीलादि वर्ण सस्थानात्मक होता है। स्वप्न मे शैया पर लेटा व्यक्ति दरवाजा बन्द होने पर भी कमरे स बाहर

---

८६ – स्वप्नदो, आदि शब्दात् तैमारिक ज्ञानादिषु अन्यथाअर्थशून्यस्येक्षणात सर्वज्ञानार्थवत्वाच्छाब्दस्य नामादि विषयत्वा नुमानम युक्तम्।। शास्त्री, द्वारिका दास – मनोरथनन्दि टीका, उपरिवत पृष्ठ १०६

८७ – सर्वज्ञानार्थवत्वाच्चेत् स्वप्नादावन्यक्षणात्। अयुक्त,न च सस्कारान्नीलादि प्रतिभासत। उपरिवत,कारिका, प्रत्यक्ष १५

चला जाता है। या स्वप्न मे हाथी बदकमरे मे प्रवेश कर जाता है। सौत्रान्तिक दार्शिनिको के अनुसार स्वप्न की वस्तुए ज्ञानात्मक होने के फलस्वरूप स्वय वेद्य एव विशेषात्मक होती है। स्वप्नगत नीलादि का ज्ञान स्वप्न देखने वाले को ही होता है। स्वप्न मे दिखाई देने वाले अन्य लोग नीलादि से अनभिज्ञ होते है। इसलिए स्वप्न मे प्रतीत होने वाला नाम निमित्त भी ज्ञानात्मक होने के कारण सामान्य न होकर विशेष रूप ही होगा। वह भी एक स्वप्न एव एक देश मे स्थित व्यक्तियो का भिज्ञ न होकर केवल स्वय को ही भिज्ञ होगा। इस प्रकार की स्थिति मे नाम निमित्त सवस्तुक न होकर अवस्तुक ही होगा। सौत्रान्तिक दार्शिनिको अनुसार सामान्य ज्ञान अवस्तुक होता है। क्योकि वस्तु विशेष होती है। सामान्य ज्ञान सस्कार से उत्पन्न होता है। 'घट' कल्पनाधी 'घट' वस्तु न रहने पर भी होती है। यह कल्पना वास्तविक न होकर मनस्कारोभूत होती है। अत कल्पना अर्थवती नही होती है। जबकि इन्द्रियानुभव रूपादि से उत्पन्न होने के कारण अर्थवान होता है। इसलिए 'रूपादि' स्वाभावसत या वस्तुसत होने के कारण शब्द का विषय नही होता है। शब्द का विषय सामान्य लक्षण होता है। जो रूपादि की

---

८८ – स्वप्नप्रतिमासि न नीलादिवस्तु अप्रतिघातात्। नीलादयो हयूर्था स्वदेशे पदार्थन्तरस्य व्याधाताका, स्वप्नोपलब्धातु नैवम, विहित द्वारा करकोदर सुप्त स्थानान्तर गमनात् हस्तियूथादि दर्शनात्।''– उपरिवत पृष्ठ १०६

८६ – नीलाधि प्रतिघातान्न, ज्ञान तद् योग्यदेशकै। अज्ञातस्य स्वय ज्ञानात् नामाद्येतेन वर्णितम्। पूर्वोक्त,कारिका प्रत्यक्ष १६/

भाति स्वभाव नही होता है। शब्द को राविषयक स्वीकार करने पर अथवा स्वभाव मानने पर अक्ष वैकल्पता का प्रसग खडा हो जायेगा। सौत्रान्तिको के अनुसार शब्द ज्ञान एव इन्द्रिय ज्ञान मे मूलभूत अन्तर होता है। इन्द्रियज्ञान का विषय स्वलक्षण होता है।जबकि शब्द ज्ञान का विषय सामान्य लक्षण होता है।

सौत्रान्तिक दार्शिनिको के अनुसार नाम निमित्त को अर्थ से सम्बन्धित मानकर या अर्थ सहज स्वीकार कर भी नाम– निमित्त की अर्थ मे प्रवृत्ति नही हो सकती है। क्योकि अक्सर यह देखा जाता है कि जो वस्तुए नही होती है। या होने वाली होती है उनके भी नाम होते है। जैसे – मान्धाता हुए थे अथवा शख के नाम के चक्रवर्ती राजा होगे। '

---

६० – ''अपि च यैव रूपादि विषयत्वेनेब्टा सैव चक्षुरादिमतिरर्थवती केन हेतुना मता। अर्थस्य रूपादेश्च क्षुरादिमति जनने साभर्थ्यदृब्टेश्चेत। अन्यत् समान्य विषय विकल्प ज्ञानमनर्थक प्राप्तम्नहि यथाचाक्षुरादि बुद्धेरर्थ व्यतिरेकाद् व्यतिरेक, तथा सामान्य बुद्धेर्व्थतिरेक, आभोगमात्रेण भावात्। उपरिवत् – पृष्ठ १०७''इत्याह – साफल्यादक्ष सहते। यदि शब्द विषयोवस्तुभवेत, तदारूपादि शब्दादेवार्थादेरपि रूपादि प्रतीतौन किञ्चिद् अक्षै न चैवम्, ततो वस्तु विषयेणेन्द्रिय ज्ञानेन शब्दस्य न तुल्य विषयता। – पूर्वोक्त पृष्ठ १०४

६१ – न केवल वक्तृश्रोतृ सम्बन्धिनी, असम्बन्धेऽपि नामादावर्थे प्रवृत्ति स्यात्। अर्थ सम्बन्धात नामाधर्थे प्रवृत्यर्थ यदीष्यते, तदा अतीतानागत नामादि तद्भिधायिना शब्दाना वाच्य न स्यात अभूत मान्धाता भविब्यति शेखश्चक्रवर्तीति। पूर्वोक्त, पृष्ठ १०७

इस अतीत एव अनागत नामादि काया इसका अभिधाम करने वाले शब्द का वाच्य कौन है जब वस्तु हा चुकी है या होगी। इसलिए अनिर्धारित स्वरूप वाले वस्तु के साथ नामनिमित्त का सम्बन्ध मानना तर्कसगत नही है। इसीप्रकार नामनिमित्त को श्रोता या वक्ता से भी सम्बन्धित अथवा असम्बन्धित मानकर भी अर्थ मे प्रवृत्ति को नही माना जा सकता है। इसलिए नाम निमित्त अर्थ सहज या सवस्तुक नही होता है।

इस तरह शब्द के अभिधेय के रूप मे नाम निमित्त का सिद्धान्त तर्कसगत नही है। नाम निमित्त को अर्थ सहज भी नही माना जा सकता। वैसे नाम निमित्त कल्पना है। और कल्पना सवस्तुक न होकर अवस्तुक होती है। सौत्रान्तिक दार्शिनिको के अनुसार सज्ञा या नाम्न वस्तु स्वभाव को व्यक्त नही करते है। क्योकि सज्ञा या नाम का साक्षात विषय अवस्तु रूप 'सामान्य' होता है न कि वस्तुरूप। अत शब्द की प्रवृत्ति विधि रूप मे न होकर अन्यापोह के रूप मे होती है। वैभाषिक एव सौत्रान्तिक दर्शन के मध्य मतभेद 'निमित्त' को लेकर है। वैभाषिक दार्शिनिको के मतानुसार 'निमित्त' सवस्तुक होता है। इसलिए नाम स्वभाव होता है। लेकिन सौत्रान्तिको के मतानुसार 'निमित्त' कल्पना प्रसूत होती है। अत शब्द ज्ञान अपने ही अश को विषय वनाकर अविधा वश वाहय विषय का निश्चिय करता है। शब्द का वस्तु के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध होता है। प्रत्यक्षत वस्तु विधि रूप मे ग्रहीत होती है। और अपरोक्षत निषेधरूप मे ग्रहीत होती है।

---

६२ – न तद् वस्त्वभिधेयत्वात् साफल्याद ससहते। नामादि वचने वक्तृश्रोतृवाच्यानुबन्धिनि। पूर्वोक्त, कारिका प्रत्यक्ष/११अप्रवृत्तिर सम्बन्धे ऽप्यर्थ सम्बन्धवद् यदि। अतीतानागत वाच्य न स्यादर्थेन तक्ष्यतात्।। पूर्वोक्त, कारिका प्रत्यक्ष/१८

थेरवाद सिद्धान्तः नाम – पञ्ञतिवाद

स्थविर दर्शन या थेरवाद शब्दार्थबोध या शब्दबोध का निरूपण चित्त विश्लेषण प्रतिक्रिया के अन्तर्गत करता है। वह चित्र विश्लेषण पूर्वक अध्यात्मिक मनोविज्ञान की स्थापना करते हुए व्यक्ति के इहलौकिक मनोदशाओ एव भावनाओ के साथ लोकोत्तर मानसिक अवस्थाओ का भी अध्यात्मिक विश्लेषण करता है। यह अध्यात्मिक विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के विश्लेषण से अलग है। आधुनिक मनोविज्ञान मानवीय मानसिकता भावनाओ तथा व्यहार का विश्लेषण धार्मिक, अध्यात्मिक एव तात्विक परिप्रेक्ष्य मे नही करता है। आधुनिक मनोविज्ञान का स्वरूप मूल्यत नीति निरपेक्ष है। जबकि थेरवाडी दर्शन अपने सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य मे एक नैतिक धार्मिक एव तात्विक मनोविज्ञान है।'' स्थाविर दर्शन कई धर्मो का मानसिक धरातल पर विश्लेषण करता है। सुत्तपिटक मे 'धर्म' का तार्किक एव मनोविज्ञानिक विश्लेषण ही अभिधर्म दर्शन है। वैसे अभिधर्मदर्शन एक क्रमबद्ध एव सुव्यवस्थित दर्शनशास्त्र न होकर साधना या यौगिक अन्तरर्ध्यान मे लगे भिक्षु के मनयाचित्त का मनोविश्लेषण मात्र है।

थेरवादी दर्शन मे शब्द या नाम एव वस्तु या अर्थ दोनो प्रज्ञप्तिया है। इनमे शब्द या नाम प्रज्ञप्ति के माध्यम से अर्थ प्रज्ञप्ति का बोध होता है। परमार्थ एव प्रज्ञप्ति के मध्य भेद होता है। प्रज्ञप्ति धर्म व्यहार मात्र या सज्ञा मात्र होता है। जबकि परमार्थ धर्म वस्तुसत होता है। परमार्थ धर्म का कभी अपलाप नही होता है।

---

६३ –''गोविन्द, लामा अनागरिक ––––––दि साइकोलाजिकल एटिच्यूट आफ अर्ली बुद्धिस्ट फिलास्फी राइटर, एण्ड क०, लदन, १९६९, पृ० ३५ –३७

वह अविपरीत तथा यथार्थ होता है जहा साधारण मनुष्य, पर्वत, पशु,इत्यादि प्रज्ञप्ति धर्मो को देखता है। वही पृथग्जन एव अर्हत प्रज्ञप्ति धर्मो को परमार्थ देखता है जैसे मनुष्य को कलाप समूह के रूप मे देखना। ''इस प्रकार नाम एव अर्थ परमार्थत कलापसघात मात्र है। परन्तु मनुष्य इन्हे प्रज्ञप्ति रूप मे देखता है और इसी प्रज्ञप्ति धर्म मे नित्यता का आरोप कर देता है। बुद्ध भी बहुधा अर्थ प्रतिलाभ के रूप मे अतीत, अनागत,प्रत्युत्पन्न दूध, दही, घी, इत्यादि को नाम प्रज्ञप्ति अभिहित करते हैं जिनका अपना कोई स्वभाव नही होता है। अभिधम्म विपक एव अटटकथओ मे 'प्रज्ञप्ति' के बारे मे अनेक प्रकार से विश्लेषण करते हुए 'नाम प्रज्ञप्ति' को चतुर्धा स्वीकार गया है। यथा अवस्थाधारित नाम गुणाधारित नाम,यदृच्छानाम एव औत्पत्तिक नाम। इनमे औत्पत्तिक नाम नित्य होता है। थेरवादी दर्शन के अनुसार कुछ वस्तुए अपने नाम के साथ उत्पन्न होती हैं। जैसे वेदना,सज्ञा,सस्कार, और विज्ञान। वेदना आदि के उत्पन्न होने पर वेदना आदि 'नाम' भी उत्पन्न होता है। वेदना को तीनो काल मे वेदना ही कहा जाता है। वैभाषिक दर्शन भी औत्पत्तिक नाम को अर्थ सहज स्वीकर करता है। इसके अनुसार अर्थ सहज नाम अपौरूषेय होता है। स्कन्ध,आयतन,और धातु इसी अर्थ मे अपौरूषेय होते है। परन्तु थेरवादी दर्शन एव वैभाषिक दर्शन मे 'नाम प्रज्ञप्ति' के बारे मे मौलिक मतभेद है। जहा थेरवाद 'नाम प्रज्ञप्ति' को प्रज्ञप्तिसत स्वीकार करता है। वही वैभाषिक दर्शन नाम निमित्त को द्रव्यसत मानता है।'

---

६४ – ''शास्त्री रिजवानुल्ला ------ बौद्ध दर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एक विमर्शात्मक अनुशीलन 'शोधप्रबन्ध' पृष्ठ ८२ ।

स्थाविर दर्शन के अनुसार नाम प्रज्ञप्ति के माध्यम से अर्थ प्रज्ञप्ति का ज्ञान होता है। 'प्रज्ञप्ति' का तात्पर्य 'प्रज्ञापन मात्र' करना है। प्रज्ञापन मे इच्छा प्रमुख होती है। एव इच्छा सकेता धारित होती है। यह सकेत स्वय व्यवहाश्रित होता है। इस तरह प्रज्ञप्ति सज्ञा भाति या व्यवहार मात्र होती है। 'रथ' आदि वस्तुए प्रज्ञप्तिया है क्योकि दण्ड,चक्राहि से अलग 'रथ' नामक वस्तु सत नही होती है। इसी तरह रूप वेदना, सज्ञा,सस्कार एव विज्ञान से अलग 'आत्मा' वस्तु सत नही है। परन्तु व्यवहारार्थ पञ्चस्कधो मे आत्मा को प्रज्ञप्त कर लिया जाता है।[95] अत प्रज्ञप्तिया सदैव असत् न होकर परमार्थ धर्म का सार होती है। क्योकि प्रज्ञप्ति धर्म का विश्लेषण करने पर अततोगत्वा 'अष्ट कलाप' की प्राप्ति होती है। यह अष्ट कलाप परमार्थ धर्म है। इसलिए प्रज्ञप्ति धर्म एकागी रूप से अस्तित्ववान होने के कारण सज्ञा मात्र होते है। प्रज्ञप्ति धर्म असस्कृत एव काल विमुक्त धर्म है। क्योकि ये उत्पत्ति स्थिति एव भडग के नियम से बहिर्भूत होते है। अभिधर्म दर्शन मे चित्त, चैतसिक, रूप एव निर्वाण के साथ प्रज्ञप्ति धर्म को परिगणित किया गया है।

स्थविरवाद के अनुसार गुण, द्रव्य, कर्म आदि प्रज्ञप्तिया है। जिनको वस्तु पर आरोपित करके गमन आदि का विधान किया जाता है। वैसे न कोई जाने वाला है न कोई जाता है। केवल कलाप समूह ही प्रवर्त्तमान होता है। लेकिन 'प्रज्ञप्ति' वशात 'मनुष्य' चलता है। यह निरूपित की जाती है। परमार्थ एव प्रज्ञप्ति का भेद बौद्ध दर्शन मे प्रारभ से ही दिखाई पडता है।

---

९५ – काश्यम, भि० ज० – मिलिन्द प्रश्न, जेतवन महाविहार पालिसस्थान, श्रावस्ती, १९७२, लक्षण सुत्र पृष्ठ ३३

९६ – देवधम्म, भ० और त्रिपाठी रा० श० पूर्वोल्लिखित पृष्ठ ८ १०

वस्तु के अभिधान के कई रूप है। जिनमे अर्थप्रज्ञप्ति एव नाम प्रज्ञप्ति प्रमुख है। शब्द या नाम द्वारा वस्तु का अभिधान करना नाम–विप्राप्ति कहलाता है ओर स्वय प्रज्ञाप्त वस्तु अर्थ प्रज्ञप्ति होती है। इस प्रकार नाम नामधेय नामकर्म एव अभिलाप आदि की अभियोजना 'नाम प्रज्ञप्ति है' शब्द या नाम की अर्थ मे प्रवृत्ति होती है।[99] नामकर्म वस्तु का नामकरण है 'वस्तु' नाम को धारण करने की वजह से नाम धेय है। यह सभी धर्मकाल विमुक्त धर्म है जो केवल लोक व्यवहार के निमित्त मात्र होते हैं। इन सभी के अभाव मे वस्तु का अविधान असभव होता है।[100]

---

६६ – "ततो अवसेसा पञ्ञति पन पञ्ञर्पियत्ता पञ्ञति, पञ्ञापनतो पञ्ञत्तीति च दुविध होति।" "पञ्ञापीयत्ता ति तेन–तेन पकारेन ञायेतब्बता, इमिनारूपादि धम्मान समूह सन्तानादि अवत्था विसेसादि–भेदा सम्मुतिसच्चभूता उपादा पञ्ञत्तिसङगाता अत्थपञ्ञत्ति कुत्ता। सा नाम पञ्ञात्तया पञ्ञापीयति पञ्ञापनतोति पकारेहि अत्थपञ्ञत्तिया ञापनतो, इमिना हि पञ्ञापेतीति पञ्ञत्तीति लद्धनामान अत्थान अभिधान सङगाता नाम–पञ्ञत्ति वुत्ता।" रेवत धम्म भदन्त, त्रिपाठी रा० श०–पूर्वोल्लिखित पृ० – ८४६

१०० – 'सूत्रेऽपि चोक्तम् –"स्वार्थ सुत्यञ्जनम' इति। शास्त्री, द्वारिका दास – अभिधर्मकोश, पूर्वो० पृ० ८६१

१०१ – "अत्था यस्सानुसारेन विञ्ञायन्ति ततो पर। साय पञ्ञत्ति विञ्ञेय्या लोकसकेत निम्मिता।। खत धम्म भदन्त, त्रिपाठी रा० श० –– पूर्वो० का० ६/४५

ये सभी नाम प्रज्ञप्ति के रूप मे प्रत्युत्पन्न–अतीत अनागत एव उत्पाद स्थिति नित्य स्वभाव है। न कि भग स्वभाव। अत समस्त अभिधान सकेता धारित होते है। थेरवादी दर्शन के अनुसार नाम प्रज्ञप्ति अर्थ प्रज्ञप्ति भेद से छ प्रकार की होती है। जैसे– विद्यमान, अविद्यमान, विद्यमान,–अविद्यमान, अविधमान,– विद्यमान, विद्यमान, विद्यमान, एवं अविद्यमान अविद्यमान।[102] इनमे विद्यमान प्रज्ञप्ति परमार्थरूप से विद्यमान वस्तु का प्रज्ञापन करती है क्योकि नाम प्रज्ञप्ति की योजना परमार्थ धर्मो का अभिलक्षित करके होती है। इस प्रकार जो वस्तु स्वभावत विद्यमान रहती है। उसका निर्वाचन अविद्यमान प्रज्ञप्ति के द्वारा होता है। जैसे– पर्वत, भूमि आदि। परमार्थ अविद्यमान एव विद्यमान वस्तुओ का प्रज्ञापन करने वाले प्रज्ञप्ति को विद्यामन अविद्यमान प्रज्ञप्ति कहते है। जैसे षडभिज्ञ पुदगल। थेरवाद मे छ अभिज्ञाये परमार्थ रूप से रहती है। परन्तु पुदगल का स्वभाविक अस्तित्व नही होता है। इसी प्रकार कुछ वस्तुए जो परमार्थ विद्यमान भी होती है और विद्यमान भी होती हैं। जैसे 'गो शब्द' 'मेरी शब्द' 'स्त्री शब्द' आदि मे गो, मेरी, स्त्री, अविद्यमान वस्तुए है। क्योकि इनका स्वभाविक अस्तित्व नही होता है। लेकिन इनमे प्रयुक्त शब्द 'सलक्षण' है क्योकि 'शब्द' धर्म होने के कारण परमार्थ वस्तु है। कुछ प्रज्ञप्तिया परमार्थ विद्यमान– अविद्यमान वस्तुओ का अविधान करती है। जैसे चक्षु विज्ञान।

---

१०२ – "सा विज्जमानपञ्ञति, अविज्जमानपञ्ञति, विज्जमानेन अविज्जमान पञ्ञत्ति, अविज्जमानने विज्जमान पञ्ञत्ति,विज्जमानेन विजमानपञ्ञत्ति,अविज्जमानेन अविज्जमान पञ्ञत्ति चेति छब्बिधा होति।" पूर्वोक्त पृ० ८५४

चक्षु एव विज्ञान अलग रूप विद्यमान या स्वभाविक अस्तित्व वाले होते है।[103] इसके विरूद्ध ऐसी कुछ वस्तुए होती है जिनको किसी भी स्थिति मे विद्यमान नही कहा जा सकता है। जैसे–ब्राहमणपुत्र। पुत्र एव ब्राहमण दोनो स्वभाविक रूप से अविद्यमान है।

स्थविर दर्शन मे नाम प्रज्ञप्ति के साथ–साथ अर्थप्रज्ञप्ति भी परमार्थ सत न होकर प्रज्ञप्ति होती है जो परमार्थ धर्मो द्वारा प्रदत्त विभिन्न आकारो की अपेक्षा से विभिन्न वस्तुओ के रूप मे परिकल्पित होती है। वैसे भूत एव भौतिक तत्वो से समवेत 'अष्ट कलाप' ही स्वभाविक धर्म होता है। अर्थात अष्टकलाप ही तात्विक रूप से सत् होता है। लेकिन इनके सघात से मिले आकारो मे व्यवहार के लिए विभिन्न वस्तुओ की परिकल्पना वस्त्वाकार को प्रज्ञापित करने के उद्देश्य से की जाती है। यह वस्त्वाकार अर्थ प्रज्ञप्ति है जो परिकल्पित होने के कारण सज्ञामात्र, कल्पनामात्र एव व्यवहार मात्र होती है।[1]

---

१०३ – ''तत्थ यदा पन परमत्थतो विज्जमान रूपवेदनादि एताय पञ्ञापेन्ति,तदाय विञ्ञगानपञ्ञत्ति। यदापन परमत्थो अञ्जिमान भूमिपब्बतादि एताय पञ्ञपेन्ति, तदाय अविज्जमान पञ्ञतीति पवुच्चति अभिन्न। पन वोमिस्सकवसेन सेसा यथाक्कम छकामिञ्ञो, इत्थिसद्दो, वक्खुविञ्ञाण राजपुत्तो तिचवेदिब्बा।––पूर्वोक्त पृ० ८५५–८५६

१०४ – परिकथिमतीत परिकप्पबुद्धिया परिकप्पेत्वा गहमाना एत्थपन एवमादिप्पभेदा आलम्बनभूता परिकप्पयमाना सब्बा पञ्ञत्ति पञ्ञापीयतीति अत्थेन पञ्ञत्तीति योजना।
पूर्वोक्त – पृ० ८५३

यह अर्थ प्रज्ञप्ति प्रज्ञप्ति होने पर भी छायाकार रूप मे चेतना और चित्त का विषय होती है।[105] इसलिए अर्थप्रज्ञप्ति मूलत असत न होकर परमार्थ धर्म की द्योतक होने के साथ–साथ अर्थक्रियाकारी होती है। परिणामस्वरूप यह प्रज्ञप्तिमात्र न होकर प्रज्ञप्तिसत होती है। इस तरह थेरवादी दर्शन वस्तुओ की प्रज्ञप्ति सत रूप मे विकल्प या कल्पना से समन्वागत मानता है। साधारण व्यक्ति इन्ही कल्पना प्रसूत सत को मानकर व्यवहार करता है। नाम प्रज्ञप्ति की तरह अर्थ–प्रज्ञप्ति भी छ प्रकार की होती है। जैस–रान्तान,समूह,सत्व,काल आकाश एव निमित्त।[106] महाभूत धर्मो की अपेक्षा से विपरणाम को पाकर पृथ्वी आदि वस्तु के रूप मे प्राप्त होना 'सन्तान प्रज्ञप्ति' है। 'समूह प्रज्ञप्ति' सम्भकर समूह के अभिनिवेश से पाया आकार के रूप मे प्रज्ञप्त होती है। जैसे – लकडी आदि उपकरण समूह के आकार को लेकर गृह,रथ आदि। इसी तरह रूप,वेदना,सज्ञा सस्कार,एव विज्ञान इन पचस्कन्धो के सघात को मिलाकर प्रज्ञप्त 'सत्व प्रज्ञप्ति' कहलाती है।

---

१०५ –"परमत्थतो अविज्जमानापि अत्थछायाकारेन चित्तप्पुदान आरमण भूता त त उपादाय उपनिधाय कारण कत्वा तथा परिकप्पियमाना सड गयति समञ्ञायति वोहरीयति पञ्ञापीयतीति पञ्ञत्तीति पवुच्चरिअयपञ्ञत्ति पञ्जापियत्ता पञ्ञत्ति नाम।" पूर्वोक्त, पृ० ८५०–८५१,

१०६ –"त त भूत विपरिणामाकार मुपादाय तथा तथा पञ्ञत्ता भूमिप्पबतादिका सम्भारसन्निवसाकारमुपादाय गेहरथसक–टारिकाखन्धपञ्ञचकुमापादायपुरिस पुग्गलादिका, चन्दा वट्टमादिक मुपादाय–दिसाकालारिका असम्फुट्टाकार–मुपादाय कूपगुहादिका, त त भूत निमित्त भावना विसेसञ्ञ उपादाय कसिणानिमित्तदिका चेत एवामादिप्पभेदा। पूर्वोक्त – ८५०– पृ० ५८३

जैसे– आत्मा। चन्द्रमा एव सूर्य की गतियो को निमित्त बनाकर अभिहित होने वाली प्रज्ञप्ति 'काल–प्रज्ञप्ति' है। जैसे–पूर्व,पश्चिम उत्तर एव दक्षिण आदि। महाभूतो के असपृष्ट आकार की अपेक्षा से विपरिणाम को मिलने वाली कूप, गुहा आदि आकश प्रज्ञप्तिया है। इसी प्रकार महाभूतो की प्रधानता के आधार पर प्राप्त होने वाली 'निमित्त प्रज्ञप्ति' है। रूपकलाप मे पृथ्वी धातु की अधिकता से पृथ्वी कासिण प्रज्ञप्ति अभिहित होती है। वैसे थेरवाद के अनुसार अर्थ प्रज्ञप्ति या प्रज्ञप्ति वस्तु 'अष्ट कलाप–सघात' का विभिन्न रूप है।ये सभी रूप कल्पित होते है। इनकी वस्तुसत्ता नही होती है। ये सभी रूप विभन्न निमित्तो के आधार पर प्रज्ञप्त होते है। एक निमित्त या विशेषरूप को प्रज्ञापित करने के लिए कई प्रकार की वस्तुओ को कल्पित किया जाता है। आकार,रूप,वर्ण एव संस्थान आदि ही किसी वस्तु के निमित्त होते है। हर वस्तु का निमित्त उसका अपना विशेष रूप ही होता है। जो अन्य वस्तुओ मे नही पाया जाता है। वैभाषिक दार्शनिक इसी विशेष रूप को नाम–निमित्त कहते है।

स्थविर दर्शन अर्थप्रज्ञप्ति एव नामप्रज्ञप्ति के मध्य सकेतिक सम्बन्ध मानता है। यह सकेत पुरूष द्वारा बनाये गये है न कि ईश्वर के द्वारा। पूर्वपुरूषो ने नाम प्रज्ञप्ति के माध्यम से अर्थ प्रज्ञप्ति का अवबोध होने के लिए सकेत किया। सकेतो के अनुसार लोक व्यवहार प्रवर्तमान होता है। इसके अलावा यह भी कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदि काल मे विद्यमान विभिन्न अर्थ प्रज्ञप्तियो को व्यक्त करने के लिए विभन्न नाम प्रज्ञप्तियो का प्रचलन पूर्व पुरूषो द्वारा किया गया। लेकिन नाम प्रज्ञप्ति के माध्यम से अर्थ प्रज्ञप्ति का अथवा अर्थ प्रज्ञप्ति द्वारा नाम प्रज्ञप्ति का अवबोध सकेत आधारित होने पर भी तब तक शब्द द्वारा अर्थ का ज्ञान नही होता है जब तक शब्द एव अर्थ दोनो चित्त प्रक्रिया मे आपतित नही होते है। थेरवादी दर्शन मे इसको 'चित्त वीथि' के बारे मे कोई उद्धरण प्राप्त नही होता है बल्कि परवर्ती 'अट्टकथाओ' मे इस सदर्भ मे विस्तृत रूप से मनोविश्लेषित किया गया है। थेरवादी परम्परा मे 'चित्तवीथि' का वर्णन किसी न किसी वैचारिक आन्दोलन का असर दिखाई पडता है। इसके अतिरिक्त यह भी कह सकते है कि 'चित्त–वीथि' का समावेश उसे अन्य बौद्व दर्शन सप्रदाय से अलग करता है क्योकि वीथि विचार थेरवादी दर्शन की अपनी विशेषता है।

पालि–अभिधर्मदर्शन मे 'चित्तवीथि' का प्रयोग बाहय एव आतर विषयो के अवबोध के लिए किया गया है। साधक या योगी को अनात्म,दु ख एव अनित्य का बोध 'वीथि' पूर्वक ही होता है। साधारण तया 'वीथि' मार्ग या पक्ति का पर्याय है। लेकिन परिभाषित अर्थ मे 'चित्तवीथि' को चित्त

परम्परा या चित्तसतति के अर्थ मे प्रयोग किया जाता है। थेरवाद के अनुसार मनुष्य या जीव की सतान मे विद्यमान चित्तसतति मार्गसतति की तरह होती है। व्यक्ति की सतान मे नियमत चित्तो का उत्पन्न होते रहना चित्तवृत्ति या वीथि है।[107] यह वीथि दो तरह की होती है जैसे '१' चित्त वीथि '२' रूप वीथि। चक्षु,श्रोत,जिहवा,घ्राण एव कायद्वार मे विषय या आलम्बन के प्रवृत्त होने या गोचर भाव को प्राप्त करने पर वीथि चित्त का उत्पाद होता है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि जीवो की सतानो मे भवड ग चित्त सदैव प्रवाहित होता रहता है। लेकिन भवड ग चित्त सन्तति के प्रर्वतनमात्र से मनुष्य को किसी वस्तु के बारे मे ज्ञान नही होता है। किसी वस्तु के ज्ञान के लिए भवड ग चित्त मे विषय को आपतित होने के साथ—साथ वीथियो का उत्पन्न होना भी जरूरी है। भवड ग चित्त सन्तति का उत्पाद 'वीथिपात' एव 'वीथिचित्त' का निरोध भवड ग पात कहा जाता है। स्थाविरवाद के अनुसार प्रत्येक चित्तक्षण मे उत्पाद, स्थिति एव भड ग तीन क्षुडक्षण होते है। एक चित्त मे १७ चित्त क्षण होते है। १७ चित्तक्षणो का एक 'रूपक्षण' होता है। रूपक्षण मे उत्पाद, स्थिति एव भग तीन क्षुडक्षण होते है। लेकिन रूपक्षण का उत्पाद, एव भड ग जहा चित्त क्षण के उत्पाद एव भड ग के साथ होता है।

---

१०७ – विपत्ति गच्छन्ति सत्ता एत्था ति वीथि, वीथि विया ति वीथि १–पूर्वोक्त, पृ० ४०३–४०४

वही रूपधर्म' का 'स्थिति' क्षणचित्त के ४६ क्षुडो क्षणो के बराबर होता है। इस तरह एक रूप धर्म मे १७ चित्त क्षण जैसे – अतीत भवड ग, भवड ग चलन, भवड गनेपच्छेद, पचद्वारावर्जन, चक्षुरादिविज्ञान, सम्पतिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, सातजवन तथा २ तदालम्बन होते हैं। यह १७ चित्तक्षण उत्पाद स्थिति भग भेद से ५१ क्षुडक्षण कहलाते है।' चित्त एव रूपधर्म के मध्य विभिन्न क्षणो की आयु का अन्तविरोध चित्त के स्वभाव और रूप के स्वभाव के कारण है। थेरवादी दार्शनिक यह मानते है कि चित्त 'रूप' की अपेक्षा अत्यधिक कम दिनो के लिए होता है। चित्त अपने विषय को ग्रहण करने के बाद जल्द ही निरूद्ध हो जाता है। परन्तु रूप धर्म महाभूत की प्रधानता के कारण दीर्धकालिक होता है।

---

१०८ – एतावता चुद्दल वीथि चित्तुप्पादा द्वे भड ग चलनानि,पुब्बेवाटीतक भेक चित्तम्खण ति कत्वा सत्तरस चित्तम्खणानि परिपून्ति, ततो पर निरूज्झति। आरमणेत अतिमहत नाम गोचर। – पूर्वोक्त, का० ४/१३

भारतीय दर्शन के अनुसार श्रोत, चक्षु,घ्राण, जिहवा, काय तथा मन इन्द्रियो के द्वारा शब्द, रूप,गध,स्पर्श,धर्म का ज्ञान होता है। लेकिन थेरवाद मे इन्द्रियो द्वारा वस्तु का ज्ञान सीधे न होकर वीथियो के द्वारा होता है। इसके अनुसार किसी विषय के ज्ञान के लिए चित्त सन्तति या वीथि चित्त का प्रर्वतन जरूरी है। हर चित्त मे पचद्वारा वर्जन, इद्रिय विज्ञान, सम्परिच्छन्न, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, एवं तदालम्बन चित्तक्षण होते है। भवड ग चित्त मनुष्य की सतान मे सदैव रहता है। जब विषय का इन्द्रिय के साथ सस्पर्श होता है। तब भवड ग चित्त अपनी विषय रहित अवस्था को छोडकर कम्पित हो जाता है। जिसको भवड ग चलन कहते है। नये विषय के आपतित होने के कारण भवड ग चित्त का पूर्वप्रवाह व्यवच्छिन्न हो जाता है। जिसको भवड गविच्छेद कहते हैं। इसके बाद पचद्वारावर्जन वीथि का उत्पाद होता है। इस अवस्था मे चित्त विषय की ओर अभिमुख होता है तथा पचेन्द्रिया विषय को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहती है। इसके बाद पचज्ञानेन्द्रिया अपने–अपने विषय का स्पर्श करती है। इस अवस्था मे चित्त इन्द्रियो द्वारा आपतित विषयो का सक्रिय रूप से नीर–क्षीर विवेक करता है। तथा बाहरी वस्तु के बारे मे 'यह कुछ है'– –

इस प्रकार सम्पारिच्छन्न करता है। सम्पादरिच्छन्न के पश्चात विषय के आकार–प्रकार, वर्ण सस्थान के रूप निश्चय सन्तीरण चित्त की अवस्था मे होता है। चित्त मे आपतित विषय का यह रूप है–––––––इस रूप मे निश्चय वोट्ठपन चित्त के द्वारा होता है। वोट्ठपन चित्त द्वारा अनुभव के विषय को जानने के बाद विषय को फिर से ग्रहण किया जाय या परित्याग कर दिया जाय, इस स्थिति का निर्णय जवन चित्त द्वारा होता है। जवनचित्त वस्तु के इष्टकारक होने पर उसको ग्रहण करता है। और वस्तु के अनिष्टकारी होने पर उसे छोड देता है। वैसे ज्ञान विषय के प्रति चित्त की परिमुजनात्मक क्रिया जवन है। जवन चित्त के बाद तदालम्बन चित्त अनुभूत विषय को भवगचित्त मे अकित या निबन्धित करता है। तदालम्बन चित्त द्वारा विषय के आकार–प्रकार, स्वाद–अस्वाद,गुण दोष आदि को भवगचित्त मे अकित कर दिये जाने के बाद भवगपात हो जाता है। इस तरह तद्विषयक वीथि का अवरोध हो जाता है। इस अवरोध तक 'विषय' का ज्ञान मात्र होता है।इस विषयज्ञान मे केवल इन्द्रियो का योगदान न होकर चित्त एव इन्द्रिय का सम्मान योग होता है।

इन्द्रियो एव चित्त का सयोग होने पर ही इन्द्रियो के आधार पर जानता है।[1] भारतीय ज्ञान मीमासा को इस अवस्था को निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा जाता है।

थेरवादी दर्शन के एक वीथि मे छ बटक जैसे–विषय,द्वार,विज्ञान, आलम्बन, वीथि एव विषयप्रवृत्ति होती है। इनमे प्रत्येक छ प्रकार का होता है।[11] यथाश्रोताद्वार मे शब्दालम्बन अतिमहद या महद परीत्त आदि विषय प्रवृत्ति के रूप मे आपतित होता है और श्रोतविज्ञान श्रोत वस्तु का आश्रय करके एव पचद्वारावर्जन चित्त ह्रदय वस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होता है। इस प्रकार की वीथि को श्रोतद्वार वीथि कहा जाता है क्योकि यह श्रोत द्वार मे प्राइर्भत शब्दालम्बन की अपेक्षा से प्रवर्तित होती है। इसी तरह चित्त विशेष की अपेक्षा उत्पन्न होने के कारण इसको श्रोतविज्ञान वीथि कहते है। श्रोत,द्वार वीथि मे श्रोत वस्तु, ह्रदय वस्तु, श्रोतद्वार,शब्दालम्बन, श्रोतविज्ञान एव अतिमहद आदि चतुर्ध विषय प्रवृत्ति के रूप मे छ षटक होते है।यह क्रम चित्त के नियम के अनुसार होता है। अतत किसी एक वीथि के सम्बन्ध मे सम्यक ज्ञान होता है। वीथि के दो प्रकार होते है।

---

१०६ – आरम्भणरस्स पसाद घट्टनमेव किच्च, आवज्जनस्य विषयबुज्झनमेव, चक्खुविञ्ञावस्य दस्सन मत्तमेव, सम्परिच्छिनादीनचपरिगणहनादिमत्तमेव,जवनस्सेवपन आरम्मणरसानुभवन, तदारम्मणस्य च तेन अनुभूतस्सेव अनुभव ति एव किञ्चवसेन धम्मान अञ्ञमञ्ञ असिडि ग कण्ता दीपिता होति। – अट्ठसालिनी, पूर्वो०, पृ० २१६–२२०

११० – ''छ वत्यूनि, छ द्वातानि, छ आरमणानि, छ विञ्ञणानि, छ वीथियो छधा विसयप्पवति चेति वीथिसड ग हे छ छक्कानि वेदितब्बानि। देवत धम्म, भदन्त–त्रिपाठी, रा० श०– पूर्वो० पृ० २८६

१' पचद्वार वीथि

'२' मनाद्वार वीथि

पचद्वार वीथि मे वाह्य विषयो रूप, शब्द,रस,गध एव स्पष्टव्य को आलम्बन बनाकर प्रवृत्त होती है। जबकि मनोहार वीथि मे धर्म या प्रत्यात्मक विषय को ग्रहण करने के बाद प्रवृत्त होती है। पचज्ञान या पचद्वार वीथि चक्षु, श्रोत, जिह्वा, घृणा एव काय भेद से ५ प्रकार की होती है। पचद्वार वीथि मे महदालम्बन, अतिमहदालम्बन, मरीत्तालम्बन, अपरीत्तालम्बन भेद से चतुर्था विषय प्रवृत्ति होती है। इसके विरूद्ध मनोद्वार वीथि मे विषय प्रवृत्ति विभूत एव अविभूत रूप होती है।[111] यह विषय प्रवृत्ति चित्तसंतति अर्थात वीथिचित्त की उत्पत्ति से भवगपात तक की स्थिति को लेकर होती हे।

थेरवाद के अनुसार 'अतिभहदालम्बन' अतीत वग से लेकर तदालम्बन तक रहता है। महादालम्बन जवन तक प्रवृत्त रहता है। परीत्तालम्बन वोट्ठपन तक ही स्थित रहता है और अतिपरीत्ता भवगचलन तक प्रवर्तित रहता है।[112]

---

१११ – "छवीथियोपन चम्खुहार वीथि, सोतहारवीथि, धान द्वार वीथि, जिहवाद्वार वीथि, काय द्वारवीथि, मनोहार वीथि, चेति द्वार वरोन वा चम्खुविञ्ञणवीथि, सोताविञ्ञणवीथि, धान विञ्ञणवीथि जिहवाविञ्ञवीथि, कायानिञ्ञाणवीथि,मनोविञ्ञणवीथि चेति विञ्ञनवसेन वा द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो योजेतब्बा।" पूर्वोक्त, पृ० २८७

११२ – "अति महत्तादिभावो येत्थ आलोका दिपच्चयवरोन वा वत्थु अति महन्ता दिक्सेन वा वेदितब्बो।–––आलोकादिपच्चयान पन अधिट्ठानवत्थून च दुब्बल–दुब्बलटर–दुब्बल तमानुक्मेन महन्तादिभावोवत्त्बो ति यानि पन पञ्चालम्बान लम्बनानि एक चित्तभ्खण अतिम्कम्म आपात आगच्छन्ति, तानि अतिमहन्तात्म्मणानिनाम। यानि दृत्तिचित्म्खणानि अतिम्कम्म,तानिमहन्तरम्मणानि।यानिपनदसेवादस–द्वादस–तेरस–चुद्दस–पन्नरस–चित्तम्खणानि अतिम्कम्म आपात आगच्छन्ति तानि अतिपरित्तारम्मणानीति। – पूर्वोक्त, पृ० २८६

वैसे अतिपरीत्तालम्बन वीथि चित्त ही नही होता है। क्योकि वीथि चित्त क लिए विषय को पचद्वारो मे प्रवृत्त होना अनिवार्य है। इसी तरह विषय वृत्ति के आधार पर मनोद्वार वीथि दो प्रकार की होती है। '१' काम जवन वार '२' अर्पणा जवन वार । काम जवन के दो भेद होते हैं। 'क' शुद्धमनोद्वार वीथि '२' तदनुवर्तक मनोद्वार वीथि। शुद्ध मनोद्वार वीथि केवल मनोद्वार मे उत्पन्न विषय को आलम्बन वनाकर प्रवृत्त होता है।जव कि तदनुवर्तक मनोद्वार वीथि पचद्वार वीथि के विषय को ग्रहीत करके प्रवृत्त होती है। तदनुवर्तक मनोहार वीथि विषय की शक्ति पर आश्रित होती है। यह पचद्वार वीथि का अनुगमन करने के कारण ५ प्रकार की होती है। श्रोत, धाण, चक्षु, जिह्वा एव काय। मनोद्वार वीथि मे 'विभूत आलम्बन' भवगचलन से तदालम्बनें तक स्थित रहता है। जबकि भावभूत आलम्वन जवन के पश्चात भवगपात को प्राप्त हो जाता है।

थेरवाद के अनुसार विषय प्रवृत्ति का विभूत या अविभूत होना चित्त शक्ति पर निर्भर होता है। पचद्वारवीथि मे विषय या आलम्बन की प्रधानता होती है। और मनोद्वार वीथि मे चित्त शक्ति की प्रधानता होती है।'' बौद्ध दर्शन के आलम्बन या विषय की उत्पत्ति, स्थिति एव भवगस्वरूप को लेकर मतभेद है। स्थाविवर दर्शन चित्त क्षण एव स्पक्षण को उत्पाद स्थिति भग रूप स्वीकार करता है। इससे अलग सर्वास्तिवादी दर्शन एक क्षण की व्याख्या जाति, स्थिति, जरा, मरण के सदर्भ मे करता है।

---

११३ – मनोद्वारे पन यदि विभूत भारमण आपातभागच्छति, ततो पर भवङ ग चलन मनोद्वारावञ्जपनावसाने तदा रमणपाकानि पवत्तनित, ततो पर भवगपातो। अविभूते पनाश्मणे जवना कसाने भवगपातो वा होति, नत्थि तदात्मणुत्पादो ति। पूर्वोक्त, पृ० ३३२

इनके अनुसार 'स्थिति' का 'अन्यथात्व' होता है। सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार एक क्षण मे केवल उत्पाद एव व्यय होता है।यह स्थिति क्षण का खडन करता है। थेरवादी एव सर्वास्तिवादी दर्शन 'स्थिति क्षण' को मानने के कारण ही वस्तु प्रत्यक्ष को मानता है। लेकिन 'स्थिति क्षण' मे रहने वाली वस्तु का प्रत्यक्ष एक कठिन प्रक्रिया है। वस्तु एव चित्त एक क्षण मे एक साथ रहते है।थेरवाद के अनुसार वस्तु एव चित्त का अवबोध चित्तवीथि के द्वारा होता है।

शब्द के माध्यम से अवबोध मे घोष या वाक मे शब्दालम्बन के रूप मे श्रोतप्रसाद मे उत्पन्न होता है। यह शब्दालम्बन 'शब्दकलापनवक' केवल न होकर अनेक शब्द कलापो का सघात होता है। श्रोतद्वार वीथि मे 'शब्दनवककलापसघात' विषय के रूप मे उत्पन्न होता है। श्रोतविज्ञानवीथि मे 'शब्दन वक कलापसघात' रूपी 'समूह प्रज्ञप्ति' आलम्बन को प्राप्त होता है। यह समूह प्रज्ञप्ति शब्दालम्बन की परमार्थ राशि होती है। शब्दालम्बन को आधार के रूप मे मानकर समूह प्रज्ञप्ति होती है। श्रोत विज्ञान वीथि की प्रवृत्ति शब्दालम्बन, आकाश श्रोतप्रसाद एव मनसिकार को होने पर है।[114]

थेरवाद के अनुसार 'आकाश' परमार्थसत न होकर प्रज्ञप्तिसत है जो शब्द को श्रोतद्वार एव प्रसाद मे प्रवेश के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। श्रोतद्वार मे शब्द की प्रवृत्ति होने पर भवगचित्त का दो बार चलन या गतिरोध होता है। यह गतिरोध गत्यात्मक होती है। यह भवग चलन भवगचित्त मे नवीन विषय के आपतित होने पर उसको ग्रहण करने के लिए भवगसन्तति मे वीथि सन्तति के उत्पाद के अनुकूल विकार प्राप्त होता है।

---

११४ – ''सेप्तस्य असम्भिन्नता, आकाससन्निस्सयप्पटिलाभो, सद्दानआपातागमन मनसिकारो तिसोतविञ्ञाणस्य। – अट्ठसालिनी, पृ० २२७–२२८

भवग चलन अपने पहले क्षण के बारे मे विचार करता है एव दूसरे क्षण मे विषय को द्वार मे प्रवृत्त कराता है। भवग चलन का द्वितीय क्षण आवर्जन चित्त है। आवर्जनचित्त भवगचित्त का उच्छेदन भी करता है। शब्द श्रोत मे तथा श्रोत स्वय श्रोतपिण्ड मे होता है। जब कि भवग चित्त हृदय मे होता है। पश्न यह है कि भवगचित्त एव दूरस्थ श्रोत मे सम्बन्ध किस प्रकार का होता है। थेरवाद दार्शीनिको का कहना है कि श्रोत मे शब्द के प्रतिघात से तत्काल ही शब्द की उत्पत्ति से भवग अवगमन करने लगता है। या शब्द का श्रोत मे प्रतिघात होने पर श्रोत मे स्थित अच महाभूतो की सतरियो से प्रतिघात होना है। परिणामस्वरूप प्रतिघात की यह परम्परा हृदयस्थ महाभूतो तक पहूॅच उनसे प्रतिघात करते है। जिससे भवगचित्त चलायमान हो जोता है। इस तरह भवग चित्त के गतिमान होने पर भवगश्रोत को विच्छिन्न करके और शब्द को विषय बनाकर 'पचद्वारावर्जनचित्त' उत्पन्न होकर निरूद्ध होता है।'[115] इसके बाद श्रोत विज्ञान 'शब्द' को विषय बनाता है। श्रोत विज्ञान के पश्चात सम्परिच्छन्नचित्त द्वारा शब्द का सम्यक ग्रहण होता है और सन्तीरणचित्त द्वारा शब्द का सम्यक विचार–विमर्श होता है। इसी तरह वोट्ठपन्नचित्त 'शब्द' को विषय बनाकरर उत्पन्न होकर निरूद्ध होता है। इसके बाद 'शब्द' सात बार जवन चित्त मे प्रवृत्त होता है।

---

११५ – चलन चेत्थ यथागहित कम्मादि – आरम्मण मुञ्चित्वा इदानिअत्तानिआपात आगच्छन्त अभिनिवारम्मण गहेतु उत्साह जातस्य विय भवडग सतानस्य विकारप्पत्ति दट्ठब्ब। रेवत धम्म भदन्त, त्रिपाठी रा० श० – पूर्वो० पृ० ३०५

जवनचित्त द्वारा 'शब्द' का आलोडन करने के बाद तदालम्बन चित्त उसी शब्द को ग्रहण कर लेता है। इस तरह चित्त वीथि का एक बार प्रवर्तन होता है। इसी प्रकार प्रर्वतन के अधार पर घोष या वाक का आभासमात्र होता है। इस वीथि चित्त के माध्यम से 'मैने अमुक वस्तु सुनी या अमुक विद्य है।' यह विशेष ज्ञान नही होता है। केवल 'शब्द' का ज्ञान होता है। थेरवाद के अनुसार पचद्वारावर्जन चित्त से लेकर तदालम्बनपर्यन्त तक चित्त गोचर भाव को प्राप्त प्रत्युत्पन्न 'शब्द' को विषय बनाते है। इनमे श्रोत विज्ञान श्रोतवस्तु का आश्रय करता है। जबकि शेषवीथि चित्त अपने पहले चित्तो के साथ उत्पन्न आतरिक वस्तु को विषय रूप मे वरण करते है। वीथि चित्त के विभिन्न सारणियो को निम्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। –

वीथि श्रोत द्वार'

'टी' न द प श्रो स ण वो

ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo

ज ज ज ज ज ज ज ज

ooo ooo ooo oooo oooo ooo ooo ooo

त्र त भ

ooo ooo ooo

ती न द = भवग चित्त, पत्त = वीथि चित्त

o o o = उत्पाद – स्थिति – भग

ती = अतीत भवग, न = भवग चलन, द = भवगोपच्छेद

प = पचद्वारावर्जन, श्रो =श्रोत विज्ञान, स = सम्पतिच्छन्न,

ण = सन्तीरण, वो = वोट्ठपन, ज = जवन

त = तदालम्बन तथा भ = भवग ।'' स्थविरवाद के अनुसार वीथिचित्त का १७ चित्तक्षणो मे बदलकर निरूद्ध होना अतिमहदालम्बन होता है। जिसे पचदद्वारवीथि चित्त कहते है।'' वीथि चित्त के अनन्तर चित्त की प्रधानता से तदनुवर्तक मनोहारवीथि की प्रवृत्ति होती है। विषय के

विशेष ज्ञान के लिए श्रोताद्वार वीथि के विषय को आलम्बन बनाकर तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि का अनुवर्तन करने वाली अतीत ग्रहण मनोद्वार वीथि का उत्पाद होता है। इसके लगातार प्रवृत्त होने पर शब्द का स्वरूप अवबोध होता है। अतीत ग्रहण मनोद्वारवीथि भवगचलन, पचद्वारा वर्जन आदि क्रम मे प्रवर्तित होती है। यदि घोष या वाक् हस्व या अरायुक्त नही होता है। तब अतीत ग्रहण मनोहर वीथि के उपरान्त समूह ग्रहण वीथि शब्द या वाक् के समूह को विषय बनाकर फिर १७ चित्तक्षणो मे चलायमान होती है। इस तरह शब्द का स्वरूप अवबोध हो जाने पर तृतीय मनोद्वारवीथि की अभिप्रवृत्ति होती है। यह वीथि नाम प्रज्ञप्ति को विषय बनाती है। थेरवाद के अनुसार नाम प्रज्ञप्ति मनोद्वार वीथि का गोचर विषय होती है।" यहा पर ज्ञात है कि बौद्ध न्याय भी कल्पना के सदर्भ मे नाम जात्यादि को मानता है। जो नाम प्रज्ञप्ति की तरह सामान्य लक्षण होता है। यह सामान्य शब्द एव कल्पना का साक्षात विषय है।

---

११६ – गोविन्द, लामा अनागरिक-----पूर्वोक्त पृ० १३६

११७ – वीथि चित्तानि सत्तेव चित्तुप्पादा चतुद्दस। चतुपञ्ञास वित्थारा पञ्चद्वारे यथारह।। देवत धम्म भदन्त एव त्रिपाठी, रा० श०–पूर्वोल्लिखित ४/१८

११८ – वचीघोसा नुसारेन सोतविञ्ञाणवीथिया। पवत्तानन्तरूप्पन्न मनोद्वारस्य गोचरा।।
पूर्वोक्त, कारिका ८/४४

नामग्रहण वीथि के अनन्तर 'यह नाम प्रज्ञप्ति अमुक अर्थ प्रज्ञप्ति का द्योतक है। इस पूर्व सकेत के लिए सकेत ग्रहण वीथि, सम्बन्ध वीथि, एव विनिश्चय ग्रहणवीथि का आयोजन होता है।'' इसके पश्चात अर्थ प्रज्ञप्ति को विषय बनाकर अर्थ ग्रहण वीथि का उत्पाद होता है। इसको चतुर्थ मनोद्वारवीथि कहते है।''

थेरवादी दार्शिनको के मतानुसार समस्त नाप्रज्ञप्तिया लोक सकेतार्थ होती हैं। नाम–प्रज्ञप्ति के माध्यम से ही अर्थ – प्रज्ञप्ति का ज्ञान होता है।''' किसी मनुष्य द्वारा 'गो' शब्द का उच्चारण करने पर उच्चारित शब्द को लेकर अतीत ग्रहण मनोद्वार वीथि की प्रवृत्ति होती है। इसी वीथि के निरूद्ध हो जाने पर अतीत शब्द को लेकर अतीत ग्रहण मनोद्वार वीथि का लगातार बार–बार प्रवर्तन होता है। इसके बार 'गो' इस 'नाम प्रज्ञप्ति' को विषय बनाकर नाम ग्रहण वीथि चित्त की प्रवृत्ति होती है।जिसके परिणामस्वरूप 'गो' शब्द का सम्यक ज्ञान होता है।

---

११९ – सोतालम्बनमापन्नो सकेतेन ववत्थितो अत्थस्स त्रापको सद्दो नासन्ते कारणद्वये।–

पूर्वोक्त पृ० ४२८

१२० – सद्द पठमचित्तेन तीत दुरियचेतसा नाम ततियाचित्तेन, अत्थ चतुत्थचेतसा।

पूर्वोक्त, पृ० ८५८

१२१ – अत्था यस्सानुसारेन विञ्ञायन्ति ततो पर। साय पञ्ञत्ति विञ्ञेयया लोक सकेतनिम्मिता।।

पूर्वोक्त,कारिका ८/४५

'गो' शब्द के अर्थ को विषय बनाने वाली अर्थ ग्रहण वीथि के प्रवृत्त होने पर 'गो' शब्द से 'गो' अर्थ का ज्ञान होता है। इसी तरह 'घट' वाक या शब्द को विषय बनाने वाली श्रोतद्वारवीथि अपने १७ चित्त क्षणो मे प्रवृत्त होती है। इसके एक बार प्रवृत्त हो जाने पर अतीत ग्रहण नामक मनोद्वार वीथि का उत्पाद होता है। इनके कई बार प्रवृत्त होने पर 'घ' इस घोष का बोध होता है। इसी प्रकार 'ट' का बोध होता है। इसके बाद 'घ' 'ट' इस सयुक्ताक्षर को आलम्बन बनाकर समूह ग्रहण मनोद्वार वीथि उन्ही १७ चित्तक्षणो मे प्रवृत्त होती है। इसके पश्चात 'घट' इस नामप्रज्ञप्ति को आलम्बन करने वाली नाम ग्रहण वीथि उत्पन्न होती है। अत मे 'घट' शब्द के अर्थ या वस्तु को ग्रहण करने वाली अर्थ ग्रहण वीथि प्रवृत्त होती है। जिसके कारण 'घट' नाम–प्रज्ञप्ति से 'घट' अर्थप्रज्ञप्ति का ज्ञान होता है।

योगाचार सिद्धान्तः लक्षणा–वृत्ति समीक्षावाद

योगाचार दर्शन मे शब्दार्थ विषय के विवेचन मे विज्ञानवाद एव वस्तुवाद के मध्य मतभेद है। वैभाषिक दर्शन नाम या शब्द को सवस्तुक या अर्थ सहज मानता है। जब योगाचार दर्शन मे नाम लक्षण के द्वारा मिथ्या प्रपच अवभासित होता है। इनके अनुसार वस्तुए द्रव्य –स्वभाव न होकर परिकल्पित स्वभाव होती है। धर्म एव आत्मा वास्तविक न होकर प्रतीतिमात्र या विज्ञप्तिमात्र होते है। विज्ञप्तिमात्रता मे ही सभी वस्तुए जैसे आत्मा एव धर्म आरोपित होती है। जो सत् न होकर असत् होती है। उपाचार के लिए वस्तु का द्रव्यसत होना जरूरी नही है। क्योकि जो असत होता है। उसी का उपचार होता है। इस तरह योगाचार दर्शन जहा एक ओर लक्षण–गौणी वृत्ति या उपचार सिद्धान्त का खडन करता है। वही दूसरी तरफ वस्तुवादियो द्वारा मान्य शब्द के विषय के रूप मे मुख्य पदार्थ का निराकरण करता है। बौद्ध दर्शन मे योगाचार दर्शन आगम एव युक्ति भेद से द्विप्रस्थानिक है।[111] यथा–आचार्य असग विरचित पचग्रथो जैसे–योगाचार भूमि,योगाचार–भूमि पर्याय संग्रह, योगाचार भूमि निर्णय सग्रह, योगाचार भूमि वस्तु सग्रह, एव योगाचार भूमि विवरण सग्रह का अनुगमन करने आगमानुयायी विज्ञानवादी एव आचार्य धर्मकीर्ति विरचित न्याय ग्रथो जैसे–प्रमाणवार्तिक कारिका, प्रमाण विनिश्चय, न्याय बिन्दु प्रकरण, हेतु बिन्दु नाम प्रकरण,सम्बन्ध परीक्षावृत्ति, वाद न्यायनाम प्रकरण एव सतानान्तर सिद्धि नाम प्रकरण का अनुगमन करने वाले युक्तानुयायी

विज्ञान–वादी। युक्तानुयायी एव आगमनुयायी के मध्य भेद 'आलय विज्ञान' के स्वरूप को लेकर है। आगमानुयायी योगाचार दर्शन विज्ञप्तिमात्रता को वस्तुसत स्वीकार करता है तथा जागतिक वस्तुओ को विज्ञान परिणाम केवल मानता है। वस्तुबन्धु विज्ञान परिणाम मे बाहरी वस्तुओ को उपचरित स्वीकार करता है। वैसे विज्ञान परिणामवाद को मानने के पीछे प्रमुख कारण तत्कालीन विचार–विमर्श मे प्रयुक्त शब्दावली का आदान प्रदान अथवा सौत्रान्तिक प्रभाव हो सकता है। क्योकि आचार्य भर्तृहरि भी जगत को शब्द ब्रहम का विवर्त या परिणाम मानते है।[१२३]

---

१२२ – सोपा, जी० एल० और जाफरी हायकिस ---- पूर्वो० पृ० ११०–१११

१२३ – अनादि निधन ब्रह्म शब्द तत्व यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जागतो यत ।

शुक्ल, राम गोविन्द 'स०'–वाक्यपदीयम, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी १६७५,पृ० २

भर्तृहरि की भाति वेदात दर्शन भी वस्तुओ को ब्रहम मे आधारित मानता है। सभवत अद्वयवाद एव अद्वैतवाद का भेद अध्यास एव परिणाम के कारण है। लेकिन विज्ञान परिणामवाद साख्य सम्मत प्रकृति परिणामवाद से अलग है। साख्य दर्शन सभी जागतिक वस्तुओ को प्रकृति मे पहले से अव्यक्त रूप मे विद्यमान मानता है। जबकि योगाचार दर्शन विज्ञानपरिणाम मे वस्तुओ को उपचरित मानता है। इसके अनुसार वस्तुए सत एव सस्वभाव न होकर असत एव नि स्वभाव होती है। केवल चित्त एव चैत्त का स्वभाविक अस्तित्व है।[124] यहा तक कि रूप, चित्त विप्रयुक्त एव असस्कुत धर्म भी प्रज्ञप्ति मात्र होते है। विज्ञान ही अनादि वासना के कारण अर्थाकार प्रतीति मात्र होती है।[125] धर्म एव आत्मा पर्युदास रूप मे विज्ञप्तिमात्रता मे आरोपित होते है। जबकि विज्ञप्तिमात्रता स्वय प्रसज्यरूप है। इस तरह योगाचार दर्शन भी पुदगल एव धर्म नैरात्मवादी है। जैसे माध्यमिक दर्शन।

आगमानुयायी यागाचार दर्शन के मतानुसार 'विज्ञप्तिमात्रता' शब्द व्यापार के परे है। क्योकि शब्द व्यापार अवास्तविक होता है।

---

१२४ – स्वचित्त दृश्य सस्थान बहि धर्माख्यायते नृणाम। बाहय न विद्यते दृश्यभतोऽप्यर्थो न विद्यते।।
वैद्य, पी० एल० लकावतार, मिथिताविद्यापीठ दरभगा

१२५ – आत्म धर्मोपचारो हि विविधो य प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणाम सच त्रिधा।। थुबतन छोग्डुब एव त्रिपाठी, रा० श०---विज्ञप्तिमात्रातासिद्धि प्रकरणद्वयम, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, पृ० ६७

जबकि विज्ञप्ति मात्रता वस्तु है। शब्द या नाम निमित्त परिकल्पित स्वभाव क्योकि यह वासना उद्भूत होता है।[126] बौद्ध दर्शन मे स्वभाव या निमित्त को लेकर विभिन्न प्रस्थानो के मध्य व्यापक अन्तर्विरोध पाया जाता है। वैभाषिक दर्शन मे निमित्त सस्वभाव होती है। जबकि योगाचार दर्शन मे निमित्त नि स्वभाव होती है। इसी नि स्वभाव निमित्त या अभूत कल्पित का विज्ञान मे उपचार होता है। प्रश्न यह उठता है कि जो वस्तु असत् या नि स्वभाव है उसका 'विज्ञान' मे 'उपचार' कैसे होता है। यह उपचार भ्रान्तिरूप मे होता है या सत्य के रूप मे होता है। भ्रान्तिवश उपचार स्वीकार करने पर भी वस्तु को बाध्य रूप मे अस्तित्ववान स्वीकार करना पडता है। बाहय वस्तु की सत्ता को माने बिना विज्ञान मे उसका आरोप नही हो सकता है। इसलिए उपचार के लिए धर्म एव आत्मा का बाहय अस्तित्व होना अनिवार्य है।

शब्दार्थपरक विचार के कई आयाम है। भारतीय परपरा मे शब्दार्थ चितन दर्शन एव व्याकरण दोनो से सम्बन्धित रहा है। वैसे व्याकरण का प्रभाव दर्शन पर रहा है। एव तद्विपरीत दर्शन का असर व्याकरण पर रहा है। कुछ बिन्दुओ पर दर्शन एव व्याकरण दोनो ने चितन किया है। उपचार लक्षणा या गौणी वृत्ति पर व्याकरण एव अलकारिक सम्प्रदाय के साथ–साथ विभिन्न दर्शनो ने अपने–अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है। लेकिन अलंकारिकों एव वैयाकरणो और विभिन्न दर्शनो के मध्य दृष्तिगत विरोध है।

---

१२६ – यथा जल्पार्थ सज्ञाया निमित्त तस्य वासना। तस्मादव्यथ विख्यान परिकल्पित लक्षण।।
यथानार्मार्थस्य नाम्न प्रख्यानता च या। असकल्प निमित्त च परिकल्पित लक्षणम्। बागची, एस० स्कढलकार, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा १९७०, पृ० ६४ –६५

अलकारिक एव का कारण सप्रदाय 'लक्षणा' की कारका ज्ञानमीमासीय एव तात्विक दृष्टिकोण से करते है। यह विचार करने योग्य है कि लक्षणा, गौणी वृत्ति, उपचार आदि का विचार उन–उनदर्शनो के ख्याति सिद्धान्त से सम्बद्ध है। लक्षणा के स्वरूप को लेकर योगादर्शन एव तैथिक दर्शन के मध्य मतभेद है। तैथिको मे मीमासा दर्शन एव न्याय दर्शन लक्षणा या गौणीवृत्ति के लिए बाहरी वस्तु को सत् मानते है। इनके अनुसार वस्तु को सत माने बिना लक्षणा या गौणीवृत्ति सभव नही है। इसके विपरीत योगाचार दर्शन वाहय वस्तु की अवधारणा का खडन करता है तथा उपचार के लिए बाहय वस्तु की अनिवार्यता को नही मानता है। इसके अनुसार उपचार असत वस्तु का ही होता है। इस तरह योगाचार दर्शन मुख्य रूप से न्याय–वैशेषिक एव मीमासा दर्शन के लक्षणा गौणीवृत्ति विषयक सिद्धान्त का खडन करता है तथा कल्पना एव शब्द के विषय के रूप मे मुख्य पदार्थ या स्वलक्षण को नही स्वीकार करता है।

सामान्य रूप से यह माना जाता है कि शब्द अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग किया जाता है। लेकिन कोई भी शब्द अपनी सत्ता मात्र से वस्तु का ज्ञान नही कराता है। जब तक कि शब्द मे अर्थ बोध कराने की क्षमता न हो। 'शाब्द बोध' शब्द मे निहित शक्ति या वृत्ति के कारण होता है। इसलिए शब्द द्वारा अर्थ की प्रतीति के लिए वृत्ति ज्ञान जरूरी है। शक्ति ग्रह या वृत्ति ज्ञान को शब्द शक्ति कहते है। दर्शन एव व्याकरण मे शब्द शक्ति या वृत्ति ज्ञान के प्रतिपादक को लेकर अन्तर्विरोध है।'

---

१२७ – राजा, के० के० –– इण्डियन थियरीज आफ मीनिग दि अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्चसेंटर, मद्रास, १९६६ पृ० १८ – २४,

व्याकरण दर्शन वृत्ति को शब्द या अर्थ मे ही मिला स्वीकार करते हैं। लकिन न्याय–दर्शन आदि 'अमुक अर्थ का बोध कराता है।' या 'इस शब्द का यह अर्थ है'––––– इस वृत्ति या शक्ति का जनक ईश्वर को स्वीकार करते हैं। इसलिए नैयायिको के अनुसार केवल उन्ही विषयो का ज्ञान हो सकता है। जिसमे ईश्वर ने सकेत कर दिया हो। मीमासा ईश्वर को न स्वीकार करके शब्द शक्ति या वृत्ति वो स्वय एक अलग पदार्थ मानता है तथा इसी के माध्यम से अर्थ प्रतीति को स्वीकार करता है। इस तरह शब्द शक्ति या वृत्ति सकेत सम्बध है। जिसके आधार पर 'शब्द' अर्थ मे प्रवृत्त होता है। लेकिन कभी शब्द जो अर्थ प्रदान करता है वह अर्थबोध के लिए पर्याप्त नही होता है। अथवा शब्द साक्षात् अर्थ से व्यतिरिक्त परम्परा–सम्बद्ध अर्थ का भी ज्ञान कराता है। साक्षात् अर्थ से उत्पन्न अन्तर्विरोध परम्परा सम्बद्ध अर्थ को मानकर ही समाप्त होता है। शब्दवृत्ति के माध्यम से अर्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान ही नही होता है बल्कि परोक्षा भी ज्ञान होता है। शब्द का साक्षात् या प्रत्यक्ष अर्थ मुख्यार्थ होता है और परोक्ष या परम्परा सम्बद्ध अर्थ व्यग्यार्थ एव लक्ष्णार्थ होता है। इस तरह शब्द की अभिवृत्ति के माध्यम से साक्षात् सकेतिक अर्थ का ज्ञान होता है। और लक्षणवृत्ति एव व्यजनावृत्ति द्वारा परम्परा सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान होता है।लक्षणा को दूसरे शब्द मे गौणीवृत्ति भी कहा जाता है। लेकिन मीमासा दर्शन गौवीवृत्ति एव लक्षणा के मध्य भेद करता है। उसके अनुसार जहा लक्षणा सादृश्य से अलग तत्वो पर आधारित होती है। वही गौणीवृत्ति केवल सादृश्य के आधार पर होती है। लक्षणा को भक्ति या उपचार कहा गया है। व्याकरण दर्शन विशेषकर, साहित्य, दर्शन एव न्याय दर्शन मे लक्षणा पर विचार करते समय उसके ऐतिहासिकता एव श्रोत पर भी प्रकाश डाला गया है।[१२८]

---

१२८ – शर्मा, हरदत्त–'दि मीनिग आफ द्रिवर्ड उपचार' पूना ओरियन्टलिस्ट भाग२ १६३६–३७

साहित्य दर्शन एव व्याकरण दर्शन के अनुसार 'लक्षणा' वह शब्द शक्ति है जो अन्वय द्वारा अर्थ के अनुपपन्न होने पर सम्बद्ध विशेष से लक्ष्यार्थ का ज्ञान कराती है। लेकिन लक्षणावृत्ति के लिए अन्वयानुपपति ही मुख्य कारण नही होती है। एक मनुष्य 'गगाया घोष सुनकर 'गगा' का तीर मे अथवा 'घोष' का मकर मे प्रवृत्ति करके अन्वय कर सकता है। लेकिन सभवत वक्ता का मतलब ऐसा नही होता है। तात्पर्य क साथ–साथ रूढिया प्रयोजन को भी लक्षणा वृत्ति के कारण के रूप मे माना जाता है। व्याकरण, साहित्यक एव अलकारिक दर्शन जहा तात्पर्यानुपत्ति एव रूढि पर विशेष महत्व देते है। वही पर दर्शनो मे मुख्यार्थ बाधा एव सम्बन्ध को लक्षणा का आधार स्वीकार किया जाता गया है।

व्याकरण दर्शन के अनुसार 'लक्षणा' 'अन्य मे अन्य का ज्ञान' या भिन्न पदार्थ मे अभिन्नता का ज्ञान है। यह ज्ञान 'चार' प्रकार का होता है। जैसे – तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात् एव साहित्र्यात्। लक्षणा मे दूसरे गुण का आरोपण अन्य दूसरे गुण मे होता है। गुण – क्रिया सम्यता के रूप मे होता है। यथा – ब्रहमदत्त अग्नि की तरह है सामीप्य रूप मे होता है। जैसे – गंगा मे अहीरो का गाव है और साहचर्य के अधार पर होता है। यथालाठी को अदर भेजो।[126] इस तरह लक्षणा भिन्न मे अभिन्नता का ज्ञान या अतत मे तत का ज्ञान अथवा अन्य मे अन्य का आरोप है।

---

१२६ – चतुभि प्रकारैस्तास्मिन 'स' इत्येत्तर भवति, तात्स्थ्यात् मचा हसन्ति। गिरि दह्यते। ताद्धर्म्यात् जतिन पीन ब्रहमदत्त इत्याह। तत्सामीप्यात् गगाया घोष। कूपेगर्ग कुलम्। तत् साहचर्यादिति कुन्तान् प्रवेशाय। यष्टी प्रवेशय। झा, रूद्रधर ––– पूर्वो० महाभाष्य ४/१/४८

शब्द के गुणो के अर्थ मे आरोप अर्थ के गुणो का शब्द मे आरोप जाति मे व्यक्ति का आरोप, आकृति मे द्रव्य का आरोप के 'लक्षणा' कहते है।[130]

साहित्यक दर्शन एव व्याकरण 'लक्षणा' के दो भेद करते है। जैसे–शुद्धा एव गौणी। शुद्धा लक्षणा मे सादृश्य से अलग अन्य तत्व कारण होते है। यथा–प्रथम मुख्यार्थ बाधा,द्वितीय–मुख्यार्थ से सम्बन्ध तृतीय–प्रयोजन या रूढि।[131] इसके विरूद्ध गौणी लक्षणा मे दो वस्तुओ के मध्य तादात्म्य का आधार केवल सादृश्य होता है।

न्याय दर्शन 'लक्षणा' को 'छल' के रूप मे अभिहित करता है। इसके अनुसार अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द को अर्थान्तर मे कल्पित करके दोष देना छल है। यह छल तीन प्रकार का होता है। जैसे – वाक् छल, सामान्य छल, एव उपचार छल। इसमे 'उपचार छल' शब्द के सामान्य अर्थ से पृथक विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होता है उपचार को भक्ति कहा जाता है। उपचार ही गुणवृत्ति मे लक्षणा है।[132]

---

१३० – द्विवेदी, आ० क०–अर्थ विज्ञान एव व्याकरणदर्शन पूर्वोल्लिखित पृ० २५८

१३१ – मुख्यार्थ बाधे तदयोगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिताक्रिया।। भट्टाचार्य, शि० प्र०––काव्य प्रकाशन, सस्कृत सीरीज, बनारस, का० २/६

१३२ – वचन विधातोऽर्थ विकल्पोयपत्या छलम्। तत्त्रिविध वाकछल सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति। धर्म विकल्प निर्देशेऽर्थ सदभाव प्रतिषेध उपचारच्छलम्। उपचार मात्र भक्ति । उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमिति शयितो व्यवहार । शास्त्री, दु० आ०–––पूर्वोद्धधृत न्यायसूत्र १/२/१०–१४

न्याय दर्शन के अनुसार सहचरण आदि निमित्त से अतद्भाव मे तद्भाव का अभिधान उपचार है।[133] यह उपचार सहचर्य, वृत्त, तात्स्थ्य, मान, समीप्य,धारण, योग, साधन एव अधिपत्य आदि के आधार पर ब्राहमण मच आदि के रूप मे होता है।[134]

मीमासा दर्शन 'लक्षणा' के निमित्त के रूप मे जाति, सारूप्य, प्रशसा, भूमा एव लिग–समवाय आदि को मानता है।[135] इन निमित्तो मे अभिधेय सादृश्य, समवाय वैपरीत्य, एव क्रिया योग लक्षणा के मुख्य कारण है।[136] आचार्य कुमारिल ने इन निमित्तों को दो भागो मे विभाजित करते है।

'१' सादृश्याधारित

'२' सादृश्येत्तर

इनके अनुसार मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ के मध्य सादृश्य पर आधारित सम्बन्ध गौणीवृत्ति या उपचार है। और सादृश्येत्तर सम्बन्धो पर आधारित वृत्ति 'लक्षणा' है। इस तरह लक्षणा एव गौणीवृत्ति दो पृथक शब्द वृत्तिया है। यह गौणीवृत्ति ही उपचार है।

---

१३३ – ''उपचारो नीतार्थ सहचरणादिनिमित्तेन, अतद्भवे तद्वद भिधानुमपाचार इति।
उपरिवत पृ० १२

१३४ – सहचरण स्थानतादर्थ्य वृत्तमान धारण सामीप्ययोगसाधनाधिप्त्येभ्यो ब्राहमण च कटतो जसक्तुचन्दन गगा शाटकान्नपुरूषेष्व तद्भावेऽपि तदुपचार । उपरिवत, सूत्र २/२/६२

१३५ – तत्सिद्धि जाति–सारूप्य–प्रशसा–भूमा–लिङग–समवाय इति गुणाश्रया । मीमासा सूत्र १/४/४३

१३६ – अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत । वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधागता।।
अभिधावृत्ति मातृका पृ० १७ राज, के० के०–––पूर्वोद्धधृत पृ० २३

न्याय दर्शन एव व्याकरण भी लक्षणा को गौणीवृत्ति स्वीकार करते है। लेकिन मीमासा दर्शन की गौणीवृत्ति की अवधारणा व्याकरण एव न्याय वैशेषिक से भिन्न है। मीमासा के अनुसार मुख्यार्थ बाधा के बाद शब्द से परोक्षत लक्ष्यार्थ का ज्ञान गौणीवृत्ति के द्वारा होता है।

कुमारिल शब्द के मुख्यार्थ को 'सामान्य' मानते है। इसलिए गौणी वृत्ति का आधार समान धर्म या गुण होता है। सिहो देवदत्त मे 'सिह'शब्द सामान्य का परिचायक है। तथा 'सिहत्व' सामान्य साहस आदि गुण का ख्यापक होता है। यह सभी गुण देवदत्त मे भी पाये जाते है।अत देवदत्त को 'सिह' कह दिया जाता है।[137] कुमारिल का मत है कि किसी वस्तु के जाति–गुण–क्रिया, न तो सामूहिक रूप मे अन्य वस्तु मे आरोप होता है। एव न आशिक रूप मे आरोप होता है। इसके मतानुसार किसी वस्तु मे समस्त रूप मे आरोप या समारोप असभव होने पर अन्य वस्तु मे विद्यमान कतिपय गुण–क्रिया को उपचरित नही किया जा सकता है क्योकि गौणीवृत्ति मे एक वस्तु के स्वभाव का अन्य वस्तु मे समारोप नही होता है। 'सिह देवदत्त' मे सिह एव देवदत्त दोनो भिन्न–भिन्न स्वभाव के है। सिह की जाति–गुण–क्रिया देवदत्त मे विद्यमान जाति–गुण–क्रिया से भिन्न है। इसलिए इन दोनो मे समस्तरूप मे या आशिक रूप मे समारोप सभव नही है।[138]

---

१३७ – राजा, के० के० –– उपरिवत, पृ० २४५

१३८ – 'अन्येषा तु दर्शन सर्व एव हि सिह दि शब्दा जाति गुण क्रिया समुदाय वाचिन समस्तार्था सम्भवे देवदत्तादिषु कतिपय गुण क्रिया योगादुपचर्यन्त अति।समुदायार्थ वाचित्वे नैकदेशे भवेदगति शत शब्दान न पञ्चाशन मुख्यरूपेण गम्यते। कश्चित् पुनराह समारोपिततदभवौ गौण इति। दौ अपिप्रतिपघते सिह पुषोर विविक्तता नाध्या–रोपियित शक्तिस्तेनैकस्यापि विद्यते। तत्रवार्तिक, आनद आश्रम,सस्कृत सीरीज, पूना १६२६, पृ० ३५६–५८

शब्द का मुख्यार्थ के साथ नियत तथा प्रत्यक्ष सम्वन्ध होता है। इसलिए मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणा का प्रश्न खडा होता है। व्याकरण,अलकारिक, न्याय–वैशेषिक एव मीमासा दर्शन आदि लक्षणा के लिए अन्वयानुपपत्ति या मुख्यार्थ बाधा को मानते है। लेकिन जहा एक ओर व्याकरण एवं न्याय–वैशेषिक आदि मुख्यार्थ बाधा के साथ तत्सम्बन्घ विषय के बीच सम्बन्ध एव रूढि या प्रयोजन को मानते है। वही दूसरी ओर मीमासा दर्शन मुख्य पदार्थ के साथ तत्सदृश विषय एव साधारण धर्म को मानता है। 'अग्निमणिवक' मे अग्नि मुख्य पदार्थ है। जिसका माणवक मे उपचार किया जाता है। माणवक 'अग्निसदृश विषय है। जिसमे 'अग्नि' का आरोप किया जाता है और 'कपिलत्व' एव 'तीक्षणत्व' साधारण धर्म है। जो मुख्य पदार्थ एव तत्सदृश विषय के बीच पाया जाता है। इस तरह कुमारिल 'सम्बन्ध' के स्थान पर साधारण धर्म या सादृश्य धर्म को मान लेते है। साधारण धर्म या सादृश्य धर्म के आधार पर ही माणवक मे अग्नि का ज्ञान होता है।[१३९]

आगमानुयायी योगाचार दर्शन 'लक्षणा' को गौणीवृत्ति या उपचार के रूप मे प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार सादृश्य ही उपचार का प्रमुख आधार है। जैसा कि कुमारिल मानता है।[१४०]

---

१३९ – वहि नत्व लक्षितादर्थाद् यत पैगल्यादि गम्यते। तेन माणवके बुद्धि सादृश्याद् उपजायते।
उपरिवत, पृ० ३५४

१४० – "उपचारो हि त्रिषु भवति नान्यतमाभावे, मुख्यपदार्थे तत्सदृशोऽन्यारिम्मन विषये तयोश्च सादृश्ये, तषथा मुख्येडग्नौ तत्सदृशे च माणवके तयोश्च साधारणे धर्मे कपिलत्वे तीक्ष्णत्वे वा सति 'अग्नि मणिविक' इत्युपचार क्रियते।" युवतन छोग्डुब-----पूर्वो० पृ० ११८

लेकिन योगाचार दर्शन का दृष्टिकोण निषेधात्मक है। अत यह मुख्य पदार्थ, तत्सदृश विषय एव सादृश्य---इन तीनो मे आत्मविरोध प्रदर्शित करते हुए 'उपचार सिद्धान्त' की वस्तुवादी अवकल्पना का खडन करता है। आगमानुयायी योगाचार दर्शन के अनुसार 'माणवक' मे अग्नि का उपचार या तो जाति के आधार पर होता है। या द्रव्य के आधार पर होता है। माणवक मे जाति 'अग्नित्व' का उपचार मानने पर अतिप्रसग उत्पन्न हो जाता है। 'अग्नि' सामान्य या जाति का उपचार भी या तो 'अग्नित्व' के साधारण धर्म के आधार पर होता है। या 'अग्नित्व' मे पाये जाने वाले साधारण धर्म के अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर होता है।

योगाचार दर्शन के अनुसार 'अग्नित्व' जाति के साधारण धर्म के आधार पर माणवक मे अग्नि का अरोप स्वीकार करने पर अग्नित्व जाति मे गुणत्व का प्रसग आपतित हो जाता है। जबकि गुण द्रव्य मे होता है। न कि जाति मे होता है। इसलिए 'अग्नित्व' जाति के साधारण धर्म तीक्ष्णत्व एव कपिलत्व को आधार बनाकर अग्नि का माणवक मे उपचार करना तर्कसगत नही है। क्योकि अग्नित्व जाति का साधारण धर्म नही होता है। फिर भी अगर माणवक मे अग्नि उपचार किया जाता है। तो अतिप्रसग दोष आ जाता है।[१४१]

---

१४१ – अत्र ह्याग्निमणिवक इति जाति द्रव्य वोपचर्यते। तत्र तावन्न जाते साधरणं कपिलत्व तीक्षत्व वा। न च साधारणधर्माभावे माणवके जातरूपचारो युज्येतऽतिप्रसगात् १ – उपरिवत् पृ० ११६

इस प्रकार की स्थिति मे सभी का सभी मे उपचार हो जायेगा। यह कहना कि तीक्ष्णत्व एव कपिलत्व अग्नि जाति का साधारण धर्म नही है। लेकिन यह गुण अग्नित्व जाति के होने पर ही होते हैं क्योकि अग्नित्व जाति के साथ साधारण धर्म का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अत माणवक मे अग्नि का उपचार हो जाता है।[१४२]

योगाचार दर्शन के अनुसार जाति एव साधारण धर्म के बीच अविनाभाव सम्बन्ध नही हो सकता है क्योकि 'अग्नित्व' जाति के बिना तीक्ष्णत्व एव कपिलत्व साधारण धर्म दूसरी जगह भी देखे जाते है। जैसे माणवक। फिर अग्नित्व जाति के बिना न होने वाले साधारण धर्म का माणिवक मे उपचार मानने का अर्थ है सिद्ध साध्यता को मानना–। इस प्रकार की स्थिति मे माणवक मे उपचार का प्रसग ही नही आता है क्योकि माणवक मे साधारण धर्म पहले से रहता है। जबकि उपचार उस वस्तु का होता है जो नही होता है अगर साधारण धर्म के अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर उपचार स्वीकार करना पडेगा क्योकि अग्नि मे अग्नित्व है और माणवक मे भी अग्नित्व है।[१४३]

---

१४२ – अतद्धमत्वेऽपि जातेस्तीक्ष्णत्वकपिलत्वयोजत्यि–विनामावित्वात् माणवके जात्युपचारो भविष्यति। उपरिवत, पृ० १२०

१४३ – जात्य भावेऽपि तीक्ष्णत्वकपिलत्वयोर्माणवके दर्शनाद् अविनाभावित्वमयुक्तम्। अविनाभावित्वे चोपचाराभवोऽग्नाविव माणवकेऽपि जाति सद्भावत्। तस्मान न माणवके जात्युपचार सम्भवति। – उपरिवत्, पृ० १२०

इस तरह माणवक मे अग्नि जाति का उपचार सभव नही होता है। माणवक मे अग्नि द्रव्य का उपचार मानने पर या तो अग्नि द्रव्य के साधारण धर्म का माणवक के साधारण धर्म के आधार पर उपचार होता है। अथवा अग्नि द्रव्य मे पाये जाने वाले तीक्ष्णत्व एव कलित्व का और माणवक मे पाये जाने वाले 'तीक्ष्णत्व' एव 'कपिलत्व' के सादृश्य के आधार पर उपचार होता है। लेकिन अग्नि द्रव्य के साधारण धर्म और माणवक के साधारण धर्म के आधार पर माणवक मे अग्नि का उपचार नही हो सकता है क्योकि अग्नि द्रव्य के साधारण धर्म माणवक के साधारण धर्म से अलग है। अग्नि द्रव्य के तीक्ष्णत्व एव कपिलत्व गुण विशेष है जो अपने विशेषष्य पर आश्रित है एव अग्नि द्रव्य की 'तीक्ष्णता' दाहन क्रिया मे समर्थ है। लेकिन माणवक मे रहने वाली 'तीक्ष्णता' उसकी निपुणता है। इसलिए अग्नि के गुण के आधार पर माणवक मे अग्नि का उपचार नही हो सकता है। यह मत कि अग्नि द्रव्य के साधारण धर्म एव माणवक के साधारण धर्म के मध्य स्वाभाविक रूप से भिन्नता है। लेकिन दोनो के गुणो के मध्य एक समानता है। जिसके आधार पर माणवक मे अग्नि का उपचार हो जाता है। योगाचार दार्शनिको के अनुसार 'सादृश्य' द्रव्य एव माणवक मे पाये जाने वाले गुणो के बीच होता है।

१४४ – न हि योऽग्नेरस्तीक्ष्णोगुण कपिलो वा, स एवमाणवके। कि तार्हि ततोऽन्य विशेषस्य स्वा श्रयप्रतिबद्धत्वात्। न बिनाऽग्नि गुणेनाग्नेमणिवके उपचारो युक्त। अग्नि गुणसादृश्याद् युक्त इक्तिचेत। एवमप्सग्नि गुणस्यैव तीक्ष्णस्य कपिलस्य वा माणवक गुणे तीक्ष्णे कपिले वा सादृश्यदुपचारो युक्त,न तु माणवकेऽग्ने गुण सादृश्येना सम्बन्धत् ।'' – उपरिवत, पृ० १२१ – १२३

माणवक एव द्रव्य के बीच नही होता है। इसलिए माणवक एव द्रव्य के बीच सादृश्य के अभाव मे उपचार नही हो सकता है। इसलिए न तो माणवक मे जाति का उपचार सभव होता है न द्रव्य का उपचार सभव हो पाता है।"[5]

आगमानुयायी योगाचार दर्शन उपचार सिद्धान्त का जडमूल से खण्डन कर देता है। लेकिन यदि उपचार मात्र से सभव नही है तो यागाचार दर्शन 'विज्ञान–परिणाम' मे आत्मा एव धर्म का उपचार कैसे करता हे। विज्ञान–परिणाम' मे धर्म एव आत्मा का उपचार तब तक नही हो सकता हे जब तक धर्म एव आत्मा को मुख्य पदार्थ के रूप मे वस्तुसत न मान लिया जाय। तत्सदृश विषय कि रूप मे विज्ञान परिणाम को न माना जाय एव बाहय वस्तु एव विज्ञान–परिणाम के मध्य साधारण धर्म को न माना जाय। तैथिक दर्शन उपचार के लिए बाहय वस्तु को सत् स्वीकार करता है। इसके अनुसार वस्तु के अस्तित्व–वान होने पर ही उसका दूसरी जगह उपचार सभव होता है। लेकिन योगाचार दर्शन के अनुसार वाहय वस्तु सत् न होकर असत् होती है। उपचार आरोप मात्र है। अत उपचरित वस्तु का सत होना जरूरी नही है। वैसे जो जहा नही होता है उसी का वहा उपचार होता है।[1]

---

१४५ – तस्मान माणवके जात्युपचार सम्भवति,नायिद्रव्योपचार सामान्य धर्म भावत्–––––तस्माद् द्रव्योपचारोऽपि नैव युज्यते।––उपरिवत,पृ० १२० – १२३

१४६ – यच्च यत्र नास्ति, तत तत्रोपचर्यते, तद्यपा वाहीके गौ । एव विज्ञान स्वरूपे बहिश्च आत्माधर्माभात् परिकाल्पित एवालधर्माश्च, न तु परमार्थत । सन्तीति विज्ञानवद विज्ञेयमपि द्रव्यत एव इत्ययमेकान्तवादी नाभ्युपेय । उपरिवत, पृष्ठ १००

सीप मे चादी या माणवक मे अग्नि का उपचार तभी सुष्ठ होता है। जब युक्ति मे चॉदी एव माणवक मे अग्नि असत् होता हे इसी तरह धर्म एव आत्मा विज्ञान परिणाम मे उपचरित मात्र होते है। ये दोनो सत् न होकर केवल कल्पना होते है। कल्पना सवस्तुक न होकर निर्वस्तुक होती है।[147] योगाचार दर्शन आत्माव्यति–वादी होने के कारण धर्म एव आत्मा को अनादिवासना रूपी अविद्या से उत्पन्न हुई स्वीकार करता है। जो बाहयार्थरूप मे प्रतीत होती है। आलयविज्ञान मे अनेक वासनाये अनादिकाल से विभिन्न कलपनाओ द्वारा निक्षिप्त हैं जो समय के अनुसार घट, पट इत्यादि के रूप मे बदल कर बाहयवस्तु के रूप मे प्रतीत होती है।

आगामानुयायी योगाचार दर्शन के मतानुसार शब्द मुखयार्थ नही होता है क्योकि मुख्यार्थ कल्पना एव अभिधान से अलग है। मुख्यार्थ को लेकर योगाचार दर्शन एव तैथिक दर्शन के मध्य मतभेद पाया जाता है। मीमासा दर्शन शब्द के मुख्यार्थ के रूप मे जाति या सामान्य को मानता है।[148]

---

१४७ – येन येन विकरपेन यद् यद् वस्तु विकल्पयते। परिकल्पित एवासौ स्वाभावो न स विद्यते।

उपरिवत, पृष्ठ ३०१

१४८ – जाति मेवाऽकृति प्राहुर्त्यक्तिराक्रियते यथा। सामान्य तच्च पिण्डानामेक बुद्धि निबन्धनम्।।

राजा,के० ––– श्लोक वार्तिक, पूर्वो० कारिका आकृति ३

जबकि न्याय–वैशेषिक दर्शन व्यक्ति, आकृति एव जाति को मुख्य गौणभाव से मुख्यार्थ मानता है।[149] व्याकरण दर्शन के विषय के रूप मे द्रव्य को मानता है।[150] इसके अनुसार द्रव्य ही मुख्यार्थ है।

आगमानुयायी योगाचार दार्शनिक जाति एव द्रव्य दोनो को मानता है। इसके अनुसार मुख्यार्थ स्वलक्षण है। एव स्वालक्षण शब्द एव कन्पना का विषय नही है। स्वलक्षण से अलग द्रव्य, कर्म, गुण, एव जाति कल्पनारोपित है।कल्पना एव शब्द वस्तु के स्वरूप को छिपाकर अवस्तु को वस्तु के रूप मे आभासिक कराते है। इसलिए मुख्यार्थ मे अभिधान एव अभिधेय की प्रवृत्ति सभव नही होती है। सभी शब्द व्यापार गौण होता है। जिसका मुख्य पदार्थ से कोई सबन्ध नही रहता है। शब्द एव कल्पना मुख्यार्थ मे अविद्यमानतया अथवा गौण रूप मे प्रवृत्त होते है। इसलिए धर्म एव आत्मा दोनो मिथ्या सज्ञाये है। जो विज्ञान परिणाम मे प्रज्ञप्त होते है।[१५१]

---

१४६ – व्यक्त्या कृतिजातस्तु पदार्थ । शास्त्री, दु० आ० –– पूर्वो० न्यायसूत्र २/२/६५

१५० – 'द्रव्या भिधान व्याडि । व्याडिमते तु सर्वशब्दानाम् द्रव्यम् अर्थ तस्यैव साक्षात्क्रिया समन्वयोपपत्ते । शर्मा, र० ना० ––– पूर्वोद्धधृत वाक्यपदीय ३/१/२

१५१ – न हि ज्ञानाभिधान व्यतिरिक्तोडन्य पदार्थस्वरूप परिच्छत्तयुपायोडस्तीति। अत प्रधान स्वरूप विषय ज्ञानाभिधानाभावत् नैव मुख्य पदाथौडस्तीत्य वगन्तव्यम्। एव यावच्छब्दे सम्बन्धामावात् ज्ञानाभिधानाभाव । एव चाभिधानभिधेयाभावाद् नैवमुख्य पदाथौडरित। धुवतन छोग्डुब ––– पूर्वोद्धधृत पृष्ठ १२६

पंचम् अध्याय

अपोहवाद का अर्थ एवं स्वरूप

पचम् अध्याय

अपोहवाद का अर्थ एवं स्वरूप

प्रत्येक मनुष्य अपने दैनिक जीवन मे कई भौतिक एव अभौतिक वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण अपने ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से करता है। यथा–नदी, पहाड, रेगिस्तान, वन, पुस्तक, मकान, मोटर कार, हवाई जहाज इत्यादि। इन वस्तुओ को इनके वर्गो से सम्बन्धित सज्ञा से अभिहित किया जाता है। भले ही इन वर्गो मे तनिक भी साम्य न हो। उदाहरण के लिए सफेद रग की गाय, काले रग की भैस, एव लाल रग के बैल इन सभी को हम 'पशु' की श्रेणी मे रख देते है। भले ही वह आपस मे अत्यत भिन्न हो। अब प्रश्न उठता है कि हम ऐसा क्यो करते है।हमसे हजारो करोडो मील दूर रहने वाले मनुष्य भी ऐसा निष्कर्ष निकालते है जैसे हम निष्कर्ष निकालते है। वे ऐसा क्यो करते हैं? इसके कार्य का आधार क्या है? यह दार्शनिको के लिए प्राचीन काल से एक गभीर समस्या रही है। इसकी व्याख्या के लिए दार्शनिको ने विभिन्न मतो का प्रतिपादन किया है। जैसे भारतीय दर्शन मे न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन एव मीमासा दर्शन मे इस समस्या का समाधान करने के लिए 'जाति' या 'सामान्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम काली, सफेद एव लाल रग की गाय को 'पशु' इसलिए कहते हैं क्योकि उनमे पशु की जाति विद्यमान है। जो शाश्वत, नित्य एव सर्वगत है। जिसका गायो के नाश होने पर नाश नही होता। उदाहरण के लिए पशु की जाति तब भी थी जब कभी पशु की उत्पत्ति नही हुई थी। तब भी रहेगी जब सभी पशुओ का विनाश हो जायेगा।पशुओ के जन्म मरण से इस पर तनिक भी आच नही आती। यही बात मनुष्य, पक्षी, नदी, पर्वत, झील, वृक्ष आदि नैसर्गिक वस्तुओ एव मानव निर्मित वस्तु जैसे मकान, मेज, कुर्सी, बस, जाहज, रेलगाडी, मोटरकार के लिए भी सत्य है।

बौद्ध दार्शनिको ने इस समस्या को जिस सिद्धान्त द्वारा हल करने की कोशिश की उस सिद्धान्त को 'अपोह' कहा जाता है। यह बौद्ध दर्शन का सामान्य सिद्धान्त है यह सामान्य सिद्धान्त अन्य भारतीय दर्शनो के सामान्य सिद्धान्त से भिन्न है। भारतीय दर्शन के दार्शनिक सामान्य की समस्या को अपने तत्वमीमासा दृष्टिकोण के माध्यम से चितन करते है। सामान्य के स्वरूप के सदर्भ में सभी भारतीय दार्शनिको के विचारो मे विभिन्नता पाई जाती है। न्याय वैशेषिक दर्शन सामान्य के विषय मे यथार्थवाद का निरूपण करते है। वही जैन दर्शन एव वेदात दर्शन इस सदर्भ मे

अवधारणावाद या सप्रत्ययवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। जबकि बौद्ध दर्शन मे इसे 'अपोहवाद' कहा जाता है। इस सिद्धान्त को नामवाद भी कहते हे। इसके अतिरिक्त इसे 'अर्थसिद्धान्त' भी कहते है।

अपाहवाद मे व्यक्ति ही यथार्थ माने जाते है। इसमे व्यक्तियो के अलावा जाति की कोई सत्ता नही मानी जाती। व्यक्ति मे जाति नाममात्र है अर्थात उसकी सत्ता वास्तविक न होकर काल्पनिक है। इसमे जाति का विभेदक अर्थ लिया जाता है। सामान्य या नाम कहने से केवल यह ज्ञात होता है। कि एक नाम वाले पदार्थ अन्य नाम वाले पदार्थ से भिन्न है।[1]

अपोहवाद का सर्वप्रथम प्रतिपादन आचार्य दिङगनाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' मे किया। इसके पश्चात धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्त्तिक' मे, शातरक्षित ने 'तत्वसग्रह' मे तथा रत्नकीर्ति ने 'अपोहसिद्धि' मे प्रस्तुत किया।

---

१ – श्री राम मूर्ति पाठक कृत भारतीय दर्शन की सभीक्षत्मक रूपरेखा के भाग २ के पृष्ठ ६६–६७

से उदधृत व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अपोह' शब्द वह् धातु के पूर्व अप् और बाद मे घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है। (अप+वह+घञ) का अर्थ निम्न है–

क) हटाना, दूर करना, विरोपण।

ख) तर्क देना, युक्ति देना।

ग) तर्कशक्ति के प्रयोग द्वारा शका निवारण।

घ) निषेधात्मक तर्कणा।[2]

लेकिन धर्मकीर्ति, दिङनाग आदि ने इसको एक विशिष्ट अर्थ मे प्रयोग किया है। वह है अतद्व्यावृत्ति अथवा तद्भिन्न त्याग।[3] 'अपोह' एव जाति सिद्धान्त दोनो ही हमारे अनुभवमूलक जगत का निर्माण करते है। किन्तु दोनो सिद्धान्तो मे मूलभूत अन्तर है। नैयायिको के अनुसार जाति की मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि की भाति वास्तविक सत्ता है। यह एक नित्य, शाश्वत, एव सर्वव्यापी वस्तु तत्व है। जो प्रत्येक वस्तु मे अपने पूर्ण रूप मे विद्यमान है। किन्तु बौद्ध नैयायिको के अनुसार 'अपोह' बुद्धि के सप्रत्यय है। यह बुद्धि प्रसूत है। यह कल्पना की सृष्टि है। इनकी वास्तविक सत्ता नही है। उनके अनुसार शब्द एव सप्रत्यय सभवत द्वन्द्वन्यायात्मक है। वे किसी वस्तु के स्वरूप नही अपितु उस वस्तु से भिन्न वस्तुओ की व्यावृत्ति के बोधक है।[4]

---

२ – वामन शिवराम आप्टे कृत सस्कृत हिन्दी कोश पृष्ठ ६५, मातीलाल बनारसी दास चौक वाराणसी १६६५

३ – वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत हिन्दी कोश पृ० ६५ मोतीलाल बनारसी दास चौक वाराणसी

४ – प्रमाणसमुच्चय ५.१।

अनादि वासना से वशीभूत होने के कारण हम आरोपण क्रिया को भूल जाते है और इस आरोपित आकार को ही वास्तविक वस्तु समझ बैठते है।" और इसे नित्य, शाश्वत, सर्वगत आदि सज्ञाओ से विभूषित करते है। जबकि यह बौद्धक सरचना मात्र है। इसका वास्तविक अस्तित्व नही है।

---

७ – तत्र यत्तदारोपित विकल्पधियाऽर्थष्व भिन्न रूप तदन्य व्यावृत्त पदार्थानुभव बलायातत्वात् स्वय चान्यवृत्ततयाप्रख्यानाद्भ्रान्तैश्चान्य व्यावृत्तार्थेनसहैकेनाध्यवसितत्वाद् अन्यापोढ पदार्था–धिगत फलत्वाच् चान्यापोढ इत्युच्यते। – तत्वसग्रह पज्जिका पृष्ठ २७४ ।

८ – भदौरिया, अनिल कुमार सिंह––––अपोहवाद का विश्लेषण, सदर्शन भाग २२, उत्तर भारत दर्शनपरिषद इलाहाबाद, पृष्ठ १६–१७

अपोहवाद का उद्भव एव विकास

अपोहवाद की अवकल्पना मे शब्द एव कल्पना अन्यव्यवच्छेदात्मक स्वरूप अभिधर्म, व्याकरण, माध्यमिक दर्शन एव महायान सूत्रो मे विवक्षित शब्दार्थ विषयक चितन का तार्किक एव दार्शनिक परिणाम है। शब्द वस्तु का अभिधान साक्षात रूप से न करके अन्य वस्तुओ का व्यवच्छेद करते हुए करता है। आचार्य व्यादि वैयाकरण मे यह मानते है कि शब्द परस्पर व्यवच्छेदपूर्वक अभिधेयार्थ का ज्ञान कराता है। क्योकि शब्द भेदात्मक होता है। व्याडि के अनुसार शब्द का मुख्यार्थ द्रव्य होता है। वाक्य मे प्रयोग हुआ शब्द द्रव्यान्तर को निवृत्ति करके अभिधेयार्थ को व्यक्त करता है। 'शुक्ला' गौ इस कथन मे गाय शब्द सभी वर्णो जैसे – शुक्ल, कृष्ण, इत्यादि से उपेत 'गाय' द्रव्य का अभिधान करता है जबकि 'शुक्ल' शब्द गाय के साथ 'शुक्लत्व' का निर्देश न करके शुक्लेत्तर वर्ण का निषेध करता है। इसी तरह 'शुक्ल' शब्द शुक्ल द्रव्य अर्थात शुक्ल गो, 'शुक्ल' अश्व को व्याख्यायित करता है। लेकिन 'गो' शब्द गो से अन्य सभी शुक्ल वस्तुओ का व्यवच्छेद करता है। व्याडि की भाति दिडनाग भी भेद अथवा अन्यव्यवच्छेद को शब्द के साथ प्रयुक्त करते है। लेकिन व्याडि के भेद सिद्धान्त एव दिडनाग के अपोहवाद मे समानता होते हुए भी दोनो सिद्धान्त अलग होते हैं। व्याडि के अनुसार शब्द विधि रूप से द्रव्य को अभिहित व्यक्त करता है। द्रव्य को सत् माना जाता है। उनके अनुसार वाक्य मे प्रयुक्त शब्द अन्य वस्तु का व्यवच्छेद करता है। इसके विरूद्ध दिडनाग यह मानते है कि द्रव्य कल्पना या सज्ञा है। नाम या शब्द वस्तुसत् रूप द्रव्य का अभिधायक न होकर अर्थ शून्य प्रत्यय या प्रज्ञप्ति का अभिव्यजक होता हे। उसके अनुसार गो या शुक्ल आदि सामान्य है। सामान्य सदैव काल्पनिक होता है। कल्पना का धर्म एक वस्तु से दूसरी वस्तु से व्यवच्छेद करना है। परन्तु दूसरी वस्तुओं से व्यवच्छिन्न वस्तु अन्यापोह रूप होने पर भी सामान्य नही है। जिस तरह तैथिक दार्शनिक मानते है।

व्याकरण दर्शन के अनुसार नाम या सज्ञा धातुप तथा अव्युत्पन्न होती हैं। धातुज क्रिया के आधार पर प्रयोग की जाती है। जैसे गो। अव्युत्पन्न सज्ञापरम्परया प्रयोग होती है। जैसे– हस्ती, अश्व आदि। वैयाकरण के अनुसार संज्ञा एव नाम दोनों वस्तु के अवबोधक होते है । लेकिन नाम वस्तु का एकात्मक एव सामग्रयात्मक रूप मे बोध न कराकर वस्तु का आशिक ज्ञान कराता है। इसी वजह से वस्तु के अन्य रूप का बोध कराने के लिए अन्य नाम की जरूरत पडती है। इस तरह से यह कहा जाता सकता है कि 'नाम' जब वस्तु के एक अश को गृहीत करता है तब दूसरे अश का

निषेध करता है। यथा – अग्नि प्रकाश एव ऊष्णता का एकात्म रूप होती है। इनमे 'नाम' जब प्रकाश को ग्रहीत करता है। तब नाम के द्वारा ऊष्णता का ग्रहण न होने के कारण 'ऊष्णता' निषिद्ध रहती इसीलिए नाम वस्तु के स्वभाव को व्यक्त करने मे समर्थ नही होता है।[11] दिङनाग भी यह स्वीकार करते है कि नाम या शब्द वस्तु के स्वभाव की अभिव्यक्ति नही करता है। शब्द या नाम अन्य से व्यवच्छद या निषेध करता है। इसलिए नाम निस्वभाव या प्रज्ञप्ति सत होता है।

अपोहवाद की अवकल्पना मे केवल व्याकरण का ही असर नही रहा है बल्कि बौद्ध दर्शन मे स्वय इसके बीज प्राप्त होते है। वैसे बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण शुरू से ही अपोहात्मक रहा है। 'दर्शन' विचार या दृष्टिकोण है।

---

९ – व्याऽमितेभेदोवाक्यार्थ पदवाच्याना, पदवाच्यानाद्रव्याना द्रव्यातन्तर निवृत्तितात्पर्येणाभिधेयत्वात्।

– शर्मा, रघुनाथ–––वाक्यपदीय पूर्वो० कारिका ३/जाति समुद्देश १५

१० – राजा, के० के०––––––पूर्वोद्धृत, पृ० १६६२–६३

११ – द्विवेदी, क० दे०–––––पूर्वोद्धृत पृ० १४३

कोई भी दृष्टिकोण विचार अन्य दृष्टिकोण या विचार के निषेध मे प्रसक्त होता है। इसलिए बुद्धि स्वभाविक रूप से अन्यापोहात्मक होती है। लेकिन बुद्धि के अपोहात्मक स्वरूप का विकास अचानक न होकर क्रमिक रूप मे होता है। महात्मा बुद्ध का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही निषेधात्मक रहा है। गौतम बुद्ध अपने को विभज्यवादी या विश्लेषणवादी कहते है। वैदिक सामाजिक –व्यवस्था एव यज्ञ–यागिक कर्मकाड का विरोध उनके प्रतिषेधात्मक या प्रसज्यापोहात्मक दृष्टिकोण का फल है। प्रतिषेध या विश्लेषण शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद दोनो अन्योन्यविरोधी स्थितियो का निषेध या अपोह है। इसीलिए महात्मा बुद्ध ने आत्मा एव अनात्मा दोनो का निषेध माना है।[12]

नागार्जुन बुद्ध देशना के प्रतिषेधात्मक स्वरूप को शून्यता के रूप मे मानते है। यह शून्यता 'प्रतीत्य समुत्पाद' है। इसके अनुसार प्रतीत्य समुत्पाद अतदव्यावृत्ति रूप होता है। प्रतीत्य समुत्पाद का मूल नियम "ऐसा होने पर यह होता है ऐसा न होने पर ऐसा नही होता है" यह अपोहात्मक है।[13] नागार्जुन के अनुसार वस्तु एव उसका स्वभाव वस्त्वन्तर स्वभाव की अपेक्षा रखता है। जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओ का अस्तित्व एव स्वभाव नही होता है अर्थात वस्तुए नि स्वभाव होता है। उनके अनुसार प्रत्यय आदि मे वस्तुओ का स्वभाव नही होता है। स्वभाव के न रहने पर परभाव भी नही रहता है।

---

१२ – आत्मेत्यपि प्रज्ञप्तिमनात्मेत्यपि देशितम्। बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्।। वैद्य, पी० एल०-----मध्यमक शास्त्रम्, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, १९६०, आत्मपरीक्षा १६

१३ – पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र------दि ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, १९८३, पृष्ठ० ४१६

वस्तुए न तो अपने आप उत्पन्न होती है न दूसरे के द्वारा उत्पन्न होती है। न स्वत–परत उत्पन्न होती है एव न अहेतुत उत्पन्न होती है।[14] इस तरह नागार्जुन इन धारो प्रत्ययो का प्रसज्य प्रतिषेध करता है। इनको प्रसज्य प्रतिषेध न मानकर 'वस्तुए स्वत उत्पन्न नही होती है, का अभिप्राय होगा वस्तुए अन्य रूप मे उत्पन्न होती है, अर्थात 'उत्पत्ति' को विधि रूप मे मानना होगा। जबकि नागार्जुन को कोई भी अभ्युपगम मान्य नही है। इसलिए यहा प्रसज्य प्रतिषेध ही विवक्षित है।[15] क्येकि शून्यता दृष्टियो का प्रहाण है। नागार्जुन के अनुसार शून्यता या निस्वभावता वस्तु स्वभाव का विश्लेषण न होकर उसका प्रतिपादन है। अथवा वस्तु स्वभाव का शून्यता ही निस्वभावता है। शब्द एव कल्पना का विषय स्वभाव शून्य वस्तु होती है। किसी भी वस्तु का अक्तित्व स्वभावत नही होता है। इसलिए शब्द या नाम स्वभाव का अभिकथन नही करते है। नागार्जुन के अनुसार वस्तु का असाधारण आत्मीय स्वरूप 'स्वलक्षण' या स्वभाव' कहलाता है। यथा–पृथ्वी का कठिन्य। यह स्वभाव हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण कृतक होता है। जो कृतक होता है। वह उपादाय प्रज्ञप्तिरूप या सवृत्ति सत होता है।

---

१४ – न स्वतो नापिपरतो न द्वाम्या नाप्यहेतुत । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन।। न हि स्वभावो भावानां प्रत्यायादिषु विद्यते। अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते।। वैद्य, पी० एल०-----पूर्वोद्धृत पृष्ठ ४ एव २७

१५ – 'प्रसज्य प्रतिषेधरस्य विवक्षितत्वात् परत्रतोऽप्युत्पादस्य प्रतिषेत्यभानत्वात्।'' वैद्य, पी० एल०-----प्रसन्नपदाव्याख्या, पूर्वोक्त पृष्ठ ५

इसलिए स्वभाव या निमित्त के अभाव मे शब्द की प्रवृत्ति निषेध या निवृत्ति मे होती है।' इस तरह नागार्जुन सभी तरह के बुद्धि विश्लेषण को विरोधात्मक या आत्म विरोधात्मक मानते हुए बुद्धि या कल्पना द्वारा परिकल्पित विषयो को स्वभाव शून्य स्वीकार करते है। उनके अनुसार वस्तुए सर्वभाव स्वभाव शून्य होने के कारण अन्य के निषेध मे ही प्रयोग की जाती है।

इसके विरूद्ध बौद्ध दर्शन का अभिधर्म सप्रदाय शब्द या नाम को सस्वभाव मानता है। उनके अनुसार 'सज्ञा' वस्तु का अविपरीत ख्यापन करने लगती है। और अधिवचन वस्तु का ख्यापन 'नामन' से अनुविद्ध होकर करता है। अभिधर्म दर्शन अधिवचन एव सज्ञा के मध्य भेद करता है। उसके अनुसार 'नीलम विजानाति' के रूप मे वस्तु की अपरोक्षानुभूति 'सज्ञा' है। तथा 'नीलम इति विजानाति' के रूप मे वस्तु का 'नामन' के साथ ज्ञान अधिवचन है अर्थात सज्ञा 'अर्थसज्ञा' है और नाम्न 'धर्म सज्ञा' है। वैभाषिक दर्शन 'धर्म सज्ञा' को चित्त–विप्रयुक्त–सस्कार' के रूप मे विवेचित करता है। उसके अनुसार पदकाय, नामकाय एव व्यजनकाय चित्तविप्रयुक्त सस्कार है। वाक या शब्द नाम्न मे प्रवृत्त होता है। और नाम्न वस्तु को द्योतित करता है। क्योकि नाम्न अर्थ सहज होता है। नामन् सस्वभाव या निमित्तक होता है नामन् धर्म है। जिसके आधार पर वस्तु का अभिधान होता हे। वस्तु स्वभाव के आधार पर ही नामन् की अवधारणा होती है।''

१६ – निवृत्तमभिधातव्य निवृत्ते चित्त गोचरे। अनुत्पन्ना निरूद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता।।

पूर्वोक्त, १८/७

१७ – रिजवानुल्ला–––बौद्ध दर्शन मे शब्द बोध विमर्श,दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली '१६७७' लघु शोध निबध, पृष्ठ ६३–६५

'अग्नि' नाम 'अग्नि' 'वस्तु' का प्रत्यायक होता है। नाम निमित्त होता है क्योकि निमित्त स्वभाव है जैसे–अग्नि की ऊष्णता। नागार्जुन वैभाषिक दर्शन के इस सिद्धान्त का खडन करते हुए कहता है कि नाम–निमित्त प्रत्युत्पन्न होने के कारण नि स्वभाव है। उसके अनुसार निमित्त एव नाम के बीच न तो तादात्म्य सबन्ध होता है। एव न बाहय 'बोधिसत्व' रूप एव नाम का सघात होता है। इन दोनो से अलग 'बोधिसत्व' नाम की कोई वस्तु द्रव्य सत या स्वभावसत नही होती है। रूप एव नाम से पृथक 'बोधिसत्व' के सस्वभाव मानने का अर्थ है एक तीसरे स्वभाव को मानना जो कदापि सभव नही है।[18] नाम रूप से अलग 'बोधिसत्व'सामान्य भी नही है। क्योकि सामान्य वस्तुसत नही होता है। नागार्जुन के अनुसार 'बोधिसत्व' एक नाम है। जिसकी प्रतीति नाम रूपात्मक वस्तु को देखकर होती है। नाम मे ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। यह नाम भी अनादि वासना से उद्‌भूत होने के कारण वस्तु शून्य होता है। इस तरह द्रव्य, गुण, कर्म, यदृच्छा आदि नाम या शब्द है। जिसको परवर्ती बौद्ध दार्शनिक 'आरोपिताकार' या 'बुद्धयाकार' के रूप मे प्रतिपादित करते है। नागार्जुन के मत मे 'बोधिसत्व' रूप एव नाम से प्रत्युत्पन्न होन के कारण नि स्वभाव है। यह नि स्वभावता ही शून्यता शून्यता को न तो किसी धर्म के स्वभाव का प्रतिषेध कह सकते है। न हि धर्म विनिर्मुक्त स्वभाव कह सकते है। बल्कि वस्तुओ के असत स्वभाव का ज्ञापन मात्र है। यह असत् स्वभाव सज्ञा या नाम मात्र होता है। जिसे प्रज्ञप्तिसत अथवा सवृत्तिसत या कल्पना कहते है। यह कल्पना वस्तुस्वभाव का अभिधान नही करती है जिस प्रकार दिडनाग मानते है।

महायान सूत्रो मे यह विवेचित है कि शब्द एव कल्पना के द्वारा वस्तु या तत्व की प्राप्ति नही होती है।

---

१८ – रमण, के० व्रेकट–––––नागार्जुन फिलास्फी, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी १९८७,

पृष्ठ ८७

क्योकि 'तत्व' शब्द एव कल्पना से अतीत है। तत्व ज्ञान गोचर या प्रत्यात्म गोचर है। शब्द एव कल्पना परस्पर हेतु प्रत्यय से समुत्पन्न होने के कारण वस्तुसत का अभिधान नही करते है।' शब्द से संसक्त 'तत्व' नही होता है। शब्द का स्वभाव सदैव व्यवच्छेद होता है जो वस्तु का अभिधान अन्य वस्तु के व्यवच्छेद पूर्वक करता है। शब्द केवल अर्थ का निर्देश ही करता है। यथा–अगुलि चन्द्रमा का इसलिए नामन् भी वस्तु का केवल संकेत करता है न कि वस्तु स्वभाव का प्रतिपादन करता है। महायान सूत्र मे बताया गया है कि निमित्त का अवगाहन इन्द्रियानुभूत वस्तु के साथ होता है क्योकि वह वस्तु का धर्म या गुण होता है। लेकिन विकल्प इन धर्मो या गुणो को वस्तु से अलग करके या एक दूसरे से पृथक करके 'नामन्' के रूप मे गृहीत करता है। इसलिए नामनिमित्त विकल्प है। कल्पना एव शब्द का स्वभाव अन्वयव्यवच्छेदा–त्मक है।'यह ऐसा है अन्य प्रकार का नही है।'वैसे–अश्व हस्ती आदि नाम है। जो अन्योपो–हात्मक होते है। वस्तु स्वभाव नही होता है।''

---

१९ – न महामते वचन परमार्थ, न च यद्वचनेना मिलप्यते स परमार्थ । तत्कस्य हेतो । यदुत परमार्थार्यसुखाभिलाप प्रवेशित्वात्परमार्थस्य वचन न परमार्थ । परमार्थस्तु महामते आर्य ज्ञान प्रत्यात्मगतिगम्योन वाग्विकल्प बुद्धि गोचर । – वैद्य,पी०एल०––सद्धर्मलड कावतार सूत्रम, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, १९६३, पृष्ठ ३७

२० – तत्र महामते निमित्त यत्संस्थानाकृति विशेषाकार रूपादि लक्षण दृश्यते तन्निमित्तम। यत् तस्मिन्निमित्ते घटादि सज्ञाकृतकम् – एवमिद नान्यथेति तन्नाम। येन तन्नाम समुदीतयति निमित्ताभिवज्जक समधर्मेति वा, स महामते चित्तचैत्तसज्ञा शब्दितो विकल्पो । पूर्वोक्त – पृष्ठ ६३।

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि दिङनाग अपने दार्शनिक विचारो विशेषकर अपोह की अवकल्पना की उद्भावना बौद्धेत्तर दर्शनो की अपेक्षा साक्षात रूप से अभिधार्मिक एव माध्यमिक दर्शन के प्रभाव मे करते है। माध्यमिक दर्शन की भाति दिङनाग यह मानते हैं कि निस्वभावता की अभिव्यक्ति अन्यापोह रूप मे होती है। वस्तु के निस्वभाव होने के कारण ही शब्द केवल अर्थान्तर या शब्दान्तर का व्यवच्छेद ही करता है। क्योकि वस्तु सज्ञा मात्र या सवृत्तिमात्र है। शब्दार्थ अन्य वस्तुओ से व्यवच्छिन्न होकर भी वस्तुसत न होकर निस्वभाव होता है। वस्तु स्वभाव का प्रतिपादन विधि रूप मे होता है न कि निषेध रूप मे।

बौद्ध दार्शनिक मानते है कि शब्द का स्वरूप अन्यापोहात्मक होता है क्योकि वह वस्तु को अन्य वस्तुओ से व्यवच्छिन्न करता है। शब्द साक्षात रूप से वस्तुसत का निरूपण नही करता हे बल्कि शब्द अन्यपोह द्वारा अपने विषय का प्रतिपादन करता है। या शब्द अन्यापोह विशिष्ट वस्तु का अभिधान करता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार गो विशेष का प्रत्यक्ष 'अगो' से व्यावृत्त होता है। क्योकि गो मे विद्यमान धर्म अगो–हस्ती, अश्व आदि मे नही होता है। इसलिए साक्षात रूप से प्रत्यक्षीभूत वस्तु 'अगो' से अलग होती है तथा अगो से अलग गो वस्तुसत न होकर सवृत्तिसत या सज्ञामात्र होने के कारण प्रज्ञप्तिसत होती है। अत 'गो' शब्द से प्रत्यय कल्पना प्रसूत होता है। इसलिए शब्द अन्यापोह के रूप मे 'गो' सज्ञा या नाम को अभिहित करता है।

अपोहवाद का अर्थ एव प्रकार

बौद्ध दर्शन प्रमाण व्यवस्थावादी है न कि प्रमाणसप्लववादी। वह प्रमाण तथा प्रमेय के मध्य व्यवस्था मानते हुए प्रत्यक्ष एव अनुमान के विषयो को एक दूसरे से पृथक करते हुए 'स्वलक्षण' को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय एव 'सामान्य लक्षण' को अनुमान का विषय मानता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रमेय के आधार पर प्रमाण की सिद्धि होती है। लेकिन नागार्जुन के अनुसार प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था परमार्थिक न होकर सावृत्तिक है। क्योकि प्रमेय व्यवस्था को प्रमाण–प्रमेय प्रतीत्य समुत्पन्न होते है।[21] इसी आधार पर दिङनाग प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था को विज्ञान वादी परिप्रेक्ष्य मे व्यवहारिक मानते हुए केवल पत्यक्ष एव अनुमान को प्रमाण की श्रेणी मे रखते है।[22] उसके अनुसार प्रत्यक्ष एव अनुमान से व्यतिरिक्त न तो तीसरा प्रमाण है तथा स्वलक्षण और सामान्य लक्षण से पृथक न तीसरा प्रमेय है।

---

२१ – अथ ते प्रमाण सिद्धया प्रमेय सिद्धि: प्रमेय सिद्धया च। भवति प्रमाण सिद्धि र्नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धि:।। वैद्य, पी० एल०–––––विग्रह व्यावर्तनी, पूर्वोद्धृत कारिका ४७

२२ – प्रत्यक्षमनुमान प्रमाणे लक्षणदृयं। प्रमेयं तत्र संधाने न प्रमाणान्तर न च। –हटोरी, मा०––प्रमाणसमुच्चय, हावर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९६८, कारिका प्रथम/२

जिसे अन्य प्रमाण से गृहीत किया जा सके।[23] बौद्ध दर्शन का प्रत्यक्ष सविकल्प न होकर निर्विकल्प होता है। सविकल्प प्रत्यक्ष जात्यादि से समवेत होने के कारण कल्पना या अनुमानात्मक है। इडियानुभव से उत्पन्न प्रत्यक्ष–पृष्ठाभावी–विकल्प भी सविकल्पक होता है। लेकिन सविकल्प प्रत्यक्ष मे कल्पना एव प्रत्यक्ष पृष्ठ भावी विकल्प को एकीकृत करके निश्चित किया जाता है। जैसे–यह गाय है। यहा यह 'स्वलक्षण' है। और 'गाय' कल्पना है। ये एक दूसरे से अलग है। लेकिन इन्हे भेदरूप मे गृहीत न करके अभेद रूप मे गृहीत किया जाता है। इसलिए कल्पना एव शब्द स्वलक्षण को गृहीत न करने के कारण अप्रमाणिक होते है। बौद्ध दर्शन के मतानुसार कल्पना एव शब्द भ्रान्त होने पर भी वस्तु के साथ परम्परया सम्बद्ध होने के कारण वस्तु का ज्ञान करा देते है। यथा मणि की प्रभा को देखकर मणि का ज्ञान हो जाता है।[24]

---

२३ – तस्मादर्थ क्रिया सिद्धे सदसत्ता विचारणात्। तस्य स्वपररूपाभ्या गतेर्कयद्धय मतम।। न प्रत्यक्ष परोक्षाभ्या गेयस्यान्यस्य सम्भव । तस्मात् प्रमेय दित्वेन प्रमाणदित्वभिष्यते।। एकस्यार्थ स्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सत रचयम्। कोऽन्यो भागो न दुष्ट स्याद य प्रमाणै परीक्ष्यते।। शास्त्री, द्वारिका दास —————— प्रमाणवर्तिक, पूर्वोद्धृत पृष्ठ ११७, १२०, २७३,

२४ – मणि प्रदीप प्रभयोर्मणि बुद्धया भिधावतो । मिथ्या ज्ञान विशेषऽपि विशेषाऽर्थ क्रिया प्रति। – उपरिवत् पृष्ठ ११८–११६

लेकिन शब्द प्रमाण नही है। केवल प्रत्यक्ष एव अनुमान ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष स्वलक्षण विषय मे नियत होता है। और अनुमान सामान्य लक्षण मे नियत होता है।"[25] आचार्य धर्मकीर्ति तार्किक विश्लेषण मे अन्त मे स्वलक्षण को ही प्रमेय मान लेते है। क्येकि सामान्य लक्षण असत होता है। स्वलक्षण ही 'स्व' एव 'पर' रूप मे द्वयय के रूप मे जाना जाता है।[26]

बौद्ध दर्शन के मतानुसार प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण से पृथक 'शब्द प्रमाण' प्रमाणान्तर से न होकर अनुमान की तरह ही है। दिङनाग के अनुसार जिस प्रकार अनुमान अन्य वस्तुओ से व्यवच्छेद करके 'कृतकत्वादि' का ज्ञान कराता है। उसी तरह शब्द अन्यापोह् पूर्वक अपने अर्थ को अवभाषित करता है।

---

२५ – न हि स्व–सामान्य लक्षणाभ्याम् अन्यत्र प्रमेयमस्ति। स्वलक्षणविषय नियत प्रत्यक्ष, सामान्य लक्षण विषय नियत अनुमानम्।' जम्बु विषय–––द्वादशारन यचक्रम, पूर्वो० पृष्ठ ८८

२६ – भाव धर्मत्वाहा निश्चेत् भाव ग्रहण पूर्वकम्। तज्ज्ञान मित्यदोषोऽयम्, मेय त्वेक स्वलक्षणं।। शास्त्री, द्वारिकादास––––––प्रमाणवार्त्तिक, पूर्वो० पृष्ठ ११७

२७ – न प्रमाणान्तर शाब्दं अनुमानात् तथा हि तत्। कृतकत्वादिवत स्वार्थ अन्यापोहेन भावते।। हटोरी, मा०–––प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पूर्वोद्धृत कारिका ५/१

आचार्य दिङनाग 'वस्तु' को स्वय मे स्वभावत अनभिधेय मानते है। लेकिन नामन या जात्यादि से सयुक्त होकर शब्द द्वारा व्यक्त होती है। लेकिन नाम जात्यादि से योजना कान्पनिक है। इसी कल्पना मे शब्द की प्रवृत्ति होती है। शब्द की प्रवृत्ति पञ्यधा होती है। जैसे – जाति, नाम, द्रव्य, गुण कर्म। यह पाचो कल्पनाए वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर शब्द ज्ञान के लिए नई दिशा देती है।[२९] इसी दृष्टिकोण से दिङनाग शब्द एव कल्पना को एक दूसरे से अन्वित मानते है।[३०] इन्ही कल्पनाओ के आधार पर यदृच्छा शब्द, गुण शब्द, जाति शब्द, क्रियाशब्द, एव द्रव्यशब्द की प्रवृत्ति होती है। लेकिन शातरक्षित केवल यादृच्छिक शब्द एव जाति शब्द को मानते है। उनके अनुसार सभी शब्द विवक्षाधीन जन्म लेने के कारण या तो यादृच्छिक होते है।

---

२८ – यस्मिन विषये शब्द प्रयुज्यते तस्य येनाङगेना विनाभावितया सम्बद्धस्तत कृतकृत्वा दिवदर्थान्तर व्यवच्छेदेन द्योतयति। ततोऽनुमानान्न भिद्यते। जम्बुविषय–-पूर्वो० पृष्ठ ६०७

२९ –'यदृच्छा शब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्चयते द्रित्थ इति। जाति शब्देषु जात्या गौरिति। गुण शब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रिया शब्देषु क्रिययापाचक इति। द्रव्य शब्देषु द्रव्येण दझडी विषणीति। अन्ये त्वर्थ शून्यै शब्द रैवविशिष्टोदर्थ उच्यत इति। यत्रेषा कल्पना नास्ति तत्प्रत्यक्षम्।' हटोरी, मा० ––– प्रमाणसमुच्यय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २४०

३० – विकल्प योनय शब्दा विकल्पा शब्द योनय। कार्य कारणता तेषा नार्थ शब्दास्पृशन्त्यपि। शेरवात्स्की ––– बुद्धिस्ट लाजिक, पूर्वोद्धृत पृष्ठ ४०५ भाग २

या विभिन्न व्यक्ति विशेषो मे समान होने के कारण जाति शब्द होते है।[31] शातरक्षित के अनुसार जाति आदि की वस्तुसत्ता नही होती है। इस लिए दिडनाग भी नाम योजना एव जाति आदि योजना मे भेद करते हुए कल्पना को केवल 'नामन' से सम्बन्धित करते है। दिडनाग के अनुसार जाति कल्पना या योजना तैथिक मत होने के कारण स्वीकार नही है।वैसे जाति सवृत्तिसत है। जो 'नामन्' द्वारा ही वस्तु के साथ सम्बद्ध होते है। इसलिए 'नामन्' से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। क्योकि 'नामन' कल्पना से अपृथक रूप से सम्बन्धित है। तथा नामन् के अधार पर ही वस्तु का अभिधान होता है।[33]

---

३१ – दृच्छा शब्द वाच्याया जाते सद्भावतो न च। अव्याप्ति रस्य मन्तव्या प्रसिद्धेस्तु प्रथक श्रुति ।।

शास्त्री, द्वारिका दास-----तत्वसग्रह, पूर्वो०, पृष्ठ ४५३–५४

३२ – 'न शाबलेया दिव्यक्ति व्यतिरिक्ता जात्यादय परमार्थिका सन्ति सावृत्तास्त इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थ मुक्त मिदं लक्षण कारेण, न तु पृथगपरा कल्पना दर्शयितुमिति । –

उपरिवत,पृष्ठ ४५४–५५

३३ – यद्वा स्वमतसिद्धैव केवला कल्पनोदिता सर्वत्र नाम्ना युक्तोऽर्थ उच्यत इति योजनात्।।

उपरिवत, कारिका १२२३।

बौद्ध दर्शन के अनुसार शब्द नामन् मे प्रवृत्त होता है। जिस तरह वैभाषिक दर्शन मानता है। लेकिन दिङ नाग के अनुसार 'नामन्' जाति आदि वस्तुस्वभाव न होकर कल्पना है। 'नामन्' अर्थ शून्य या निःस्वभावरूप मे विशिष्ट अर्थ का कथन करता है[34] क्योकि जाति, द्रव्यादि अर्थ मे नाममात्र या सज्ञामात्र होते है।[35] इस प्रकार जहा तैथिक दर्शन जाति,द्रव्य आदि को शब्द ज्ञान का प्रवृत्ति–निमित्त मानते हुए इन्हे पदार्थ के रूप मे अभिहित करता है। वही पर बौद्ध दार्शनिक इन पदार्थो को कल्पना प्रसूत अभिव्यक्त करते हुए इनकी वस्तु सत्ता का खडन करता है। बौद्ध न्याय के मतानुसार 'गौ' जाति शब्द का वाच्य 'गोत्व' वस्तुसत जाति न होकर अगोव्यावृत्ति मात्र है। 'गो' शब्द अन्यव्यावृत्तिपूर्वक 'गो' का अभिधान करता है। यह गो जाति आदि से निरपेक्ष अथवा अर्थशून्य अपोहमात्र होता है।[36] शब्द अन्य वस्तु का निषेध करके वस्तु का अभिधान करता है। इसलिए प्रत्यक्षीकृत वस्तु के साथ शब्द या नाम की योजना 'कल्पना' है। कल्पना का स्वरूप अन्यापोहात्मक होता है। कल्पना एव शब्द वस्तु का ज्ञान अनुमान की तरह अतदाव्यावृत्ति के रूप मे होता है। दिङ नाग के अनुसार शब्द स्वरूपत अर्थ का ज्ञान नही करता है क्योकि स्वभावत या विधिरूप से वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष का धर्म है।[37]

---

३४ – न तद् वस्त्वभिधेयत्वात् साफल्यादक्षसहते। नामादि वचने वक्तृ श्रोतृवाच्चानुबन्धिनी।।

शास्त्री,द्वारिकादास प्रमाणवार्तिक,पूर्वोद्धृतपृष्ठ १०४

३५ – 'अन्य इति बौद्धा अर्थ शून्यैरिति। जात्यादि निरपेक्षैरपोह मात्र गोचर शब्दै। शास्त्री, द्वारिका दास––तत्वसग्रह, पूर्वो० पृष्ठ ४५५

३६ – ते तु जात्यादयो नेह लोकवद् व्यतिरकिण। इत्येतत्प्रतिपत्यर्थमन्ये त्वित्या दिवर्णितम्।।

–उपरिवत, कारिका १२२८

३७ – शब्दार्थ ग्राहि यद यत्र तज्जान तत्र कल्पना। स्वरूप च न शब्दार्थ तत्राध्यस अतोऽखिलम्।।

शास्त्री, द्वारिका दास––––प्रमाणवार्त्तिक, पूर्वोद्धृत कारिका – प्रत्यक्ष/२८७

शब्द द्वारा विधि रूप मे अर्थ का ज्ञान मानने पर समस्त जगत को प्रत्यक्षमय स्वीकार करना पडेगा, जोकि अनुभव विरूद्ध है। बौद्ध न्याय के अनुसार वर्ण, सस्थान एव अन्य धर्मो से उपेत 'घट' वस्तु का ज्ञान इन्द्रियानुभव द्वारा साक्षातरूप से नही होता है। क्योकि वस्तु के ये धर्म काल्पनिक या विकल्पित होते है। जबकि इन्द्रियनुभव मे 'विकल्प' को कोई महत्व नही होता है। एक वस्तु नील वर्ण के रूप मे तभी जानी जाती है 'नीलम इति विजानाति'। जबकि वह अनील वस्तुओं से व्यावृत्त होती है और अन्य वस्तु से 'व्यावृत्ति' या 'अन्यापोह' कल्पना के अलावा कुछ नही हैं। इसी तरह एक वस्तु गोलाकार रूप मे तब जानी जाती है जब कि वह अगोलाकार वस्तुओ से व्यवच्छिन्न होती है। वैसे वस्तु के अनेक धर्म अन्य वस्तुओ से व्यच्छिन्न होने के कारण विकल्पिव या कल्पना प्रसूत होते है। इस रूप मे वस्तु अनेक धर्मो के साथ कल्पित होती है। अत इन्द्रियानुभव मे वस्तु का बोध सवार्थ या विभिन्न धर्मों के रूप मे न होकर स्वसवेद्य रूप मे प्रत्यक्षीभूत होता है क्योकि प्रत्यक्ष मे वस्तु का विषयलोकन मात्र होता है।[3] इसलिए शब्द का विषय स्वलक्षण नही होता है। शब्द कल्पना ग्राही होने के कारण अनुमान की तरह अन्यापोहात्मक होता है। बौद्धो के मत मे अनुमान मे 'हेतु' साध्य की सिद्धि अन्यापोह पूर्वक करता है। पर्वत मे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान हेतु आधारित होता है। धूम अग्नि का हेतु है। अनुमान द्वारा 'प्रकाश ऊष्णता' आदि विभिन्न धर्मो को धारण करने वाली विशेष वस्तु का ज्ञान एकात्म रूप मे न होकर विशेष अग्नियो मे सामान प्रसवात्मिका 'सामान्य अग्नि' का ज्ञान होता है।

---

३८ – धर्मिणोऽनेकरूपस्य नेन्द्रियात्सर्वथा गति । स्वसवेद्यम निर्देश्यम रूपमिन्द्रिय गोचर ।। हटोरी, मा०––––प्रमाण समुच्चय, पूर्वो० का ५

जबकि 'प्रकाश–ऊष्णता' से पृथक 'अग्नि सामान्य' का अस्तित्व वस्तुसत रूप मे नही होता है। यह 'अग्नि सामान्य' बुद्धि मे आरोपित विकल्पमात्र या प्रत्यय मात्र हैं। जबकि वस्तु सत 'अग्नि' विभिन्न धर्मो का एकात्मरूप होता है।' बौद्ध न्याय के अनुसार जो अग्नि नही है। जैसे पृथ्वी, जल, इत्यादि उसमे धुआ नही होता है। अत धूम को देखकर अ ग्न का ज्ञान या अनुमान 'अनाग्नि' नही है। इस रूप मे होता है अथवा अनाग्नि का व्यवच्छेद करके 'अग्नि' का अनुमान होता है। इस 'अग्नि' की अनुमति बाहय रूप से सत् एव विभिन्न धर्मो से युक्त व्यक्ति वि ेष 'अग्नि' के बिना होती है। इसलिए हेतु के द्वारा अन्यापोहपूर्वक साध्य की सिद्धि होती हे।'

दिङ नाग के अनुसार शब्द भी अनुमान की तरह अपने अर्थ का अभिधान करता है। उसके अनुसार वस्तु अनेक धर्मसमगी होती है। कोई भी एक शब्द उन सभी धर्मो को व्यक्त करने मे असमर्थ होता है। वैसे शब्द वस्तु के किसी एक धर्म का आश्रय बनाकर उसका अभिधान करता है। जैसे–सत्ता, ज्ञेयत्वादि। कोई भी शब्द इन सभी से अविनाभावसय से सम्बन्धित नही होता है।

---

३६ – शास्त्री, रिजवानुल्ला–––बौद्ध दर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एकविमर्शात्मक अनुशीलन (शोध प्रबन्ध) पृष्ठ २५–५६

४० – 'न प्रमाणान्तर शाब्दम् अनुमानात् तथा हि तत्। कृतकत्वादिवत् स्वार्थ अन्यापोहेन भाषते। हटोरी,मा०–––प्रमाणसमुच्चय वृत्ति,पूर्वो० कारिका५/१

४१ – बुद्धयापि अभिधेयस्य न शब्दात सर्वथा गति । स्व सम्बन्धानुरूप्यात् तु व्यवच्छेदार्थकार्यासौ।। उपरिवत, कारिका ५/१२

शब्द उसी अश को व्यक्त करता है। जो अर्थान्तर व्यवच्छेद से अपृथक रूप से सम्बन्धित होता है।'–– इसी तरह कई शब्द एक एवं समान वस्तु को अभिव्यक्त करते है। जैसे – वृक्ष,द्रव्य,पार्थिव,एव सत् इत्यादि शब्द एक एव समान वस्तु को अन्यापोहपूर्वक व्यक्त करते है। विभिन्न शब्दो द्वारा साक्षातरूप से वस्तुसत का अभिधान मानने पर सभी शब्द परस्पर समानार्थक हो जायेगे एव सभी एक एव समान वस्तु को व्यक्त करेगे। इसलिए यह मानना विसगतिपूर्ण है कि शब्द अनेक धर्म समगीवस्तु को साक्षातरूप से व्यक्त करता है। इस प्रकार की स्थिति मे यह स्वीकार करना पडता हे कि शब्द सतवस्तु को व्यक्त नही करता है। अनेक धर्म समगी वस्तुसत का एक ईकाई के रूप मे सवार्थबोध प्रत्यक्ष द्वारा होता है क्योकि प्रत्यक्ष कल्पना पोढ होता है।[52] दिङनाग के अनुसार शब्द का मुख्य कार्य साक्षात रूप से प्रत्यक्षी भूत वस्तु मे अन्य वस्तु से व्यवच्छेद करना है। एक ही वस्तु मे 'वृक्ष' शब्द 'अवृक्ष' से एव 'द्रव्य' 'अद्रव्य' से व्यवच्छेद करता है। दूसरी वस्तु से व्यवच्छिन्न होने के कारण ही वस्तु का अभिधान भिन्न–भिन्न शब्दो मे हो जाते है। इस तरह शब्द वस्तु के उसी अश का अभिधान करता है।जो अन्य वस्तु से व्यवच्छिन्न होता है।[53] वास्तव मे वस्तु अनेक धर्मसमगी होती है। शब्द वस्तु के जिस अश के लिए प्रयोग होता है वह विकल्पित होती है। यह विकल्पित धर्म बुद्धि द्वारा अन्यापोह पूर्वक निश्चित होता है।

जैन दर्शन वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानता है तथा वस्तु के अभिधान के लिए 'स्यादवाद' को मानता है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु का एक अंश ही ज्ञान का विषय बनाता है। इस आशिक ज्ञान की एकागीय सत्यता को अभिहित करने के लिए 'स्यात' शब्द का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से अपोहवाद एव स्यादवाद के मध्य समानता दिखाई पडती है। क्योकि दिङनाग भी स्वार्थ को सार्थक प्रभावित करने के लिए अपोह का परिच्छेद जरूरी मानते है। वह 'स्वार्थ' सज्ञामात्र या नाम मात्र होता है। लेकिन अपोहवाद एव स्यादवाद मे अतर है। 'स्यादवाद' वस्तु के अनन्त धर्मो को परमार्थिक रूप से विद्यमान मानकर प्रयोग होता है। जबकि बौद्ध दर्शन वस्तु के अनेक धर्मो को विकल्पित मानता है। उसके अनुसार कल्पना एव शब्द अर्थान्तर निवृत्ति विशिष्ट होता है। शब्द वस्तु धर्म का सस्पर्श विच्छेदपूर्वक ही करता है। इसलिए शब्द एक वस्तु का अभिधायी नही होता।[54] वैसे स्यावाद तभी सार्थक हो सकता है जबकि अपोहवाद को मान लिया जाय। वस्तु की एकागीय सत्यता अन्य धर्म के अन्यापोह पर ही निश्चित हो सकती है। इस दृष्टिकोण से 'स्यादवाद' अपोहवाद का अनुपूरक सिद्धान्त है।

अपोहवाद के अनुसार शब्द साक्षातरूप से वस्तुसत का अभिधान नही करता है। शब्द का कार्य केवल एक वस्तु का अन्य वस्तुओ से व्यवच्छेद मात्र करना हे। बौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तुसत अनन्त धर्मो की अविभाज्य इकाई होती है। कोई एक शब्द वस्तु को उसकी समग्रता के साथ गृहीत करता है। शब्द वस्तु के समग्रता को व्यक्त करने मे अरामर्थ है। शब्द वस्तु के केवल एक धर्म को अन्य वस्तुओ से व्यविच्छन्न करके अभिव्यक्त करता है।

---

४२ – पुन पुनरभिज्ञाने निष्ठासक्ते स्मृतादिवत्। प्रत्यक्ष कल्पना पोढ नाम जात्यादि योजना।। हटोरी, मा० - प्रमाण समुच्चय, पूर्वो० का० १/३

४३ – हटोरी, मा०——प्रमाण समुच्चय, पूर्वो, प्रस्तावना पृष्ठ १,

४४ – 'शब्दोऽर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टान एव भावा न आह। उपरिवत, पृष्ठ १३६, वस्तु धर्मस्य सस्पर्शा विच्छेद करणे हवने.। स्याद सत्य स हि तत्रेति नैकवस्त्वभिधायिनी।।

शास्त्री, द्वारिका दास————प्रमाणवर्तिक, पूर्वो०, पृष्ठ २६८,

जैसे –'गो' शब्द का कार्य साक्षातरूप से प्रत्यक्षीभूत वस्तु को अगो जैसे – हस्ती,अश्व आदि से अलग करना है क्योकि शब्द वस्तु को उसके अनन्त धर्मो के साथ अभिव्यक्त करता है। 'गो' वस्तु प्राणी शब्द के द्वारा भी अप्राणी से व्यवच्छिन्न होकर अभिहित हो सकती है। जबकि वस्तु एक एव समान होती है। इसमे प्रयोग हुए दो शब्द परस्पर समानार्थक नही होते है क्योकि वे वस्तु विभिन्न धर्मो से सम्बद्व होते है। इस दृष्टि से दिङ नाग कहते है कि शब्द वस्तु के उसी अश को व्यक्त करता है। जो कि अन्य वस्तुओ से व्यावृत्त होता है। इसलिए वस्तु के अविभाज्यसत होने की दशा मे शब्द वस्तु के उसी अश के लिए प्रयुक्त होता है जो कल्पना प्रसूत होता है। यह कल्पना अन्यापोहात्मक होती है। जिसकी वस्तु सत्ता नही होती है अर्थात वस्तु शून्य होती है।

धर्मकीर्ति दिङ् नाग की तरह यह मानते है कि जाति, गुण,क्रिया,विशेषण,वस्तु ग्राही ज्ञान मे अवभासित नही होते है। इसलिए जाति आदि का योग अर्थ के साथ नही होता है।[४५]

शब्द की योजना जात्यादि मे न होकर अन्यव्यावृत्ति मे होती है। शब्द का सकेत उसी विषय मे होता हे जिसे शब्द 'ज्ञान' का विषय बनाता है। धर्मकीर्ति के मतानुसार शब्द सकेत अन्वयात्मक होता है। क्योकि घट शब्द से सभी घट व्यक्त होता है। लेकिन स्वलक्षण अन्वयि होता है। उसमे शब्द सकेत सभव नही है।[४६]

---

४५ – तस्माद जात्यादितद्योगा नार्थे तेषु च न श्रुति। सयुज्यतेऽन्य व्यावृत्तौ शब्दानामेव योजनात्।। उपरिवत,कारिका–प्रत्यक्ष/१७३

४६ – शब्दस्यान्वयिन कार्यमर्थेनान्वयिना स च। अन्वयी धियोऽभेदाद् दर्शनाभ्यास निर्मित ।। उपरियत, कारिका–प्रत्यक्ष १६८,

शब्द अन्यव्यवच्छेद रूप होता है। अत शब्द का सकेत अन्यापोह के साथ होता है। इसलिए शब्द का वाच्य 'अन्यापोह' है न कि 'स्वलक्षण' है। शब्द का स्वार्थ अन्यव्यावृत्ति रूप होता है। शब्द 'अन्यव्यावृत्ति एव स्वार्थ' का अभिधान अलग–अलग रूप मे नही करता हे। बल्कि स्वार्थाभिधान से ही अन्यव्यावृत्ति जानी जाती है। क्योकि स्वार्थ भेद रूप होता है। लेकिन स्वार्थ को लेकर दिङ नाग एव धर्मकीर्ति के बीच मतभेद पाया जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार 'स्वार्थ' प्रतिबिम्बित अर्थाकार होता है। जो अतदव्यावृत्तिरूप होता है। जो बाहय रूप मे प्रतीत होता है। किन्तु 'अर्थाकार–प्रतिबिम्बित' अर्थस्वरूप नही होता। इसका मुख्यकारण यह है कि यह भ्रान्ति या वासना से निर्मित होता है। जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त व्यक्ति को प्रतीत होने वाला केशादि वाहय न होते हुए भी बाहय रूप मे प्रतीत होता है। उसी प्रकार विकल्पाकार भी अविधावशात् बाहय रूप मे प्रतिभासित होता है।[47] धर्मकीर्ति के अनुसार प्रतिबिम्बित अर्थाकार 'बुद्धयाकार' होता है। यह बुद्धयाकार दो प्रकार का होता है। जैसे–बुद्धि का स्वभावभूत आकार एव बुद्धि का आकार। बुद्धि का स्वभावभूत आकार 'स्वलक्षण' होता है। स्वलक्षण शब्द का विषय नही होता है। उसे शब्द का विषय स्वीकार करने पर वस्तुभूत विषय ही शब्द का विषय हो जायेगा।

---

४७ – विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते। ततोऽन्यापोह निष्ठत्वा दुक्ता न्यापोहकृत श्रुति ।।
व्यतिरेकीव यज्ज्ञाने भात्यर्थ प्रतिबिम्बकम्। शब्दात् तदपि नार्थात्मा भ्रान्ति सवासनोदभवा।।
तस्याभिधाने श्रुतिभिरर्थे कोऽशोऽवगम्यते। तस्यागतौ च सकेत क्रिया व्यर्था तदर्थिका।।
शब्दोऽर्थाश कमाहेति तत्रान्यपोह उच्यते। आकार स च नार्थेऽस्ति त वदन्नर्थमाक् कथम्।।
उपरिवत, पृष्ठ १५०–५१

वैसे–शब्द का विषय ज्ञानगत आकार है। जो कल्पना का विषय होता है। इसके विरूद्ध 'स्वलक्षण' अतदव्यावृत्त 'अर्थ प्रतिबिम्ब' होता है। इसलिए उसे कल्पना का विषय नही माना जा सकता है। वास्तव मे शब्द की प्रवृत्ति विकल्प से उत्पन्न अन्यव्यावृत्ता–कार मे होती है क्योकि शब्द का प्रवर्तन अन्यव्यावृत्ति मे ही होती है।

शातरक्षित भी धर्मकीर्ति की भाति दिड नाग के सिद्धान्त को अन्यथा रूप मे विवेचित करते है। शातरक्षित के अनुसार शब्द' का 'स्वार्थ' केवल 'अन्यापोह' नही हो सकता है क्योकि तब तो 'गो' का अर्थ 'अगो' व्यवच्छेद मात्र ही होगा। इस प्रकार की स्थिति मे शब्द अन्य का व्यवच्छेद करते हुए उसी का कथन करेगा क्योकि स्वार्थ से 'अन्यव्यवच्छेद' है। वैसे 'स्वार्थ' स्वलक्षण होता है जिसे शब्द अन्यव्यवच्छेद पूर्वक कहता है। शातरक्षित के मतानुसार 'स्वलक्षण' उपचार से शब्द का विषय होता है। शब्द 'अगो' को हटाकर 'गो' प्रतिबिम्बित को कहता है। शब्द विकल्प प्रतिबिम्बि को उत्पन्न करता है। यह प्रतिबिम्बि ही शब्द का स्वार्थ होता है। शातरक्षित के अनुसार स्वलक्षण रूप स्वार्थ मे अर्थान्तर से व्यवच्छिन्न प्रतिबिम्बि की व्यावृत्ति होती है। इसलिए स्वार्थ प्रतिबिम्बिात्मक है जिसको शब्द अन्यपोहपूर्वक कथित करता है।"

४८ – 'अर्थान्तर व्यवच्छेद कुर्वती श्रुतिरूच्यते। अभिधृत्त इति स्वार्थमित्येतद विरोधितत्।।
वाह्यार्थाध्यव सायेन प्रवृत्त प्रतिबिम्बकम्। उत्पादयति येनेय तेनाहेत्यपदिश्यते।।
न तु स्वलक्षणात्मन स्पृशत्येषा विभेदिनम्। तन्मात्राशातिरेकेण नास्त्यस्या अभिधाक्रिया।।
शास्त्री, द्वारिका दास——तत्वसग्रह, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ३६४,

शातरक्षित इसी आधार पर अपोहवाद का भेद करते है। उनके अनुसार अपोह दो प्रकार का होता है – १–प्रसज्य २–पर्युदास। फिर पर्युदास के भी दो प्रकार होते है–'क'–बुद्धयात्मा 'ख' अर्थात्मा।[49] इनमे प्रसज्य अपोह प्रतिषेध रूप होता है। जैसे 'गो' 'अगो' नही है। प्रसज्यापोह मे अन्यापोह बिल्कुल स्पष्ट होता है। लेकिन शातरक्षित के अनुसार शब्द का विषय न तो प्रसज्य प्रतिषेध होता है और न स्वलक्षण होता है। वैसे शब्द के द्वारा प्रसज्यापोह का ग्रहण सामर्थ्य से या उपचार के माध्यम से होता है। क्योकि किसी भी वस्तु का स्वरूप अन्य वस्तुओ से व्यवच्छिन्न (तद् भिन्न–भिन्न) होता है। इसलिए 'प्रसज्यापोह' लाक्षणिक रूप मे शब्द का विषय होता है। व्यक्ति जब शब्द से वस्तु को कहता है। तब अर्थापत्ति रूप मे विजातीय वस्तुओ से व्यावृत्ति का भी ज्ञान हो जाता है।[50]

शातक्षित मानते है कि 'बुद्धयात्मापोह' विभिन्न वस्तुओ मे अनुगत आकार की प्रतीति है। यह एक 'प्रत्यवर्ती' का हेतु है। बौद्ध दर्शन के मत मे 'सामान्य' के बिना भी अनुगताकार की प्रतीति होती है। जिस तरह हरीतिकी। जैसे– हर्रे, धात्री एव आवला आदि एक दूसरे से परस्पर भिन्न होते है। लेकिन वे सभी ज्वारादिशमन कार्य की निष्पत्ति समान रूप से करते है।

---

४९ – तथाहि द्विविधोपोह पर्युदास निषेधत । द्विविध पर्युदासोऽपि बुद्धयात्मार्थात्मभेदत ।।

उपरिवत, कारिका–१००३

५० – प्रसज्य प्रतिषेधश्च गोरमौर्न भवत्ययम्। अति विस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽव गम्यते।।

साक्षादाकार एतस्मिन्नेव च प्रतिपादिते। प्रसज्य प्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते।।

उपरिवत, कारिका – १०००६ एव १००१२,

जबकि उनमे कोई समान धर्म नही होता है। इसी तरह शाबलेयादि गौ भी एक दूसरे से अलग होते है। लेकिन उनमे एक 'प्रत्यवमर्श' हो जाता है। यह एक 'प्रत्यवमर्श' अर्थ प्रतिबिम्ब रूप होता है इसी को बुद्ध्यात्मा कहा जाता है। जो पर्युदास के रूप मे दूसरे से व्यावृत्त होता हे। शातरक्षित के मतानुसार बुद्धायात्मा को ४ कारणो से अन्यापोह कहते है। – १–यह स्वय अन्य प्रतिभासो से भिन्न रूप होता है। २–अन्य वस्तुओ से व्यावृत्ति के द्वारा किसी भी वस्तु की प्राप्ति का कारण होता है। ३–यह उन वस्तुओ द्वारा गृहीत होता है जो व्यावृत्त होते है। ४–यह विजातीय पदार्थो को परावृत्त करके स्वलक्षण रूप मे भ्रान्ति रूप मे जाना जाता है। उपर्युक्त इन चार कारणो मे 'बुद्ध्यापोह' मुख्य रूप से अन्य विकल्पो के माध्यम से प्रतिभासो से भिन्न प्रतिभास रूप होता है। क्योकि यह आरोपित प्रतिभास अन्य से व्यवच्छिन्न होता है।अत इसे 'अन्यापोह' कहा जाता है।[51]

शातक्षित के अनुसार शब्द ज्ञान मे अर्थ प्रतिबिम्ब का प्रतिभास होता है।यह अर्थ प्रतिबिम्ब 'बुद्ध्यात्मा' या 'बुद्ध्यापोह' होता है।यह बुद्ध्यात्मा' बाहयार्थ का प्रतिबिम्ब होता है।जो बाहयार्थ का अध्यवसाय करता है।इसलिए शब्दार्थ प्रसज्यापोह या अर्थात्मापोह न होकर 'बुद्ध्यात्मापोह' होता है। शब्द ज्ञान मे केवल निषेधमात्र का अवभास नही होता है बल्कि शब्द के द्वारा प्रतिबिम्ब को वाच्य कहते है। अत शब्द उत्पन्न होता है। एव प्रतिबिम्ब को वाच्य कहते है।

---

५१ – एक प्रत्यवर्मशस्य च उक्ता हेतव पुरा। अभ्यादिसमा अर्था प्रकृत्यैवान्य भेदिन ।।
तानुपाश्रित्य यज्जाने भारत्यर्थ प्रतिबिम्बकम्। कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेऽप्यर्था इत्येव निश्चितम्।। प्रतिभासान्तराद् भेदादन्य व्यावृत्त वरतुन । प्राप्ति हेतु तयाऽश्लिष्ट वस्तु द्वारा गतेरपि।। विजातीयपरावृत्त तत्फल यत्स्वलक्षणम। तस्मिन्न ध्यवसायाद्धा तादात्म्येनास्य विप्लुतै ।। उपरिवत, कारिका १००४–७

इसलिए शब्द एव शब्दार्थ के मध्य वाचक वाच्य सम्बन्ध होता है।[५२] अर्थात्मापोह प्रसज्यापोह एव बुद्धयात्मापोह से भिन्न है। यह अर्थस्वभाव होता है। शातरक्षित के मतानुसार अर्थस्वभाव 'स्वलक्षण है। यह स्वलक्षण अन्य विजातीय वस्तुओ से व्यावृत्त होता है। इसलिए अर्थात्मपोह 'स्वलक्षणापोह' ही है। उनके अनुसार 'स्वलक्षण' वस्तु भी अपोह का आधार होती है। यह भी विजातीय वस्तुओ से व्यावृत्त होती है। अत इसे अपोह कहते है।[५३] वैसे प्रसज्यापोह एव अर्थात्मापोह उपचार से शब्द का स्वार्थ कहा जाता है। जबकि ये दोनो साक्षातरूप शब्द के विषय नही होते है। शब्द का साक्षाद् विषय बुद्धयापोह होता है।[५४] शातरक्षित के मतानुसार शब्द के कार्य के रूप मे 'अपोह' प्रर्युदास है क्योकि 'गो' शब्द 'गो' के प्रतिबिम्ब को 'अगो' का व्यवच्छेद करते हुए उद्भाषित करता है। 'प्रर्युदास अपोह' निषेध या प्रतिषेध की तुलना मे विधान करता है।

---

५२ – तत्राय प्रथम शब्दैरपोह प्रतिपाद्यते। बह्ययार्थाध्यवसायिन्या बुद्धे शब्दात जन्मनि।
वाच्यवाचकभावोऽय जातो हेतु फलात्मक.।। उपरिवत, पृष्ठ ३६२

५३ – तत्रान्योऽपोह इत्येषा सज्ञोक्ता सन्निबन्धना। स्वलक्षणेऽपि तद्धेतावन्य विश्लेषभावत ।।
–उपरिवत, कारिका १००८,

५४ – न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभिः। व्यावृत्तिवस्त्वधिगमोऽप्यर्थादेव भवत्यत·।।
तेनायमपि शब्दस्य स्वार्थ इत्युपचर्यते। न तु साक्षादय शाब्दो द्विविधोऽपोह उच्चयते।।
उपरिवत पृष्ठ ३६३

जब कि प्रसज्य अपोह किसी भी वस्तु का विधान नही करता। शातरक्षित के अनुसार 'अपोह' निषेधात्मक होता है। लेकिन अन्य से अपोहय होने के कारण 'प्रतिबिम्ब' ही अपोह होता है। क्योकि यह 'प्रतिबिम्ब' दूसरे शब्दो द्वारा उत्थापित प्रतिबिम्ब से अलग होता है। इस तरह शातरक्षित 'अपोह' के प्रतिषेधात्मक स्वरूप को विधानरूप मे बदल देते है। उनके अनुसार शब्दज्ञान मे अर्थ प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होता है। यह 'प्रतिबिम्ब' विशेषो के प्रत्यक्ष आधृत होकर उद्भाषित होता है। इसी कारण यह प्रतिबिम्ब सववस्तु के रूप अवभासित होता है।[५५] इसलिए शब्द साक्षातरूप से विधि रूप मे मुख्यार्थ के रूप मे आकार को व्यक्त करता है।

दिडनाग का कहना है कि विधि रूप में शब्द की प्रवृत्ति मानने पर वस्तु का सर्वात्म रूप मे ग्रहण होना चाहिए। लेकिन वृक्ष, पार्थिव, द्रव्य, सत् एव ज्ञेय शब्द द्वारा अनुलोम रूप मे निश्चय होने पर भी प्रतिलोम रूप मे नही होता है। इसलिए विधि रूप मे शब्द की प्रवृत्ति नही होती है। वैसे शब्द के माध्यम से अर्थ का अभिधान अन्वय एव धतिरेक दोनो रूप मे होता है। अन्वय एव व्यतिरेक से अलग होकर शब्द या लिंग के द्वारा स्वार्थ का ख्यापन नही होता है। वस्तु के अनन्त धर्म होने के कारण शब्द के द्वारा सर्वथा गति संभव नही होती है। दिड्नाग के मतानुसार अन्वय एव व्यतिरेक दोनो शब्द एव लिग के अग हैं फिर भी प्रधानत व्यतिरेक के द्वारा ही स्वार्थभिधान होता है। जिस प्रकार हेतु अविनाभाव सम्बन्ध से उपेत होकर स्वार्थ को व्यक्त करता है।

---

५५ – तानु पाश्रित्य यज्ज्ञाने भात्यर्थ प्रतिबिम्बकम्। कल्पकेऽर्थात्मताऽभावेऽप्यर्था इत्येव निश्चितम्।। उपरिवत, कारिका –१०००५

उसी तरह व्यतिरेक भी स्वार्थ को व्यक्त करता है। दिडनाग के मतानुसार वृक्ष आदि वस्तु अनत धर्म अथवा पुष्प, फल आदि भेद से युक्त होती है। जिसका शब्द के माध्यम से अभिधान सभव नही है। यदि 'वृक्ष' शब्द द्वारा सर्वथा पुष्पित,फलित आदि का अभिधान होता है। तब तो यह स्वीकार करना पडेगा कि बिना सम्बन्ध के विधि रूप मे ही अभिधान होता है। लेकिन वृक्ष शब्द कहने पर पुष्पित आदि का व्यभिचार होता है। अत विधि रूप मे वस्तु का अभिधान सभव नही है क्योकि विधि प्रत्यक्ष का धर्म है इसलिए यह मानना पडता है कि अर्थान्तर व्यतिरेक रूप मे ही शब्द द्वारा वस्तु का अभिधान होता है।[56] इस तरह दिडनाग के अनुसार शब्द अन्यापोहपूर्वक 'स्वार्थ' का अभिधान करता है।

दिङ्नाग के अनुसार शब्दार्थ अन्यापोह मात्र है यहा यह प्रश्न उठता है कि अन्यपोह को मान लेने पर समानाधिकरण या विशेष विशेषभाव कैसे होता है? दिङ्नाग के अनुसार नीलोत्पल आदि शब्दो मे समानाधिकरण अपोह भेद से सम्भव होता है। नील का अनील से अपोह एव उत्पल का अनुत्पल से अपोह अलग–अलग न होकर समुदाय के रूप मे होता है। नीलोत्पल मे केवल नील या केवल उत्पल का अपोह मानने पर नीलोत्पल का अभिधान व्यर्थ हो जाता है। जैसे– 'नील' शब्द मे 'नी' एव 'ल' शब्द को अलग–अलग लेने पर नील का अभिधान निरर्थक हो जाता है।[57]

---

५६ – अदृष्टेरन्य शब्दार्थे स्वार्थस्याशेऽपि दर्शनात्। श्रुते. सम्बन्धसौकर्य न चास्ति व्यभिचारिता।।
वृक्षत्वापार्थिव द्रव्य सज्ञेयाः प्रातिलोम्यत। चतुस्त्रिदृयेक सन्देहे निमित्तं निश्चयेऽन्यथा।।
प्रमाण समुच्चय ५/३४–३५ मुनि जम्बु विजय——–पूर्वो० पृष्ठ ६५०–५१

५७ – अपोदयभेदाद् भिन्नार्था स्वार्थभेदगतौ जडा.। एकत्राभिन्न कार्य त्वाद् विशेष विशेष्यका ।। न हि तत् केवल नील न च केवल युत्पलम्। समुदायाभिधेयत्वात्।। उपरिवत,प्रमाणसमुच्चय ५/१४–१५

अपोह के कार्य

बौद्ध नैयायिको के मतानुसार अपोह द्वारा ही अनुभव मूलक जगत की सृष्टि होती है। वस्तुत यह जगत मनुष्य के मष्तिक की कल्पना मात्र है। लेकिन अपोह द्वारा यह सत्य प्रतीत होता है। जगत को वास्तविक रूप देने मे अपोह को द्विविध समन्वय की जरूरत पडती है।[*] पहले समन्वय मे हम 'यह गाय है' 'यह श्वान है' इस तरह का निर्णय देते है यहा मानसिक आकार और स्वलक्षण (जो परस्पर पूर्णरूप से भिन्न है) के बीच एक मिथ्या तादात्म्य की स्थापना की जाती है। हम उन दोनो को एक ही वस्तु मानते है। द्वितीय समन्वय मे हम अत्यन्त भिन्न स्वलक्षणो को अज्ञानवश एक रूप मान लेते है। और उन्हे एक ही शब्द द्वारा सम्बोधित करते है। मानो वे एक ही वर्ग के सदस्य हो और एक ऐसे समान्य से युक्त हो जो सभी मे व्याप्त हो। इस तादात्म्य की उत्पत्ति का कारण कोई ऐसा समान्य गुण नही जो किसी वर्ग की सभी वस्तुओ मे विद्यमान है। अपितु यह कि एक वर्ग की सभी वस्तुए अन्य वर्ग की सभी वस्तुओ के समान्य से भिन्नता रखती है। उदाहरण के लिए हम गाय, भैंस, अश्व या किसी अन्य वस्तु को देखे। यद्यपि गाये पूर्णतया भिन्न है। और उनमे ऐसा कोई समान्य गुण नही है जो सभी गायो मे पाया जाता हो सिवा इसके कि वे दूध के व्यापार मे समानता रखती है और उनकी उत्पत्ति समान कारणो से होती है किन्तु उन सभी गाये मे एक निषेध मूलक समान्य है। और वह यह कि वे अगाय, अश्व, सिह आदि से समान रूप से भिन्न है।

किन्तु उपर्युक्त समन्वयो मे से हमे दो क्रियाओ की भ्रान्ति नही होनी चाहिए। वस्तुत ये एक ही क्रिया के दो पक्ष है। जो अन्योन्याश्रित है। और एक दूसरे के पूरक है। उदाहरण के लिए प्रथम समन्वय के प्रत्यक्षमूलक निर्णयों 'यह गाय है', यह अश्व है आदि मे गाय का मानसिक आकार द्वितीय समन्वय के कारण ही सभव होता है। वस्तुत वास्तविक प्रक्रिया इस प्रकार घटती है हमे ज्यो ही किसी वस्तु का इन्द्रिय सवेदन होता है। हमारी स्मृति उद्‌बुद्ध होती है। और हमे उस वस्तु के नाम का स्मरण हो जाता है। और नाम का स्मरण होते ही उस वस्तु का सामान्य आकार हमारे सामने उपस्थित हो जाता है यह प्रक्रिया विपरीत ढग से भी घटती है। विशेषकर उन परिस्थितियो मे जब वर्ग विषयक नाम से हमारा परिचय प्रगाढ नही होता। इस स्थिति मे सर्वप्रथम हमे किसी वस्तु का सवेदन होता है। सवेदन से सामान्याकार का अविर्भाव होता है। तदनन्तर उसे किसी वर्ग विषयक नाम से सम्बद्ध किया जाता है। समान्यत· किसी ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध मे जो वर्ग विषयक सज्ञाए (नाम) अविच्छन्न रूप से सम्बद्ध होती है। और एक का स्मरण होते ही दूसरे का स्मरण हो जाता

है।[58] उपर्युक्त प्रक्रिया का आचार्य दिङ्नाग ने निम्न शब्दो मे वर्णन किया है।उनका कथन है कि शब्दो–वर्ग विषयक सज्ञाओ का मूल विचार आकारो मे है। और आकारो का मूल शब्दो या नामो मे है। वे परस्पर कारण–कार्य रूप मे सम्बद्ध है। शब्द या नाम वस्तु तत्व का स्पर्श नही कर सकते। सक्षेप मे वाचस्पति मिश्र के अनुसार–'अपोह या मानसिक सप्रत्यय का वास्तविक कार्य भेद मे अभेद की सीपना करना, देश, काल, और गुण के भेद मे एकत्व आरोपित करना अथवा 'यह वह है' आदि का निर्णय देना है।'

---

५८ – क्रिटीक आफ इडियन रिपलिज्म पृष्ठ ३५३

५९ – त्रिपाठी, डा० छोटेलाल––––दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद, १९९६,
पृ० –५

६० – विकल्पयोनय शब्दा विकल्पा शब्दोनय। कार्य–कारणता तेषा नार्थ शब्दा स्पृशन्त्यपि।।
––न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृष्ठ ६८१

६१ – एकम् अविभागं स्वलक्षण अनादि विकल्प–वासना समारोपित जात्यादिभेद तथा
विकल्प्यते। वही, पृष्ठ ८६

अपोह से वस्तु मूलक जगत की भ्रान्ति की रचना अचानक नही होती। बल्कि इसे कई भूमियो से होकर गुजरना पडता है। ये भूमिया निम्न है।–

सबसे पहले एक विशिष्ट वस्तु गाय का साक्षात्कार होता है। इससे एक ऐसे आकार की उत्पत्ति होती हे। जो अन्य गायो के साक्षात्कार से उत्पन्न होने वाले आकारो के समान होता है। चूँकि ये मानसिक आकार एक साथ उत्पन्न नही होते। इसलिए मानव मस्तिष्क उनके भेद को ग्रहण नही कर पाता और उन्हे एक समझ जाता है। ६२ इन आकारो के तादात्म्य से इनक कारणो–निर्विकल्प सवेदनो के तादात्म्य की भ्रान्ति होती है। इन सवेदनो के तादात्म्य से इनके मूल कारण स्वलक्षणो के तादात्म्य की भ्रान्ति होती है। क्योकि ये स्वलक्षण इन्ही के माध्यम से प्रतिबिम्बित होते है। उपर्युक्त मानसिक प्रक्रिया को हम निम्न शब्दो मे अभिव्यक्त कर सकते है "एक रूप प्रत्ययो के कारण सवेदनो के सम्बन्ध मे तादात्म्य की भ्रान्ति होती है। और सवेदनो के तादात्म्य की भ्रान्ति के कारण उनके मूल स्वलक्षणो के तादात्म्य की भ्रान्ति होती है।'

---

६२ – न्याय कं कदली पृष्ठ ३१८.

६३ – एक प्रत्ययमर्शस्य हेतुत्वाद धीर भेदनी एकधी हेतु भावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता।।

वही पृष्ठ ३१६

षष्ठम् अध्याय

अपोहवाद का इतिहास

षष्ठम् अध्याय

अपोहवाद का इतिहास

अपाहवाद के विकास को तीन कालो मे विभाजित किया गया है–

१ – प्रारभिक काल 'हीनयान'

२ – आरभिक महायान

३– नैयायिको का समीक्षात्मक सम्प्रदाय

बौद्धदर्शन के अपोहवाद का ऐतिहासिक विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि बौद्धदर्शन के सस्थापक ने कुछ तत्त्वमीमासीय प्रश्नो का उत्तर देना अस्वीकार कर दिया है। जिसमे प्रमुख प्रश्न है–जैसे–'१' ससार की उत्पत्ति से सम्बन्धित चार प्रश्न अर्थात कोई उत्पत्ति है–कोई उत्पत्ति नही है अथवा उत्पत्ति है भी नही भी है, या दोनो नही। '२' चार इसी प्रकार के प्रश्न ससार के अत से सम्बद्ध। '३' शरीर एव आत्मा के तादात्म्य से सम्बद्ध चार प्रश्न।'४' मृत्यु के बाद योगी का पश्चात जीवन होता है या नही, इस विषय से सम्बद्ध दो प्रश्न।[1] यहा विशिष्ट चतुर्विध पाश के रूप मे प्रश्नो का निर्धारण वैसा ही है जैसा कि इसी समान समस्याओ के लिए प्लेटो ने अपने पार्मेनाइडीज मे किया है। अगर हम इन प्रश्नो के पाण्डित्यपूर्ण निर्धारण को छोड दे,तो १४ प्रश्न केवल दो आधारभूत समस्याओ से सम्बद्ध मिलते हैं। यह समस्याए निरपेक्ष स्वभाव एव तादात्म्य की है। कुछ प्रश्नो के कथन मे तथा उनके समाधान मे भी काट के विप्रतिषेधो के साथ समानता निरपवाद है एव इनसे विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया है।[2]

ये ऐसी समस्याए होती है जिसका समाधान न तो हा मे, न तो नही मे, न दोनो मे एव न कोई भी नही है, मे किया जा सकता है। यह सभी उत्तररहित प्रश्न है किन्तु मनुष्य की बुद्धि स्वाभाविक रूप से इन प्रश्नो का सामना करती है। इनका उल्लेख करने मे हमारा तर्क अपोहात्मक अथवा स्वविरोधी हो जाता है।

---

१ – राय, डा० राम कुमार——————बौद्ध न्याय 'बुद्धिष्ट लाजिक–मूल लेखक श्सेरबात्स्की' चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, १९६६, पृष्ठ ५७२

२ – बुद्ध पर अपनी प्रख्यात पुस्तक मे जो आज बौद्धदर्शन का एक साधारण विवरण प्रस्तुत करने जैसा ही प्रमाव उत्पन्न करती है। प्रोफेसर एच० ओल्डेनबर्ग ने फिर भी बौद्धमत के आरम्भ से ही इसकी अपोहात्मक प्रकृति के तथ्य को ध्यान से ओझल नही किया है। इनका कहना है कि सोफिस्ट "लोग उस स्थान पर अनुपस्थित नही हो सकते जहा किसी सोक्रेटीज को आना है" किन्तु केवल कूट–तर्क (सोफिस्ट्री) के रूप मे ही अपोह आरम्भिक बौद्धमत मे विद्यमान नही है। जब यह अनन्त एव निरपेक्ष की समस्याओ का विवेचन करना आरम्भ करता है तब इसमे हमे मानव बुद्धि के स्वाभाविक अपोह के दर्शन होते है। प्रो० ओल्डेनबर्ग इस अपोह को सामान्य रूप से चतुरता पूर्ण मानते है किन्तु इस गुणानुशीलन का बहुत महत्व नही है। क्योकि यह ऐसे समय मे किया गया है जब अभी दु ख, सस्कार, धर्म एव प्रतीत्यसमुत्पाद जैसे शब्दो को न तो भली प्रकार समझा जाता था और न इनका ठीक–ठीक अनुवाद हो पाया था। ये शब्द ऐसे हैं कि इनके बिनाबौद्ध मत की कल्पना ही नही की जा सकती।

३ – तुकी० ओ० फाके का काफि० पृष्ठ १३७–१३८, तुकी० मेरा निर्वाण पृष्ठ २१ एव २०५ । अनन्त विभाजन के विप्रतिषेध के लिए तुकी० नीचे बाह्रय ससार की यथार्थता विषयक अध्याय एव एस० शेयर प्रसन्नपाद, पृष्ठ XXIX

माध्यमिक सप्रदाय ने इस निर्णय को सामान्य रूप से मनुष्य की प्रज्ञा एव निरपवाद रूप से सभी विकल्पो तक विस्तृत कर दिया है। यह सभी विश्लेषण करने पर विरोधत्व से युक्त मालूम पडते है। मनुष्य की बुद्धि एक भ्रम के तर्क से युक्त होती है। क्योकि इसके विकल्पो के अनुरूप कोई विषय नही होते। यह ऐसे अशो से मिले रहते है, जो एक दूसरे को निराकृत करते है।

चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिको की विधि की केन्द्रीय धारणाओ का निम्न शब्दो मे सक्षिप्त रूप से विवेचन किया ह– "बाल सुलभ मानवता[5] पदार्थ एव (रूपादि) का (उनके द्वैधत्व के) तल[6] मे प्रवेश किये बिना ही विकल्प करती है। –––––––किन्तु इस प्रकार के सभी कल्पित (अपोहात्मक) विकल्प विचार करके एक ऐसे चिरकालिक अभ्यास का निर्माण करते है जो अनादि ससार का ही समकालीन है। (विश्व के मौलिक एकत्व) के विचित्र प्रपञ्च[7] की प्रक्रिया मे इनका आरम्भ होता है। इस प्रकार ज्ञान एव ज्ञेय विषय एव उसको व्यक्त करने वाले विषयी, कार्यवाह एव कार्य, कारण एव कार्य, घट एव पट, मुकुट एव यान, स्त्री एव पुरूष, लाभ–हानि, सुख एव दुःख, यश एव अपयश, प्रशस्ति एव आक्षेय इत्यादि के (अपोहात्मक युग्मो मे) विकल्पो की सृष्टि होती है। ये सभी सासारिक प्रपञ्च उस समय बिना कोई चिन्ह छोडे ही सापेक्षता के शून्य मे विलीन हो जाते है। जब समस्त पृथक सत्ता के स्वभाव के सापेक्ष (और परम असत्) होने का ज्ञान हो जाता है।"

---

४ – माध्य० वृत्ति०, पृष्ठ ३५०

५ – बाल पृथग जन

६ – आयोनिश

७ – विचित्र प्रपञ्चात्।

८ – तुकी० द्वैधत्व के इन उदाहरणो की उन उदाहरणो से जो लासन ने हीगल के 'डायलेक्टिकल मेथड' की प्रस्तावना मे दिये है।

चन्द्रकीर्ति ने अपने उदाहरणो मे विरूद्धत्व एव विरोध दोनो को एक साथ रखते है। एक घट एव एक पट एक परोक्ष विरूद्धत्व है क्योकि पट अ–घटो की कोटि मे आता है। स्त्री एव पुरूष का विरूद्धत्व एक व्यापक द्वैधत्व है। प्रशसा एव आक्षेप या अधिक शुद्धत आक्षेप एव अ–आक्षेप का विरूद्धत्व 'पूर्ण एव परस्पर परिहारी अथवा विरोध हैं। जिनेन्द्रबुद्धि के अनूसार प्रज्ञा द्वारा रचित प्रत्येक वस्तु युग्मो मे ही रचित होती है। यह सभी यमज भ्राता होते है जो प्रज्ञा के क्षेत्र मे जन्म लेते है। ऐसे युग्मो के अश अपनी सापेक्षता अथवा अपनी परिभाषाओ के परस्पर प्रतिषेधत्व के कारण एक दूसरे को निराकृत करते है। जिसका परिणाम यह होता है कि जिस प्रकार काट का कहना है कि 'सभी प्रतिषेध अनुपलब्ध होता है' या माध्यमिको की भाषा मे 'सर्वभाव स्वभाव शून्यता' या 'निष्प्रपञ्च' होता है।

बौद्ध नैयायिको का सम्प्रदाय, यद्यपि प्रज्ञा के सभी विकल्पो की अपोहात्मक प्रकृति को पूर्णतया मान लेता है। तथापि ज्ञान के समग्रत असत् पर आपत्ति करता है एव अपोहात्मक विकल्पो के प्रत्येक युग्म के पीछे एक स्वलक्षण की अ–अपोहात्मक सत्ता मात्र को मानता है।

दिङ्नाग का सिद्धान्त अपने तार्किक पक्ष मे अशत वैशेषिको के सप्रदाय मे स्वीकृत कुछ दृष्टिकोणो से प्रभावित हुआ हो सकता है। इस सम्प्रदाय ने उस 'विशेष' पदार्थ के आधार पर अपना नाम प्राप्त किया हो सकता है। जिसको यह प्रत्येक विशेष,परमाणुओ एव सर्वगत द्रव्यो मे स्थित एक विषयात्मक यथार्थ मानता है।

६ –सर्व–धर्म–शून्यता

इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अपने मे निहित समानता एव असमानता दोनो से युक्त होती है।' अगर हम इन दोनो निहित पदार्थो को एक 'विशेष' मे ही परिणिति करदे और इसकी यथार्थ प्रकृति को अलग हटा दे तो हमे दिङ्नाग के सिद्धान्त का सार मात्र अथवा सर्वथा प्रतिषेधात्मक एव सर्वथा मानसिक सामान्य मिलेगा। बौद्ध नैयायिक एव वैशेषिक दार्शनिको के बीच इस विषय तथा कुछ अन्य मे उन सब मौलिक अन्तर के विपरीत भी कुछ समानता है। जो प्रथम के यथार्थवादी सिद्धान्तो एव द्वितीय के विज्ञानवादी सिद्धान्तो के कारण दोनो के बीच मिलता है।

दिङ्नाग के अपोहात्मक नामो की वही गति हुई जो सामान्य रूप से बौद्ध न्याय की हुई थी। यह भी बौद्धमत के उत्पत्ति देश मे बौद्धदर्शन के लुप्त होने के बाद बना नही रह सका। बौद्ध दर्शन के साथ ही अपोहवाद' भी तिब्बत चला गया। वहा 'अपोहवाद' अब भी प्रचलित है, भारत मे

अपोहवाद सिद्धान्त का उदय होने के साथ अन्य सभी सम्प्रदायो ने इसका विरोध किया, यहॉ तक कि प्रभाकर की अपोहात्मक मानने मे इनका साथ नही दे सके। जबकि प्रभाकर ने इनके 'अनुपलब्धिसिद्धान्त' का वरण किया था। अगर प्रभाकर 'अपोहवाद' को मान लेते तो मीमासक न कहलाते। दिङ् नाग के सिद्धान्त के विरूद्ध युद्ध मे मीमासक आगे आ गये । एक ऐसा सम्प्रदाय जिसका वाणी एव शब्दो का मूल्याकन धार्मिक श्रद्धा की समस्त प्रकृति से युक्त है।

---

१० –तुकी० ऊपर पृष्ठ १५३६

वैसू० १२६. के शब्द से यह सूचित करते है कि सत्ता मे एक ओर तो केवल सामान्य होता है और कोई विशेष नही जबकि दूसरी ओर परमाणुओ और सर्वगत द्रव्यो मे केवल विशेष होता है और कोई सामान्य नही। किन्तु प्रशस्तिपाद तो पहले ही केवल अन्य विशेष ही मानते है। बाद की परिभाषा 'अत्यन्तव्यावृत्ति हेतु' और 'स्वतो व्यवरकत्वम' बौद्धो के व्यावृत्ति–अपोह के साथ कुछ समानता सूचित करती है। जिसके लिए ससार एक ऐसी नित्य विद्यायक सत्ता है जो अपने द्वारा व्यक्त वस्तुओ के साथ एक नित्य एकत्व के साथ विद्यमान रहती है जिनके लिए ससार सर्वप्रथम पवित्र वेदमय था। ऐसा समप्रदाय वास्तव मे किसी भी ऐसे सिद्धान्त से केवल विभेद के पारस्परिक चिन्हो मात्र मे बदल देता है। और वे नैयायिक भी इस सिद्धान्त को अनुकूल नही मान सके। जो यह मानते थे कि शब्दो मे विधायक अर्थो की ईश्वर ने स्थापना की है। हर तरह के यथार्थवादियो के तर्क प्राय एक तरह होते है। जैसे–विधायक वस्तुए होती है। और प्रतिषेधात्मक वस्तुए होती है। यथार्थता और अभाव से बनी है विधायक वस्तुए विधायक नामो से व्यक्त होती है और प्रतिषेधात्मक वस्तुए प्रतिषेधात्मक निपात 'अ' को जोड देने से।

साहित्यशास्त्री भामह इस आधार पर दिङ्नाग के 'अपोह' सिद्धान्त को नही मानते क्योकि यदि शब्द वास्तव मे सभी प्रतिषेधात्मक हो तो विधायक वस्तुओ को व्यक्त करने के लिए अन्य शब्दो को होना चाहिए। अगर 'गो' शब्द का अर्थ वास्तव मे 'अ–गो' का निषेध है तो एक दूसरा ऐसा शब्द भी होना चाहिए जो सीग, थन एव अन्य विशिष्ट चिन्हो से युक्त इस पालतू जानवर के विधायक प्रत्यक्ष जैसे एक भिन्न तथ्य को अभिव्यक्त कर सके। किसी शब्द के दो भिन्न और यहा तक कि विपरीत अर्थ नही हो सकते। इसलिए अपोहवाद के अनुसार निषेधात्मक अर्थ प्रमुख है और विधायक उसी का अनुसरण करता है। इसलिए किसी 'गो' का ध्यान करने मे पहले हमे 'अ–गो' का विचार होगा एव उसके पश्चात 'गो' का गौण विचार आयेगा।

भामह की इस आपत्ति का निराकरण इस तर्क के माध्यम से हो जाता है कि बौद्ध यह नही मानते कि प्रतिषेधात्मक अर्थ ही पहले अपने को सूचित करता है और विधायक उसी का अनुसरण करता है। इसके विरूद्ध बौद्धदार्शनिक यह मानते है कि विधायक ही साक्षात् है। लेकिन यह निषेधात्मक के बिना कुछ नही। दोनो वास्तविक रूप से एक नही है।

कुमारिल की प्रमुख आपत्ति इस तर्क मे है कि जब बौद्ध यह स्वीकार करता है कि 'गो' का अर्थ निषेधात्मक अर्थात 'अ–गो' है तब वह केवल उसी मत को व्यक्त करता है जो यथार्थवादी स्वीकार करते है अर्थात इसको कि विधायक जाति 'गो' मे एक वास्तविक विषयात्मक यथार्थ है। यदि

'अ–गो' एक ऐसा निषेध है जिसके विरूद्ध की विधि अभिप्रेत है तव 'अ–गो' का निषेध वही होगा जो 'गो' की विधि का। वास्तव मे बौद्धो के अनुसार 'अ–गो नही' शब्द से किस प्रकार का विषय सूचित होता है। क्या यह उस रूप मे व्यक्त है। जिसमे कि यह सभी विस्तारो से रहित अपना स्वलक्षण है। ऐसा असम्भव है क्योकि इस प्रकार की वस्तु अनभिलाप्य है। इसलिए इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि 'गो' वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति मे 'गो' का एक अभिलाप्य स्वभाव विद्यमान रहता है। यही सामान्य स्वभाव यथार्थवादियो का 'सामान्य' है।

लेकिन यदि 'अ–गो' से बौद्धो का मतलब विरूद्ध की विधि के बिना निषेधमात्र है तो यह विशुद्ध विज्ञानवाद बाह्रय ससार के यथार्थ की अस्वीकृत है। मीमासा दर्शन के अनुयायियो ने एक अर्थात्मक सिद्धान्त के रूप मे इसका विरोध किया है। यही नामो के सिद्धान्त के रूप मे फिर से उत्पन्न होता है।

यथार्थवादियो के तर्क अनेक एव अनेक प्रकारो तथा सूक्ष्मताओ से युक्त है ये सभी तर्क इस एक आधारभूत रूप मे बदल जाते है जो विधायक नाम होते है, जो सामान्य है। सामान्य यथार्थ बाह्रय वस्तुए ही जिनका इन्द्रियो से प्रत्यक्ष होता है निषेधात्मक वस्तुए भी है जो स्वय भी ऐसी यथार्थताए हे जिसका इन्द्रियो से प्रत्यक्ष होता है।

---

११ – तसप० पृष्ठ २६१७ और बाद।

यद्यपि सभी प्रकार के यथार्थवादियो ने दिङ्नाग के सिद्धान्त को अमान्य कर दिया है। लेकिन ऐसा लगता है कि बाद के नैयायिको द्वारा गृहीत निषेधात्मक परिभाषाओ की विधि पर इस सिद्धान्त का परोक्ष प्रभाव अवश्य बना रहा। ये दार्शनिक अपनी सभी परिभाषाये निषेधात्मक पक्ष के द्वारा विरूद्ध के प्रतिषेध के तथ्य द्वारा ही करते है। वाणी की यह विशेषता होती है कि किसी अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्टता प्रदान करने के लिए हम उस बात का जरूर उल्लेख करे जिसके वह विरूद्ध है। लेकिन नैयायिक ऐसी दशाओ तक मे विरूद्ध परिभाषा की विधि का ही प्रयोग करते है।जहा तार्किक स्पष्टता के लिए सर्वथा बेकार है।[12] जैसे –व्याप्ति की इस रूप मे परिभाषा करने के स्थान पर कि यह फल का उसके हेतु के साथ सम्बन्ध है। यहें दार्शनिक यह परिभाषा देते है अनिवार्य कि 'यह फल के सर्वथा अभाव के प्रतिरूप के साथ' हेतु का सम्बन्ध है। यह कहने के बदले कि धूम तार्किक हेतु है। इसका 'धूम के सर्वथा अभाव के प्रतिरूप' के वेश मे विवेचन किया गया है।[13] इस तरह घुमाकर दी गई परिभाषाए बाद मे न्यायदर्शन मे बहुत प्रचलित है। यह भी इसकी एकं विशिष्टता है।

---

१२ – राय, डा० रामकुमार––––बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्टलाजिक–मूल लेखक शेरबात्स्की',चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६६ पेज ५७२–५७७

१३ – ''हेतुसमानाधिकरण–अत्यन्त–अभाव–प्रतियोगि–साध्या समानाधिकरणम्।'' जहा हेतु धूम है एव साध्य अग्नि। तुकी० तर्कसग्रह (अपाले) पृष्ठ २४७–२८६ तथा सर्वत्र।

अपोहवाद की विभिन्न व्याख्याए

'अपोहवाद' के यथार्थ स्वरूप का अवगाहन करने के कारण इसकी कई प्रकार से विवेचना की गई है। इसका प्रमुख कारण 'अपोह' के साथ सम्बद्ध विभिन्न तार्किक तात्वमीमासीय एव ज्ञानमीमासीय समस्याए है जिसको बौद्धदार्शनिक एव बौद्धेत्तर दार्शनिक इसके साथ समन्वित करने मे समर्थ नही होते प्रतीत होते है।

बौद्धदर्शन एव बौद्धेतर दर्शन दोनो 'अपोह' को निषेधात्मक रूप मे अभिहित करते है। तैर्थिक दर्शन मे भामह, कुमारिल, वाचस्पति मिश्र, उद्योतकर, उदयन एव त्रिलोचन आदि ने इसे निषेधात्मक या अभावात्मक रूप मे लेते हुए निराकृत किया है। यह सभी 'अपोह' को 'निषेधात्मक रूप मे विवेचन करते हुए इसे अभाव, अवस्तु, निरूपाख्य आदि रूप मे प्रयोग करते है। इनके अनुसार 'अपोह' व्यवच्छेद या अपोहमात्र है। अज्ञेय को कल्पित करके 'ज्ञेय' शब्द ज्ञेय से अन्य या अज्ञेय का निषेध करता है। बौद्धदर्शन के मतनुसार 'अपोह' अन्यव्यावृत्ति मात्र होता है।"[१४] बौद्ध दार्शनिको के अनुसार शब्द वस्तु का प्रत्यायन विधि रूप मे नही करता है। क्योकि द्रव्य, पृथ्वी, वृक्ष, ज्ञेयादि शब्दो के साथ अर्थ का बोध सर्वार्थ रूप से नही होता है। शब्द से वस्तु से सम्बन्धित सभी पक्षो का बोध नही होता है। अत शब्द विधि रूप मे अर्थ का ग्रहण न करके निषेध रूप मे करता है। इसलिए शब्दार्थ निषेध या अपोह है क्योकि शब्दो द्वारा वस्तु स्वभाव का प्रतिपादन नही होता है।"[१५]

---

१४ – 'अन्य व्यावृत्तिमात्रमिति त्रय· पक्षा·। पाण्डेय, गो० च०------अपोह सिद्धि, पूर्वो०, पृष्ठ ५

१५ – वृक्षत्वपार्थिवतु व्यसंज्ञेयेषु चदुच्यते। प्रतिलोभ्याऽनुलोभ्येन विधौ सर्वाऽर्थबोधनम्।।

भट्ट, कुमारिल –श्लोकवार्तिक, पूर्वो० का० १५८

इसके विरूद्ध कुछ दार्शनिक 'अपोह' को विध्यात्मक या भावात्मक भी मानते है। इनके अनुसार 'अपोह' निषेधपूर्वक विधि को ही कहता है। शब्द का अर्थ केवल अन्य व्यवच्छेद या अगो भिन्नमात्र नही होता है। बल्कि 'विधि' होता है। वैसे विभिन्न व्यक्तियो में विध्यात्मरूपता को न प्राप्त करने के कारण यह कह दिय जाता है कि शब्द का वाच्य 'अपोह' है जब कि वहा विधि का विवेचन ही किया जाता है। बौद्ध एव बौद्धेतर दर्शन मे 'अपोह' की विधिरूपता को माना गया है।[16]

प्राय अन्यापोह को सामान्य या सादृश्य के रूप मे विवेचित किया गया है। बौद्धेतर दर्शन अनेक प्रकार से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते है कि अगोनिवृत्ति 'सामान्य' ही है, जिसे जाति कहते है। कुमारिल के अनुसार 'अपोह' के माध्यम से वस्तुत सामान्य 'गोत्व' का अभिधान होता है। 'गो' शब्द का वाच्य 'गोत्व' सामान्य होता है, जो भावात्मक होता है। इसी तरह 'गो' शब्द से 'अगो निवृत्ति' का अभिधान करने पर प्रकारान्तर से 'सामान्य' या जाति ही विवक्षित होती है जो सभी 'गो' व्यक्तियो मे रहता है।[17]

---

१६ – कि तु वस्तुरूपतथैव शब्दार्थो भासते, परीक्षाकास्तु व्यावृत्तेष्वनुवृत्त वस्तुरूपम– सभावयन्तो तद् व्यावृत्तिरूपमाचक्षते, अनादिकाल वासनावशाच्य व्यावृत्तिरूपमपि सद्रूपमिव भिन्न मिवाऽवभासते, अतो न पर्यायत्व नेतेरस्ता श्रयत्वमिति। न्याय रत्नाकर, चौखम्बा सस्कृंत सीरीज, वाराणसी, पृष्ठ ५६२

१७ – अगो निवृत्त सामान्य वाच्य पे परिकल्पितम् गोत्व वरत्वेव तेरूक्तमगोपोह गिरा स्फुटम्। शास्त्री द्वारिका दास–––––तत्त्वसग्रह, पूर्वो० पृष्ठ ३६०

लेकिन बौद्धो के अनुसार यह जाति या सादृश्य वस्तुसत् न होकर विभिन्न मनुष्यो मे एक प्रत्यवमर्शात्मक होती है। जिस तरह विभिन्न औषधिया एक दूसरे से अलग होने पर भी ज्वरादि के शमन मे एकार्थ क्रियाकारी होती है। उसी तरह 'गो' शाब्लेय, बाहुलेय आदि रूप मे भिन्न होने पर भी एक प्रत्यवमर्श को उत्पन्न करता है।[18] लेकिन तैर्थिकदर्शन के मतानुसार यह एक प्रत्यवर्श भी अगोनिवृत्ति रूप ही है। इसलिए अन्यापोह सामान्य का ही अवच्छेद करता है। अन्यापोह या अपोह 'विरोध' मे प्रसक्ति होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक निषेध विरोध रूप होता है। यह विरोध दो प्रकार का होता है, जैसे – १ – स्वभाव विरोध २ – अन्योन्योपलब्धि परिहारस्थिति–लक्षण विरोध। प्रत्येक लक्षण अत्यन्त विरोधात्मक होता है। जैसे – नील–अनील।[19] अनील 'नील' का विरोधी होता है एव नील अनील का विरोधी होता है। बौद्ध दार्शनिको के मतानुसार प्रत्येक शब्द या वाक्य अपने विरोध मे प्रसक्त होता है। यथा – 'नीलोत्पल' शब्द न केवल उत्पल का व्यवच्छेद करता है जो नील नही है। बल्कि नील वस्तुओ का भी निषेध करता है। जो उत्पल नही है। इसलिए 'नीलोत्पल' शब्द का अनील एव अनुत्पल का व्यवच्छेद करता है।[20]

---

१८ – एक प्रत्यवमर्शार्थ ज्ञानाधेकार्य साधने। भेदेऽपि नियता केचित्स्वभावेनेन्द्रियादिवत्।।
ज्वरादिशमने काश्चित् सह प्रत्येक मेव वा। दृष्टा यथा वौषधयो नानान्वेडपि न चापरा।। शास्त्री, द्वारिका दास ––––प्रमाणवार्तिक, पूर्वो० पृष्ठ २८२–८३

१९ – भेदो भेदान्तरार्थ तु विरोधित्वाद पोहते। सामान्यन्तर भेदार्था स्वसामान्य विरोधिन।। हटोरी, मा०–––––प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पूर्वो० कारिका ५/२८

२० – न हि तत् केवल नील न च केवलमुत्पलम। समुदायाभिधेत्वात् हटोरी, मा०––––––प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, पूर्वो०, पृष्ठ ११७

बोद्ध दर्शन मे 'अपोह' को शब्द लिगात्मक माना गया है।[21] अपोह हेतु तथा शब्द के द्वारा प्रकाशित होता है। जिस तरह अनुमान अन्यापोहपूर्वक हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि करता है। उसी तरह शब्द ज्ञान भी विभिन्न कल्पित धर्मो को 'अन्यापोहरूप' मे व्यक्त करता है।[22] इस तरह अन्यापोह प्रत्यक्ष का धर्म न होकर अनुमान एव शब्द का धर्म है। प्रत्यक्ष वस्तु का अवगाहन विधि रूप मे करता है, जबकि अनुमान तथा शब्द अन्यापोह रूप मे करते है।[23] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'स्वलक्षण' मे अन्यापोह नही होता है।शब्द तथा अनुमान विधिरूप मे अभिधेय को सर्वथा गृहीत करने मे समर्थ नही होते है।[24]

---

२१ – अपोह शब्दलिङ्गाम्या प्रकाश्यत इति स्थिति । साध्यते सर्वधर्माणावाच्यत्व प्रसिद्धये।। ठक्कुर, अनन्त लाल–––अपोह प्रकरण, ज्ञान श्री मित्र निबधावली, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५९, प्रस्तावित कारिका।

२२ – बहुधाप्य भिधेपस्य न शब्दात् सर्वथा गति । स्वसम्बन्धानुरूप्यान्तु व्यवच्छेदार्थकार्य सौ।। उपरिवत ५/१२

२३ – शस्त्री, रिजवानुल्ला–––––बौद्ध दर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एक विमर्शात्मक अनुशील 'शोध प्रबन्ध' पृष्ठ २७०–७१

२४ – न प्रमाणान्तर शाब्दमनुमानात् तथाहि तत्। कृतककत्वा दिवत् स्वार्थमन्यापोहेन भाषैत।। हटोरी, मा० –––प्रमाण समुच्चयवृत्ति, पूर्वो० का० ५/१

अपोहवाद के निषेधमूलक स्वभाव के लिए प्रमाण

बौद्ध नेयायिको ने अपोहवाद के निषेधात्मक स्वभाव को प्रमाणित करने के लिए निम्न तर्क दिये है १–इसका भाव एव अभाव दोनो के लिए समानरूप से प्रयोग किया जाता है।

२–यह अत्यन्त भिन्न वस्तुओ के मध्य सादृश्य की स्थापना करता है।

३–अन्यावृत्ति रूप मे ही इसकी अनुभूति होती है।[34] आचार्य वाचस्पति मिश्र पहले तर्क की व्यख्या करते हुए कहते है कि जो भाव एव अभाव दोनो मे व्याप्त हो उसे अन्यव्यावृत्ति रूप मे ही होना चाहिए। यथा–अमूर्तत्व ज्ञान जैसी सद्‌वस्तु एव शश–श्रृग जैसी असद्‌वस्तु दोनो मे विद्यमान है। इसी तरह हमारे सविकल्प प्रत्यक्ष के विषय घट पट आदि भाव एव अभाव दोनो मे ही समान रूप से व्याप्त है। क्योकि इन्ही वस्तुओ के सम्बन्ध मे हम यह कह सकते है कि 'ये है और ये नही है' जैसे हम कहते है कि 'गाय है और नही है'। मनुष्य के ये कथन भाव एव अभाव दोनो ही अवस्थाओ की ओर सकेत करते है। अगर गाय स्वलक्षण की भाति केवल विधिमूलक स्वभाव की होती तो उसका अभाव से कभी भी सम्बन्ध न होता, क्योकि भाव एव अभाव परस्पर विरूद्ध है। फिर यदि कोई वस्तु अनुपयुक्त होगा कि भाव से उसका सम्बन्ध है क्योकि यह उसके स्वरूप की पुनरूक्ति मात्र है। जैसे – अगर गाय मात्र भावात्मक है तो उसके अस्तित्व से ही यह प्रमाणित होता है कि वह है। इसलिए उसके विषय मे यह कहना कि 'वह है' पुनरूक्ति मात्र है।[35] किन्तु हम सदा ऐसा ही करते है। इससे यह प्रमाणित होता है कि गाय, घट, आदि अपोहात्मक है।

द्वितीय तर्क की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते है कि दो अत्यन्त भिन्न वस्तुओ के मध्य सादृश्य केवल अपोह या अन्यव्यावृत्ति द्वारा ही सभव है। जैसे– हम यह कह सकते है कि गाय, अश्व, हाथी एव गर्दभ मे सिह की तुलना मे सादृश्य है और यह सादृश्य उनके सिह से सामान्य भिन्नता के कारण है। हालाकि यह पशु अत्यन्त भिन्न है फिर भी इन्हे हम इस आधार पर एक रूप कह सकते हे कि ये सिह से भिन्न है और सिह की तुलना मे एक रूप है। इसी तरह स्वलक्षण एव सविकल्प प्रत्यक्ष के विषय गाय, हाथी, घट, पट आदि मे भी समानता है। हालाकि वे एक दूसरे से भिन्न है। क्योकि स्वलक्षण भावात्मक एव एकमात्र परमार्थ है। जबकि सविकल्प एव प्रत्यक्ष की वस्तुए असद् है। बौद्ध नैयायिको ने इस प्रकार के तर्क को स्वभाव या तादात्म्य की सज्ञा दी है। सक्षिप्त रूप मे यह कहा जा सकता है कि अनुभवमूलक जगत की वस्तुए गाय, अश्व, गर्दभ एव हाथी आदि

वस्तुओ मे सादृश्य एव एक ही वर्ग की वस्तुओ गायो मे तादात्म्य अपोह द्वारा ही सभव है' अन्यथा नही। तृतीय तर्क की विवेचना करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते है कि सविकल्प प्रत्यक्ष के विषय गाय, अश्व, हाथी आदि का ज्ञान अन्य वस्तुओ की व्यावृत्ति द्वारा ही सभव है। यदि किसी गाय का प्रत्यक्षीकरण करते समय हमे अन्य वस्तुओ से उसके भेद का ज्ञान न हो तो हमसे किसी व्यक्ति के यह कहने पर कि 'गाय को खूटे मे बाध दो' हम उसके स्थान पर अश्व या दूसरे पशु को खूटे मे बाधने लगेगे। क्योकि गाय का अश्व या अन्य पशु से भिन्न वस्तु के रूप मे इसका प्रत्यक्षीकरण होता है तो हम यह क्यो नही मान लेते कि अगाय आदि की व्यावृत्ति इसका वास्तविक स्वरूप है। इसलिए वर्ग (गाम) और तत्सम्बन्धी गाय,अश्व आदि सविकल्प प्रत्यक्ष की वस्तुए वस्तुत अन्यव्यावृत्ति रूप है।

---

२५ – त्रिपाठी, डा० छोटे लाल-----दार्शनिक चितन, सररती प्रकाशन इलाहाबाद, १९९६,पृष्ठ १४ ।

२६ – तच्चेदम अन्यव्यावृत्तिरूपभावाभाव साधारण्याच्च, अत्यन्त विलक्षणना सालक्षण्यापादनाच्चताद्–
रूप्यानुभवाच्च (न्यायवर्तिक तात्पर्य टीका पृष्ठ ६८३) स्वलक्षण सदैव विधिमूलक ही होते है।

२७ – न्यायवार्तिक तात्पर्य, पृष्ठ ६८३

२८ – वही पृष्ठ ६८३।

२९ – त्रिपाठी, डा० छोटे लाल---दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद,
१९९६, पृष्ठ १४–१५

शब्दो के प्रतिषेधात्मक अर्थ पर शान्तरक्षित एव कमलशील के विचार

शातरक्षित एव कमलशील के मतानुसार निम्नलिखित वक्तव्य कुछ भिन्न वाक्य–विन्यास के साथ शब्दो के प्रतिषेधात्मक अर्थ अर्थ (अपोह) से सम्बद्ध दिङ्नाग के बिल्कुल उसी सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है। यह इस तथ्य पर अधिक जोर देता है कि हमारी वाणी के शब्द,यद्यपि साक्षात् रूप से विकल्प या सामान्य को व्यक्त करते हुए परोक्ष रूप से विशेष सत्वस्तु के द्योतक होते है। यह वस्तु को भी अनुपलब्धि कहते है। क्योकि वह स्वय अपने मे अद्वितीय, त्रैलोक्यव्यावृत्त होती है। वह अर्थात्मक अनुपलब्धि अथवा एक प्रतिषेधात्मक विकल्प की विधायक अधिष्ठान होती है।[30] शातरक्षित एव कमलशील के प्रमुख विचार वही है जिस पर जिनेन्द्र बुद्धि ने जोर दिया अथवा शब्द मतिषेध के द्वारा ही स्वय अपने अर्थ को अभिव्यक्त करते है। इसलिए शब्द प्रतिषेधात्मक होते है। बिना प्रतिषेध के यह कुछ भी अभिव्यक्त नही करते। यह किसी भी अर्थ को केवल अपोहात्मक रूप से ही व्यक्त कर सकते है या परस्पर प्रतिषेध के युग्मो मे ही अभिव्यक्त करते है। लात्स[31] कहते हैं कि 'किसी विषय की विधायक अभिव्यक्ति एव प्रत्येक अन्य का प्रतिषेधात्मक परिहार दोनो इतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होते है कि हम विधि के मात्र अर्थ को व्यक्त करने के लिए ऐसी अभिव्यक्तियो का सहारा ले सकते है। जो केवल प्रतिषेधात्मक होती है (?) यह बिल्कुल दिङ्नाग की प्रतिज्ञा है, हालाकि इसे कुछ विस्मय के साथ व्यक्त किया गया है। फिर भी लात्स का मानना है कि नामो मे एक विधायकता होती है और यह कि प्रतिषेध यहा (नामो एव विकल्पो मे विधि से सर्वथा भिन्न होता है।)

---

३० – राम, डा० राम कुमार-----बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्ट लाजिक–मूल लेखक श्सेरबात्स्की' चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६६,५६५–५६६

३१ – लाजिक २ (।।)

बौद्धदार्शनिको के मतानुसार वास्तविक विधि कहा स्थित होती है। यह निम्नलिखित विवरण से स्वत स्पष्ट हो जायेगा। शातरक्षित के विचार निम्न है–

(३१६ २५) निषेध द्विविध होता है ऐसा शातरक्षित कहते है। यह या तो पर्युदास होता है या प्रसज्य प्रतिषेध। पर्युदास विरूद्ध की विधि से युक्त होता है। यह भी द्विविध या बुद्धयात्मक और अर्थात्मक होता है।

(३१७ २) सोपाधि निषेध का बृद्धयात्मक प्रकार वह बुद्धि प्रतिभास होता है जिसका हमे प्रत्यक्षात्मक निश्चय मे ज्ञान होता है।[32] (जैसे कोई सामान्य) जिसका एक ही और वही रूप अनेक वस्तुओ मे व्याप्त होता है।[33] सोपाधि निषेध का अर्थात्मक प्रकार विशुद्ध सत् की उस स्थिति को अभिव्यक्त करता है, जिससे प्रत्येक विजातीय व्यावृत्त होता है।(यह स्वलक्षण है)[34]

(३१७ ५) अब बुद्धयात्मक स्वरूप का निदर्शन किया जायेगा।

उपरोक्त[35] विवेचन मे जिस प्रकार हरीतकी आदि का इनमे किसी एक सामान्य रूप उपस्थित के बिना भी एक ही ज्वरशामक गुण होता है। ठीक उसी तरह शबल एव कृष्ण आदि मे गो यद्यपि स्वभावत अलग वस्तुए है तथापि यह अपने आप मे किसी सामान्य सत् के बिना भी एक ही समान आकार की हेतु होती है। यह एकार्थकारित्व समानता है। इन समान अर्थकारित्वो के आधार पर इनके एक मध्यवर्ती अनुभव से एक विकल्पात्मक ज्ञान व्युत्पन्न होता है।

---

३२ – अध्यवसित

३३ – अर्थात किसी वस्तु मे जो सामान्य होता है। वह केवल विरूद्ध का प्रतिषेध होता है।

३४ – ''अपोह, जो अर्थात्मक होता है,विजातीय व्या–वृत्त स्वलक्षण वस्तु(अर्थ)का स्वभाव होता है।

३५ – तस० पृष्ठ २३६,१६, तुकी० तसप० पृ० ३२६ ७ एव ४६७ १५

इन विकल्पात्मक ज्ञान मे वस्तु का आकार, उसका प्रतिबिम्ब, उसका आभास प्रकट होता है।[1] (आभास एव वस्तु मे) तादात्म्य हो जाता है। (किन्तु यह आभास एक अपोहात्मक विकल्प सिद्ध

होता है) एव इसके लिए विरूद्ध प्रतिषेध अथवा अपोह नाम व्यवहार मे प्रयोग होता है। यह एक सविकल्प एव मानसिक होता है।[36] जिसमे कुछ भी बाह्य नही होता हे (यह विषयी के मस्तिष्क मे ही होता है) यह केवल अध्यवसित होता है। अर्थात एक बाहय के रूप मे इसकी कल्पना मात्र होती है।[37]

(३१२५) किन्तु तब अपोह नाम (उस प्रकार को जो अपोह प्रतीत ही नही होता) क्यो दिया गया है, इसके चार मुख्य कारण है, जिसमे एक कारण प्रमुख तथा तीन व्युत्पन्न है। प्रमुख कारण यह है कि आकार स्वय अन्यव्यावृत्त होने के कारण प्रगट होता है। (यदि यह अन्यव्यावृत्त न हो तो कुछ भी प्रतिभासित करेगा। इसको अपोह इसलिए कहते है। क्योकि यह अन्यव्यावृत्त, अश्लिष्ट वस्तु होता है।[39]) लेकिन यद्यपि बाह्य विशेष पदार्थ के लेश से युक्त न होते हुए भी सामान्य आकार उससे त्रिविध रूप से सम्बद्ध होता है–

(१) आकार हमारी अर्थ क्रिया के निर्देश का कारण होता है और हमे विशेष बाह्यार्थ तक पॅहुचाता है। इस तरह आकार को विशेष अर्थ का हेतु स्वीकार किया जाता है। यद्यपि यह वास्तव मे उसका फल होता है।

---

३६ – अर्थ–आकार, अर्थ–प्रतिबिम्बक, अर्थ–अभ्यास।

३७ – ज्ञानेन समानाधिकरण्यम्।

३८ – राय, डा० राम कुमार–––बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्ट लाजिक–मूल लेखक–श्सेरबात्स्की' चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, १६६६, पृष्ठ ५६६–६७

३६ – अश्लिष्ट वस्तु =अन्य –असम्बद्ध–वस्तु।

---

(२) इसके विपरीत किसी अर्थक्रिया द्वारा हस्तगत अर्थ को ही उसका कारण माना जाता है। (यद्यपि वह इसका फल भी होता है) क्योकि सामान्य आकार विशेष अर्थ के साक्षात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष का फल होता है। यह वह निमित्त होता है, जिससे आकार उत्पन्न होता है।

(३) यह विशेष वस्तु के साथ उसके सामान्य आकार का सविकल्पक के अलावा और कुछ नही, तादात्म्य स्थापित करने का मनुष्य की बुद्धि का एक साधारण भ्रम है–

(३१८ ६) अब हम अर्थात्मक अपोह पर चितन करेगे।

अपोह शब्द (परोक्ष रूप से) स्वलक्षण के लिए भी व्यवह्रत हो सकता है। क्योकि यह अन्य से व्यावृत्त होता है या अन्य के निषेध से युक्त होता है। विरूद्ध के प्रतिषेध की विशिष्टता भी विद्यमान रहती हे जो अभिप्रेत होती है। इसलिए इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अपोह का अर्थ परोक्ष[40] रूप से स्वलक्षण[41] के लिए व्यवहार मे प्रयोग होता है।

(३१८ १५) प्रसज्य प्रतिषेध का लक्षण क्या है?

प्रसज्य प्रतिषेध का तात्पर्य है कि गो–अगो नही है। इस दशा मे विरूद्ध के प्रतिषेध का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है।) (३१८ १८) इस प्रकार अपोह के त्रिविध रूपो का प्रतिपादन करने के पश्चात इन्हे शब्दार्थ से सयुक्त किया जा रहा है।

शब्द पहले प्रकार के अपोह को अभिव्यक्त करता है। क्योकि शब्द बाह्यार्थ के साथ समीकृत आकार को उत्पन्न करता है।(यह आकार अपोहात्मक होता है)

---

४० – 'न मुख्यत' पाठ।

४१ – यह अनुमित होता है कि स्वलक्षण का मुख्य अर्थ विधि रूप है।

(३१८ २१) किसी शब्द का अर्थ वही होगा जो किसी शब्द के द्वारा किसी ज्ञान को ससूचित करते समय (हमारी चेतना मे) प्रतिभासित होता है।जब किसी शब्द का ज्ञान होता है तब न प्रसज्य प्रतिषेध अध्यवसित होता है और न हमे किसी अर्थ का वैसा साक्षात् आभास ही होता है। जिस प्रकार

इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे होता है। तब क्या होता है? हमे केवल शाब्दिक ज्ञान होता है जो किसी वाह्यार्थ का द्योतक होता है। अत किसी शब्द का यथार्थ अर्थात्मा वस्तु मे ही निहित होता है। अन्य कुछ मे नही, क्योकि शाब्दिक ज्ञान मे यह आकार वस्तु से स्वीकृत रूप मे प्रकट होता है।)

(३१८ २६) किसी वस्तु तथा उसकी शाब्दिक उपाधि के बीच कार्य–कारण भाव होता है। किसी शब्द का अर्थ उस आकार मे रहता है। जो उसके द्वारा उत्पन्न होता है।) (३१६ ७) इसलिए (हमारे सिद्धान्त के विरूद्ध की गई आपत्ति, अर्थात) यह आपत्ति कि निषेध मात्र वह नही होता जो किसी शब्द के उच्चारण के समय ज्ञान मे अवभासित होता है, आधार हीन है। हमने इस बात को कभी नही माना कि किसी शब्द का अर्थ निषेध मात्र होता है।

(३१६ ६) इस तरह स्थिति यह है कि अपोहवस्तु के प्रतिबिम्ब के अलावा और कुछ नही है। यह उसके नाम से साक्षात् उत्पन्न होता है। अत यह शब्द का मुख्यार्थ होता है। दो अन्य अर्थ (स्वलक्षण एव प्रसज्य–प्रतिषेध) गौण होते है। इसलिए इन्हे स्वीकार करने मे कोई विरोध नही है।

(३१६ १२) जब यह अर्थ, अर्थात आकार के रूप मे अर्थ किसी शब्द द्वारा साक्षात् सूचित होता है तब अपोह अथवा प्रसज्य प्रतिषेध अभिप्रेत रूप मे से ससूचित होता है। कैसे? गो के प्रतिभासित प्रतिबिम्ब का स्वभाव इस तथ्य मे निहित है कि वह अन्य प्रतिबिम्ब का स्वभाव अर्थात अश्वादि के प्रतिबिम्ब का स्वभाव नही है। इस तरह प्रसज्य प्रतिषेध एक गौण अर्थ है जो (प्रत्येक स्पष्ट प्रतिबिम्ब)से अपृथक्कणीय है। (३१६ २१) विशेष का स्वलक्षण का अर्थात्मा (मुख्य अर्थ का भी एक फल है) यथार्थ वस्तु तथा नाम का सम्बन्ध परोक्ष एव कार्य–कारण भावात्मक होता है।[४३]

(३१६ २३) सबसे पहले हम वस्तु का व्यवस्थित आतरिक अनुभव करते है, तब शब्द के माध्यम से उसे व्यक्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् वाणी के अग क्रियाशील होते है और एक शब्द का उच्चारण होता है। जब शब्द इस परम्परा या रूप से बाह्य वस्तु जैसे– अग्नि इत्यादि से सम्बद्ध होता है। तब हम विशेष वस्तु को विजातीय व्यावृत्त रूप से अधिगमित करते है।

(३१६ २५) इसलिए अपोह के दूसरे एव तीसरे अर्थ अर्थात प्रलज्य प्रतिषेध एव अन्याव्यावृत्त स्वात्मा, अपोह के गौण अर्थ होते है।(मुख्य अर्थ प्रतिबिम्ब अथवा विकल्प होता है, जो अन्य व्यावृत्त होता है।)

(३२०७) यह आपत्ति[42] कि इस सिद्धान्त के मतानुसार शब्द केवल निषेध को व्यक्त करते है और यह कि इसलिए विधि को व्यक्त करने के लिए कुछ अन्य ढूँढना जरूरी हे आधारहीन है क्योकि हम यह स्वीकार करते है कि विशेष यथार्थ वस्तु शब्द द्वारा

४२ – तुकी० बी० रसेल एनेलिसिस आफ माइन्ड पृष्ठ २२७

''इस मत के अनुसार (जो कि यथार्थ सामान्यो के ज्ञान के यथार्थ विषय होने का, ब्रेण्टाना का मत है) एक विशेष 'बिल्ली' का प्रत्यक्ष हो सकता है जब कि सामान्य 'बिल्ली' का 'विकल्प'। किन्तु सामान्यो के विवेचन की इस सम्पूर्ण विधि को उसे समय छोंड देना होता है जव अपने विषय के साथ किसी मानसिक घटना के सम्बन्ध को केवल परोक्ष एव अहेतुक माना जाता है(—पारम्पर्येण कार्य—कारण—लक्षण प्रतिबन्ध, तलप पृष्ठ ३१६—२२)। नि सदेह मानसिक विषय सदेव विशेष (२) होता है और इसका क्या अर्थ है। इस समस्या का समाधान इसके हेतुक सम्बन्धो को जानने के अतिरिक्त अन्यथा नही किया जा सकता। भी सूचित होती है और यह अर्थ विधि है, निषेध नही । यह शब्द का परोक्ष अर्थ है। जब हम यह कहते हैं कि शब्द 'वाचक है' तब इसका तात्पर्य है कि यह एक निषेध उत्पन्न करता है। जो इसके विकल्प के अध्यवसाय मे सम्मिलित होता है। यह एक ऐसे प्रतिबिम्ब को उत्पन्न करता है। जो अन्य समस्त आकारो से व्यावृत्त होता है और जो स्वय अपने विशेष वस्तु का भी अन्य समस्त वस्तुओ से भी विभेद करता है।

इस तरह हमारे आचार्य दिड नाग के इस सिद्धान्त मे कोई विरोधत्व नही है (—यह शब्दो के अर्ध मे विधि के लिए कोई भी स्थान छोडे बिना निषेध मात्रको ही नही मानता है।)

(३१५ १५) यथार्थवादी उद्योतकर का प्रति सिद्धान्त यथार्थ सामान्यो को स्वीकार करता है। जिनमे से प्रत्येक एक यथार्थ एकत्व नित्य सत्ता एव प्रत्येक विशेष मे सम्पूर्णत· निहित सत्ता को अभिव्यक्त करता है। यह इस यथार्थ सामान्य की उपस्थिति ही होती है। जो इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान को निश्चितता एव स्थिरता प्रदान करती है। लेकिन आचार्य दिड नाग उत्तर देते है कि यह निषेधात्मक (अथवा व्यावर्तक) अर्थ (उन सभी गुणो से युक्त है जिन्हे यथार्थ सामान्यो मे निहित माना गया है)। इनमे एकत्व होता है क्योकि ये प्रत्येक विशेष मे एक ही होते हैं। ये नित्य होते हैं क्योकि ये प्रत्यंक विशेष मे एक ही होते है। ये नित्य होते है क्योकि इनका निषेधात्मक अधिष्ठान कभी भी नष्ट नही होता। (वह प्रत्येक परिवर्तित होने वाले व्यक्ति मे वही बना रहता है) ये प्रत्येक व्यक्ति मे अपनी सम्पूर्णता के साथ समवेत होते है। ये एकत्व, नित्यत्व एव अनेक समवेतत्व से युक्त होते है। यद्यपि निषेधात्मक मात्र अथवा सापेक्ष मात्र होते है। इस प्रकार शब्दो का अर्थ अपोहात्मक अर्थात अन्यव्यावृत्त होता है। यह सिद्धान्त ग्राहय है क्योकि (यथार्थवादी सिद्धान्त की तुलना मे) इसमे अनेक अनुकूलताए है।

४३— भामह की तुकी० तसप पृष्ठ २६१७ ।

भी आधारभूत अर्थ ऐसा ही है। इसलिए किसी अन्य शब्द के अनुपलब्ध होने के कारण उसे भी बौद्ध अपोहात्मक विधि ही कहेगे। लेकिन हमे इस बात का ध्यान देना होगा कि बौद्धो के अनुसार हेतु एव फल के मध्य कोई विरोध नही होता। (मात्र अन्यत्व होता है) न तो विकल्प का स्वविकास ही होता है। विकास एव कर्म सत् से सम्बद्ध है, तर्कशास्त्र से नही।"[44]

लेकिन दूसरी ओर बौद्ध अपोहात्मक विधि वस्तु शून्य प्रज्ञप्तिवाद एव यथार्थवाद के विवाद का समाधान प्रस्तुत करती है।इसलिए विकल्प विशुद्धत प्रतिषेधात्मक होते है। इसलिए उनकी सामान्यता, उनकी स्थिरता एव उनके समवायत्व की मानसिक, तार्किक एव अपोहात्मक होने के रूप मे विवेचना की गई है। वस्तुओ के नानात्व मे सामान्य का एक साथ ही समग्रत एव सतत रूप से उस समय उपस्थित होना कोई विरोध नही है। यदि वह अन्य वस्तुओ से विभेद का लक्षण हो। इसलिए ऐसी विकल्प एव नाम प्रतिषेधात्मक है। अत बौद्धो ने सम्भवत यही कहा होता कि हीगल की यह घोषणा उचित थी कि निषेधत्व विश्व का आत्मा है। फिर भी विश्व न केवल आत्मा से ही बल्कि शरीर से भी युक्त है।"[45]

---

४४ – जो विरोधी अपोह एव विरूद्ध अपोह मे विभेद करते है। (जैसे–क्रोये) वह यह देखेगे कि बौद्ध केवल प्रथम को ही मानते है, दूसरे को छोड देते है।

४५ – राय, डा० राम कुमार————बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्ट लाजिक मूल लेखक– एफ० टी० शेरबात्स्की' चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९, पृष्ठ ५९६–५७१

नामो के प्रतिषेधात्मक अर्थ के सिद्धान्त पर जिनेन्द्रबुद्धि का विचार

जिनन्द्रवुद्धि के अनुसार सभी नाम प्रतिषेधात्मक है। प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, अध्याय ५.११ मे जिनेन्द्रबुद्धि ने कहा है कि "इसलिए किसी शब्द का अर्थ विरूद्ध अर्थ के प्रतिषेध मे निहित होता है।" इसका अर्थ (जैसाकि 'उत्पत्तिमान' आदि शब्दो मे स्पष्ट देखा जाता है) यह है कि शब्द स्वय अपने अर्थ मे विरूद्ध के प्रतिषेध को भी धारण करते है। समस्त विरोधी मतो की अस्वीकृति द्वारा स्थापना की गई है।"

(जिनन्द्रबुद्धि, फ० २८५ अ० १) इन शब्दो का यह अर्थ है कि (उन सभी यथार्थवादी मतो की जो यह स्वीकार करते है कि शब्द वास्तविक) सामान्यो को अभिव्यक्त करते है। अस्वीकृत का साराश प्रस्तुत करने मे दिड्नाग केवल अपने सिद्धान्त की स्थापना भर करते है इस जगह कोई आपत्ति कर सकता है कि मिश्रित हेत्वाश्रित परार्थानुमान के विघातक रूप की समीक्षा तथा अस्वीकृत के समय जो विवेचना की गई है उसके अनुसार अन्य के मतो का प्रतिवाद कर देने से ही स्वय अपने सिद्धान्त की स्थापना नही होती। लेकिन यह आपत्ति नही कर सकते क्योकि दिड्नाग अपने सिद्धान्त के प्रारम्भ मे ही कहते हैं कि "जिस प्रकार 'उत्पत्तिमान' जैसे शब्द मे शब्द का स्वार्थ सदैव ही विरूद्ध के प्रतिषेध द्वारा व्यक्त होता है।" इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द–प्रामाण्य अनुमान से भिन्न नही है। (३८५, अ ३) उन लोगो के सिद्धान्तो से अस्वीकृत से जो यह स्वीकार करते है कि शब्द ज्ञान का पृथक प्रमाण है। यहकि शब्द सामान्यो एव विशेषो को साक्षात विधि के द्वारा अभिव्यक्त करता है। आचार्य दिड्नाग के उसी सिद्धान्त की, इस सिद्धान्त की भाषा सामान्यो को विधि के द्वारा नही, बल्कि अनुपब्धि के द्वारा व्यक्त होती है, स्थापना हो जाती है।' (२८५ अ०४) ये शब्द एक प्रस्तावनात्मक टिप्पणी है। यहा पर आचार्य दिड्नाग अपने प्रमाण को स्वय प्रतिपादित एव प्रमाणित करना चाहता है।

(२८५ अ० ४) अब (क्या प्रतिषेध शब्द) यहा स्वाभावानुपलब्धि का परिचायक है या अन्य किसी विशेष प्रकार का तथा इसमे क्या परिणाम निहित है? अगर यह प्रतिषेध्य ही स्वाभावानुपलब्धि है तो मूल के साथ विरोध होगा जहा यह कहा गया है कि शब्द विरूद्ध की अस्वीकृति द्वारा 'स्वय अपने अर्थ' को व्यक्त करते है। क्योकि सामान्यतया किसी अन्य की मात्र अस्वीकृति स्वय अपने (साक्षात्) अर्थ के वक्तव्य से स्वतत्र रूप से की जाती है।

(२८५ अ० ६) तब अर्थ का एक भाग अनुपलब्धि द्वारा संसूचित होगा शब्द तव एक अनुपलब्धि के रूप मे एक विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करेगा। द्विविध अर्थ के सिद्धान्त को स्वीकार करने वालो का दिड्.नाग के मूल द्वारा विरोध हो जाता है।'

(२८५ अ ०७) किन्तु यदि (प्रतिषेध शब्द) एक विशेष प्रकार की अनुपलब्धि" का घोतक है। तब विरूद्ध का समान रूप से प्रतिषेध करने वाले मत(अर्थात समान रूप से दो भिन्न कार्य करने विरूद्ध का प्रतिषेध करने एव स्वय अपने अर्थ का विधान करने वाले मत) को नही माना गया है।

..

४६ – जिनेन्द्र बुद्धि यहा दिड नाग द्वारा प्रयुक्त 'व्यवस्थित' शब्द की विभिन्न सिद्धान्त की अस्वीकृति के बाद स्वय उनके अपने सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध होने के रूप मे व्याख्या करते है। यह कुछ निरर्थक सी टीका है।

४७ – राय, डा० राम कुमार ----- बौद्ध न्याय (बुद्धिस्ट लाजिक–मूल लेखक शेरबात्स्की) चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, १९६६, पृष्ठ ५५४,५५५,५५६,

वास्तव मे तब यह अर्थ है कि जिस प्रकार अनुपलब्धि के निपात का प्रतिषेध के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही है। उसी तरह प्रत्येक शब्द का विरूद्ध के प्रतिषेध के अतिरिक्त और कोई कार्य नही हो सकता।

(२८५ ब० १) किन्तु क्या द्वितीय अर्थ का मत वास्तव मे एक भिन्न मत है? इस विचार का दोष (अर्थात यह दोष कि यह दिङ्नाग के मूलक का विरोध करता है) क्या इस (अन्य मत) तक विस्तृत नही हो सकता (क्योकि दिङनाग शब्द के स्वय अपने अर्थ की चर्चा करते है।)? नही ऐसा नही हो सकता। क्योकि विरूद्ध का प्रतिषेध (प्रत्येक शब्द का) व्यावर्तक अर्थ होता है। और (दिङनाग के वक्तव्य के साथ) कोई विरोध नही है। क्योकि शब्द का स्वय अपना अर्थ विरूद्ध का प्रतिषेध ही है। (और कुछ नही) इसे यहा 'विरूद्ध–प्रतिषेध' शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। वास्तव मे दिड नाग के मूल शब्दो का उद्देश्य यह है कि शब्द 'विभेद के द्वारा' स्वय अपने अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

(२८६, अ०४) अब आगे (उसे प्रतिषेधात्मक रहने दो।) यह (प्रतिषेधात्मक अर्थ) किसको व्यक्त करता है। यह एक ऐसे सामान्य रूप को व्यक्त करता है जिसे वक्ता उपाधित करना चाहता है। यह वास्तव मे अनिवार्यत किसी शब्द से ही सम्बद्ध होता है। इसीलिए शब्द ही उसका प्रमाण है जो वक्ता व्यक्त करना चाहता है।'

(२८६ अ०४) अब आगे (उसे प्रतिषेधात्मक रहने दो।) यह (प्रतिषेधात्मक अर्थ) किसको व्यक्त करता है जिसे वक्ता उपस्थित करना चाहता है। यह वास्तव मे अनिवार्य रूप से किसी शब्द से ही सम्बद्ध होता है। अत शब्द ही उसका प्रमाण है। जो वक्ता अभिव्यक्त करना चाहता है।

(२८६ अ०५) फिर भी यदि शब्द से कोई (वास्तविक) सामान्य अभिप्रेत हो तो यह कैसे होता है कि एक मूर्त मानसिक आकार को शब्द के अनुरूप वस्तु मान लिया जाता है? (हॉ वास्तव मे)। यह मानसिक आकार ही वह जो (सम्पूर्ण) सामान्य का निर्माण करता है।) (२८६ अ०६)· कैसे? (यह मानसिक आकार एक सामान्य है क्योकि यह अनेक हेतुओ के सम्मिलित परिणाम को व्यक्त करता है।) उदाहरण के लिए एक दृश्य सवेदना को लीजिए। यह (एक प्रणाली के अनुसार) दृष्येन्द्रिय,किसी प्रतिभास एव ध्यान का सम्मिलित उत्पाद होता है। या (यथार्थवादियो के अनुसार) यह आत्मा तथा उसके अन्त करण, वाह्य ज्ञानेन्द्रियो एव वाह्य विषयो के साथ अन्तक्रिया द्वारा उत्पन्न होता है। ये सभी तत्त्व पृथक इकाइया है। इनके कोई व्यापक सामान्य एकत्व नही है। किन्तु एक साथ मिलकर

ये एक सम्मिलित परिणाम उत्पन्न करते है। ठीक इसी प्रकार शिशपा एव अन्य अकेले विषय अपन मे किसी भी परस्पर व्यापक पदार्थ एकत्व के बिना भी प्रत्येक निरीक्षक द्वारा स्वय अपने चित्त मे पृथक् रूप से अनुभूत होने पर भी मात्र एकीकृत आकार का प्रस्तुत करते हे। ये हमारी कल्पना शक्ति को उद्दीप्त करते है और एक अभेद प्रतिभास की रचना करते है। जो विकल्प विज्ञान बन जाता है।

(२८७ अ०२) इसके प्रति वह (यथार्थवादी) जो सामान्यो (के बाह्य सत्) को मानते हैं यह आपत्ति करते है कि यदि कोई 'वृक्ष' किसी 'अ–वृक्ष' के प्रतिषेध से अधिक कुछ न हो तो हम वृक्ष के प्रथम ज्ञान की कभी भी व्याख्या नही कर सकते। वास्तव मे किसी वृक्ष के प्रथम ज्ञान के समय अभी हम यह नही जानते कि अ–वृक्ष क्या है? तब यदि इस प्रश्न का 'अ–वृक्ष' क्या है'' का हम यह उत्तर दे कि वह 'अ–वृक्ष' नही है तो इसका अर्थ है कि एक चक्रवत् तर्क होगा। इसलिए विरूद्ध के प्रतिषेध मात्र से ही एकमात्र सापेक्ष वस्तु का जिसका अभी हमारी बुद्धि कोई स्वतत्र आकार नही है। नाम निर्धारित करना असम्भव है।[५]

(२७८ अ० ६) प्रत्यक्षात्मक निश्चय किसी के अपने मानसिक आकार की बाह्य वस्तु की प्रकृति से युक्त होने के रूप मे स्थापना करते है। इस प्रकार इसकी कल्पना मे रचना होती है।

---

४८ – पूर्वोक्त पृष्ठ ५५८

४६ – पूर्वोक्त, पृष्ठ ५५८

५० – पूर्वोक्त, पृष्ठ ५६१

प्रत्येक विषयी अपने अन्त करण मे स्वय अपने आकारो का अनुभव करता है। फिर भी भिन्न–भिन्न व्यक्तियों की कल्पनात्मक प्रतिक्रियाये एक दूसरे स सहमत होती हे। यह भी एक ही चक्षुरोग से ग्रसित दो व्यक्तियो के दृश्यानुभव के बिल्कुल समान होता है। यह दोनो ही दो चन्द्रमा देखते है। यद्यपि इनमे से प्रत्येक अपने आन्तरिक अनुभव मे केवल स्वय अपने ही आकार को देखता है तथापि दोनो यह मानते है कि वे एक ही बात (दो चन्द्रमा) देख रहे है।"[51]

(२८८ अ० ७) इसलिए भ्रम के कारण हम एक ही सामान्य को विभिन्न वस्तुओ मे व्याप्त होने के रूप मे देखते है। उन दूरस्थ वृक्षो से तुलना करते हुए ये (यहा) भी वृक्ष ही है। इस तरह (सामान्य अर्थ के निर्धारण मे) वे वस्तुए वर्जित होती है जो (इसप्रकार के भ्रामक बाह्यकृत) आकारो को उत्पन्न करने की हेतु नही है। तब हम स्वभावत यह अनुभव करते है। कि विरूद्ध रूपधारी समस्त वस्तुए अ–वृक्ष है।"[52]

एक ऐसी पृथक वस्तु के रूप मे प्रत्यक्षीकृत वस्तु जो फिर भी साथ ही साथ उपलब्ध एव अनुपलब्ध होगी। जो इस प्रकार एक वृक्ष एव अ–वृक्ष के बीच अन्तर उत्पन्न करेगी जो एक ऐसी एकत्व होगी जिसका इन्द्रियो से प्रत्यक्ष हो सकता है– ऐसी वस्तु (अर्थात सामान्य वस्तु) की कोई सत्ता नही होती क्योकि इनका (वृक्ष एव अ–वृक्ष का) उस प्रकार अनग–अलग प्रत्यक्ष नही होता, जैसे––दण्ड एव दण्डधारण करने वाले का।) (२८७ ब०१) इनका इस प्रकार बोध नही हो सकता क्योकि इनमे एक दूसरे का परोक्ष लिग नही है।)(ये अपोहात्मक रूप से सयुक्त है। एक ही वस्तु के साथ ही वृक्षो की विधि एव अवृक्षो की अनुपलब्धि है।)

---

५१ – पूर्वोक्त पृष्ठ ५६४

५२ – पूर्वोक्त, पृष्ठ ५६४।

(२८८ ब० २) एक ही रूप जिनका एक वैयक्तिक वस्तु मे प्रत्यक्ष होता हे। उसी का अन्य म भी प्रत्यक्ष होता है। यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो एक साथ ही इस निश्चित रूप से युक्त हो और न हो,जो एक साथ ही वृक्ष हो और अ–वृक्ष भी हो, तभी ऐसा हमे यथार्थ व्यक्ति मिल सकता है। जो स्वय अपने मे वृक्ष हो।

(२८८ ब० २) हमारे विपक्षी शब्दो के प्रतिषेधात्मक अर्थ के सिद्धान्त के स्वभाव से अनभिज्ञ है। वे हमारे ऊपर एक ऐसे सिद्धान्त को आरोपित करते है कि जो कभी भी हमारा था भी नही। वे यह स्वीकार करते है कि इस सिद्धान्त का अर्थ प्रत्येक यथार्थता की सीधी अस्वीकृति है और इसके लिए वे हमारा अपमान करने के लिए सदैव तत्पर रहते है। अनुपलब्धि स्वभाव के इस गम्भीर उद्घाटन मात्र से ही हम लोगो ने उनकी समस्त आपत्तियो का निराकरण कर दिया हैं। और इस प्रकार हम यह स्वीकार करते है कि हमारा शत्रु पराभूत हो गया है। इसका प्रतिवाद करके दिङ्नाग ने एक महान कार्य किया है।[53]

५३ – पूर्वोक्त पृष्ठ ५६५।

सप्तम् अध्याय

अपोहवाद सम्बन्धी पाश्चात्य विचारधारा

सप्तम् अध्याय

अपोहवाद सम्बन्धी पाश्चात्य विचारधारा

बौद्धदर्शन के अपोहवाद के समानान्तर कई पाश्चात्य विचारधाराये प्रचलित है। ये विचारधाराए 'अपोह' के एक दम निकट है। इनमे प्रमुख काट, हीगल, जे० एस० मिल, ए० बेन, लात्स, उलरिचि,और सिग्वर्ट है।

अ– कांट तथा हीगल के विचार

काट मानते है कि द्वन्द्वन्याय (डायलक्टिक) 'भ्रान्ति का तर्कशास्त्र' है'[1] लेकिन प्रत्येक भ्रान्ति का नही। भ्रम के दो २ प्रकार होते है–(१) आनुभविक भ्रम (२) मानव तर्क की उस समय उत्पन्न स्वभाविक भ्रान्ति है, जब इन चार समस्याओ का विवेचन करती है। जैसे– (क) तादात्म्य (ख) अनन्त विभाजकता (ग) मुक्त सकल्प (घ) एक अनिवार्य परमात्मा। ये चार ऐसे विप्रतिषेध है अर्थात ऐसी समस्याये है जिनका तार्किक दृष्टि से न तो हा मे एव न तो नही मे उत्तर दिया जा सकता है तथा इसीलिए यह मानव तर्क की एक रवाभाविक भ्रान्ति को अभिव्यक्त करती है। यह सूक्ष्मरूप से हीनयान विचार के समीप है जिसके अनुसार ससार की उत्पत्ति की समस्या,इसके अन्त की समस्या, अनन्त विभाजकता की समस्या, नित्यपरमात्मा की सत्ता की समस्या आदि इन सभी समस्याओ का न तो विधायक आशय मे समाधान किया जा सकता है, न निषेधात्मक आशय मे। इसी तरह महायान बौद्धदर्शन भी दो प्रकार का भ्रम स्वीकार करता है–

---

१ – काण्ट 'द्वन्द्वन्याय' शब्द के इस प्रयोग को प्राचीनो पर आरोपित करते है। किरी० पृष्ठ ४६१ तुकी० फिर भी, ग्रोट एरिस्टॉ० पृष्ठ ३७६।

२ – वही तसप पृष्ठ ३२२७।

(१) मुख्य भ्रम

(२) त्रुटि

इसमे प्रथम भ्रम को मानव बुद्धि का अन्तर उप्लव भी कहते है।[3] फिर भी मुख्य भ्रम बहुत हो गये है। क्योकि प्रत्येक सामान्य एव प्रत्येक विकल्प को मानव बुद्धि की स्वाभाविक भ्रम का परिणाम माना जाता है।

यह हीगल के उस दृष्टिकोण के समान है। जब वह चार विप्रतिषेधो की सीमित सख्या के काट के सिद्धान्त का उत्तर देते हुए कहता है कि 'विप्रतिषेध उतने ही हे जितने विकल्प।'[4] हर विकल्प जहा तक वह विकल्प है वह द्वन्द्वात्मक होता है। काण्ट के मतानुसार सभी आनुभाविक वस्तुए तथा साथ ही साथ तदनरूप आकार एव विकल्प द्वन्द्वात्मक नही होगे। ये वस्तुए हमे प्रदत्त होती है। हालाकि अन्त प्रज्ञा की विविधता से युक्त होने के रूप मे यह भी कल्पना द्वारा रचित होती है। फिर भी यह प्रदत्त होती है। यह इन्द्रियो को प्रदत्त होती है। लेकिन प्रज्ञा इनकी एक बार फिर पुन रचना करती है।[5] काण्ट के कुछ टीकाकार वस्तुओ की इस द्विविध उत्पत्ति अथवा एक बार इन्द्रियो को प्रदत्त होने एव दूसरी बार रचित होने की धारणा से भ्रमित है। यह इस सदर्भ में काण्ट निर्णय शक्ति की कमी को स्वीकार करते है। भारतीयो के मतानुसार केवल सत्ता मात्र एव विशेष अर्थात स्वलक्षण ही प्रदत्त होता है। शेष सभी कुछ कल्पना तथा मानव प्रज्ञा के स्वाभाविक अपोह द्वारा रचित होता है। अगर हम काण्ट के मत की इस प्रकार विवेचना करे कि 'प्रदत्त' केवल वस्तु स्वलक्षण है– और लोग कहते है कि इनके मूलग्रथ मे इस प्रकार की व्याख्या का सदैव अभाव नही है।[7]

---

३ – तुकी० तसप० पृष्ठ ३२२.७।

४ – विरसडर लाजिक ११८४।

५ – क्रिरी० पृष्ठ ४० बौद्धो के अनुसार केवल'प्रथम क्षण'ही 'प्रदत्त'(निर्विकल्प)होता है।

६ – जैसे–उदाहरण के लिए पालसेन काण्ट २ पृष्ठ१७१।

७ – तुकी० विशेष रूप से एवरहार्ड के विरूद्ध इनको लेख, पृष्ठ ३५ (कर्चमैन)

तब इस विषय पर इनके एव भारतीयो के मध्य समानता होगी। आनुभविक वस्तुए तब एक अनुभवातीत यथार्थता के आधार पर रचित होगी। यथा–अनन्तता आदि की धारणाये। यह हीगोलियन दृष्टिकोण के समरूप है। हीगल के अनुसार किसी विकल्प की सामान्यता का उसकी निषेधात्मकता के द्वारा निश्चय होता है। कोई विकल्प उतनी ही दूर तक स्वय अपने साथ एकात्मक होता है। जितने तक वह स्वय अपने निषेध का निषेध होता है। यह भारतीय मत के समान प्रतीत होता है कि सभी सामान्य अन्यव्यावृत्त रूप होते है। जैसे एक गो स्वय अपने निषेध के निषेध से अधिक कुछ नही यह अ–गो नही है। हीगल के अनुसार "द्वन्द्वन्याय अन्य मे अर्थात अ–आत्मा मे स्वाात्मा का नित्य चितन है।" हीगेल कहते है कि 'निषेधात्मकता विधायकता भी है, विरूद्ध का परिणाम सर्वथा नास्ति या शून्य नही, बल्कि स्वय अपनी विशेष विषय वस्तुओ का एक अनिवार्य निषेध होता है। क्योकि तब तर्क की एक अनिवार्यता के रूप मे द्वन्द्वन्याय पुन समर्थित होगा। "किसी भी विकल्प की निश्चितता उसकी विधि के रूप मे स्थापित निषेधात्मकता है। स्पिनोजा भी यही मानता है कि 'प्रत्येक विशेषण निषेधात्मक है' और इसका असीम महत्व है।"

यहा तक तो हीगल के द्वन्द्वन्याय एव दिड्नाग के सिद्धान्त के बीच साम्य है। किसी विकल्प अर्थ विरूद्ध का प्रतिषेध अपोह है। प्रतिषेधात्मक पारस्परिक होती है। विधि सापेक्षित होती है। यह स्वय अपनी विधि ही नही होती वरन् प्रतिषेध भी होती है। इसलिए हीगल यह स्वीकार करते हैं कि "प्रकाश प्रतिषेधात्मक होता है और अधकार विधायक है, पुण्य प्रतिषेधात्मक है एव पाप विधायक है।"

---

८ – तुकी० ऊपर। यहा तक कि 'प्रमेयत्व' जैसी सामान्य धारणाओ तक की एक कल्पित 'अप्रमेयत्व' के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिए। तुकी० तसप पृष्ठ ३१२ २१ मे उद्धृत दिड् नाग के हेतुमुख स्थल।

९ – विस० उर लाजिक, २४०।

१० – एनसाइक्लोपीडिया पृष्ठ १६२।

११ – वही, २५५

फिर भी हीगल अपने विचार को आगे बढाते है। काट के मतानुसार किसी विरोधी के दोनो ही विरूद्ध भाग एक दूसरे को निराकृत करते है और परिणाम शून्यात्मक होता है।[12] हीगल के मतानुार ये दूसरे को निराकृत नही करते परिणाम शून्यात्मक नही वरन् स्वय अपने विशेष विषय वस्तुओ का निषेध मात्र होता है।[13] सभवत· इसका तात्पर्य यह है कि सभी विकल्पो को निषेधात्मक घोषितकर देने के बाद हेगेल किसी प्रकार की वास्तविक विधि को ढूँढना अपना उत्तरदायित्व समझते है। तब वह कहते है कि विधि एव निषेध दोनो बिल्कुल एक ही है।[14] किसी वस्तु का अभाव उसकी सत्ता मे निहित एक क्षण है।[15] वह कहते है कि "सत्ता अपने अन्य अपने अभाव के साथ एकात्मक है।" इस प्रतिज्ञा से कि 'प्रत्येक वस्तु वही है, जहा तक कि अन्य होती है। इसकी अन्य के द्वारा सत्ता होती है। स्वय अपने अभाव से वह होती है, जो वह है।" इस प्रतिज्ञा से आप इस प्रतिज्ञा पर आते है कि "सत्ता वही है जो अभाव है' या 'विधि एव प्रतिषेध बिल्कुल वही एक ही है।"[16] दिड्नाग एक तार्किक के रूप मे यह विचार रखते है कि "जो कुछ अन्य है वह एक ही नही है।[17] यह सत्य है कि एक अन्य दृष्टिकोण से तर्कातीत दृष्टिकोण से, एकत्ववादी के रूप मे दिड्नाग ससार के अद्वितीय द्रव्य के अन्तर्गत समस्त विरूद्धत्व का परम तादात्म्य तथा सगम मानेगे। वह सम्पूर्ण की इस 'शून्यता'[18] को मानेगे। लेकिन इस धार्मिक एव तत्वमीमासीय दृष्टिकोण का तार्किक के साथ सतर्क भेद करना चाहिए।

---

१२ – पृष्ठ २५ (कर्चमैन)

१३ – वीस० उर लाजिक १३६

१४ – वही २५४

१५ – वही २४२

१६ – वही २५५

१७ – यद विरूद्ध–धर्म–संसृष्टम् तन् नाना।

१८ – प्रज्ञा पारमिता=शून्यता=ज्ञानम् अद्वयम्।

तर्क एव प्रज्ञा के विभेद के द्वारा, जो विभेद काट से ग्रहण किया गया है,दृष्टिकोण की द्विविधता हीगल मे बनी हुई है।हीगल कहते है कि'' प्रज्ञा निश्चित है एव विषय के अन्तर को मजबूती से पकड़ती है। लेकिन तर्क निषेधात्मक एव द्वन्द्वात्मक होता है। तर्क के लिए निषेध एव विधि मे कोई अतर नही है। लेकिन प्रज्ञा के लिए यह अतर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। तर्क प्रज्ञा की सभी परिभाषाओ का विसर्जन कर देता है एव सभी अतरो को एक अ–विभेदीकृत सम्पूर्णता मे विलय देता है।

दिङ्नाग एव हीगल के मध्य एक और प्रमुख अतर है। हीगल शुद्ध विज्ञान मे प्रत्यक्ष स्वलक्षण को उसी तरह नही मानते है जिस तरह हमारे ज्ञान के दो विजातीय श्रोतो के रूप मे इन्द्रियो एव प्रज्ञा के मध्य के अन्तर को मानते है। इनके लिए इन्द्रिया आत्मा की विक्रियाए है।''[1] तर्क, प्रज्ञा एव इन्द्रियॉ तीन ज्ञानात्मक शक्तियो से सम्बद्ध काट, हीगल, और दिङ्नाग की परस्पर स्थितियो का मोटे रूप से सक्षेपीकरण करते हुए हम अग्रलिखित बातो की स्थापना कर सकते है–

(१) काण्ट तीन ज्ञानात्मक शक्तिया स्वीकार करते है– तर्क, प्रज्ञा एव इन्द्रिया। इनमे केवल तर्क ही अपोहात्मक है।

(२) दिङ्नाग प्रज्ञा एव तर्क के बीच के अन्तर को मिटाते हुए केवल इन्द्रिय एव प्रज्ञा के मध्य एक मौलिक अन्तर स्वीकार करते है। तब इन्द्रिया ज्ञान की अ–अपोहात्मक प्रमाण होती है, जब कि प्रज्ञा सदैव ही अपोहात्मक ही होती है।

---

१६ – वीस० उर लाजिक १,६।

२० – तुकी० फेनामेनालाजिक, पृष्ठ ४२७, वी० ड० लाजिक, २.४४० एव बाद

२१ – एन साइ० (४१८) फिर भी इस विचार का ग्राह्यता मात्र विकल्प रहित होती है। दिङ्नाग के निर्विकल्प क्षण के लिए व्यवहार हो सकता है।

(३) काट की प्रणाली मे सत् 'स्वलक्षण' तर्क से अलग है। हीगल की प्रणाली मे तर्क स्तर पर इन्हे अलग रखा गया है लेकिन ज्ञानमीमासात्मक स्तर पर एकत्ववादी सम्पूर्णता मे इनका विलय कर दिया गया है।

(४) हीगल इन्द्रियो तथा प्रज्ञा के अन्तर को मिटाकर प्रज्ञा एव तर्क के बीच सम्बन्ध की स्थापना करते है। सभी विषयो या विकल्पो को प्रज्ञा अद्वन्द्वात्मक रूप से देखती है, किन्तु तर्क द्वन्द्वात्मक रूप से।

(५) दिङ्नाग एव काण्ट जिस तरह इन्द्रिय एव प्रज्ञा के मध्य मौलिक अन्तर स्वीकार करने मे सहमत है उसी तरह स्वलक्षण को समान रूप से ज्ञान का परमार्थ एव अ–अपोहात्मक प्रमाण होता है। जब कि प्रज्ञा सदैव ही अपोहात्मक होती है।

ब–जे० एस० मिल तथा ए० बेन का विचार

वस्तुत हमे ज्ञात हो चुका है कि कोई भी ऐसा निश्चित विचार नही हो सकता जो प्रतिषेध न हो। इस प्रकार का विचार जो किसी भी बात का प्रतिषेध नही करेगा वह किसी का विधान नही कर सकेगा। दिङ्नाग के अनुसार प्रत्येक शब्द अपने अर्थ का प्रतिषेध 'अपोह' के द्वारा अभिव्यक्त करता है। यह स्वीकार करना गलत है कि प्रतिषेध एक निहित परिणाम है। शब्द स्वय प्रतिषेधात्मक होता है। यही प्रतिषेधात्मकता ही ससार की आत्मा है। अपोह या परस्पर प्रतिषेध प्रज्ञा द्वारा निर्मित सभी निर्धारणो की प्रतिषेधात्मकता है। ज्यो ही हमारे मानसिक चक्षु स्पन्दित होने लगते है और हम अपनी भावना को शाब्दिक चिन्हो द्वारा व्यक्त करने के लिए अभिव्यक्त को ढूढना प्रारम्भ करते है। वैसे ही विषय विरोध से युक्त हो जाता है और हमारा विचार अपोहात्मक हो जाता है।[22]

बुद्धि ज्यो ही इन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर अपोहात्मक रूप से सक्रिय होती है वैसे ही वह कुछ का प्रतिषेध कर चुकी होती है। अत प्रज्ञा का वास्तविक नाम विकल्प द्वैधीकरण[23] या दो भागो मे विभाजन है। इन दो भागो मे से एक दूसरे का पूर्ण प्रतिषेध करता है।

जे० एस० मिल[24] का मत है कि विधायक नाम होते है एव प्रतिषेधात्मक भी नाम होते है। लेकिन कौन विधायक है एव कौन प्रतिषेधात्मक, यह निर्धारित करना बहुत कठिन है। क्योकि प्रतिषेधात्मक अक्सर विधायक रूप से एव विधायक अक्सर प्रतिषेधात्मक रूप से व्यक्त होते है।

---

२२ – पल० पृष्ठ ७ एव बाद

२३ – विकल्प=द्वैधीकरण=एकीकरण

२४ – लाजिक, १४३ और बाद

जैसे – असुखकर' शब्द विधायक है जिसका वास्तविक अर्थ दु खकर, निरूधर्मी प्रतिषेधात्मक है जिसका वास्तविक अर्थ काम न करने वाला है। अब यदि यह पूछा जाय कि कौन शब्द विधायक है एव कौन शब्द प्रतिषेधात्मक है तो इसका कोई प्रत्यक्ष उत्तर नही मिल पायेगा। यह प्रतिषेधात्मक है इतना ही पर्याप्त है। मिल यह कहते है कि वैधिक भाषा मे 'शिष्ट' शब्द 'अपराधी' 'पुरोहित' 'सैनिक' एव 'राजनैतिक' का उल्टा हे।"[1] इसका अर्थ यह होगा कि ।शेष्ट शब्द प्रतिषेधात्मक है। अगर यह किसी निषेध से युक्त हो तो इसका कोई अर्थ नही होगा। लेकिन यदि 'शिष्ट' प्रतिषेधात्मक हे तो हम क्यो न कहे कि सभी शब्द प्रतिषेधात्मक है, क्यो वह कहते है कि "प्रत्येक विधायक शब्द के लिए एक तदनरूप प्रतिषेधात्मक शब्द का निर्माण किया जा सकता है।"

और हम यह कभी नही जान सकते कि कोई शब्द विशेष विधायक उद्देश्य से बना है या प्रतिषेधात्मक। यह टिप्पणी अपने मे प्रतिषेधात्मक नामो के दिङ्नाग के सिद्धान्त के बीज से युक्त है। जे० एस० मिल कहते है कि "शब्दो का एक ऐसा वर्ग है जिसे अभाववाचक कहते है। अपने अर्थ मे ये एक विधायक एव एक प्रतिषेधात्मक दोनो के सम्मिलित आशय के समान होते है। यह किसी ऐसी वस्तु के नाम होते है जिनमे किसी गुण की उपस्थिति की आशा की जाती थी, लेकिन इसमे है ही नही। जैसे अन्धा" शब्द का तात्पर्य 'न देखने' के बराबर नही, क्योकि यह केवल ऐसी वस्तुओ के लिए व्यवहृत हो सकता है। जो दख सकते है अथवा देख सकते थे अर्थात जिनसे देखने की आशा थी।" इस टिप्पणी से यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी शब्द विधायक एव प्रतिषेधात्मक दोनो एक साथ होते है।

---

२५ – राय०, डा० राम कुमार बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्ट लाजिक–मूल लेखक एफ० टी० शेरबात्स्की। चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १६६६, पेज ५७७–५८३।

क्योंकि किसी न किसी प्रकार सभी अभाववाचक होते है। उपर्युक्त निष्कर्ष की बेन न दृढतापूर्वक स्थापना की जिसके परिणाम की आशा नही थी, यह हुआ कि उन पर हीगलवादी नास्तिकता मे पतित होने एव अनुभववादियो की आस्था के साथ विश्वासघात करने का आक्षेप किया गया। वास्तव मे उन्होने यह स्वीकार किया कि सभी शब्द एक साथ ही विधायक एव निषेधक होते है। यह कि ऐसी कोई विधि नही है जो साथ ही साथ निषेध भी न हो और न ऐसा कोई निषेध ही है जो साथ ही साथ विधि भी न हो। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वय अपने मे कोई विधि नही है और न स्वय अपने मे निषेध बल्कि प्रत्येक शब्द विधि के साथ–साथ निषेध भी करता है। यह दिङ्नाग के सिद्धान्त का ही साराश है एव प्रो० ए० बेन उस गर्त का अनुभव किये बिना ही उसमे गिर रहे है। इसी को स्वीकार करते है। उन्होने कभी भी यह विचार ही नही किया कि प्रतिषेधात्मकता ही इस सृष्टि की आत्मा है। उनका विचार था कि विधायक वस्तुए होती है एव प्रतिषेधात्मक भी तथा एक ही शब्द दोनो को अभिव्यक्त करता है। लेकिन यदि एक ही नाम विधायक एव साथ ही साथ निषेधात्मक दोनो की अभिधा है तब यह निश्चित करना असभव हो जाता है कि कौन सी वस्तुए विधायक है

---

२६ – सभवत लाभ (ऐसे बुक २, अ० ८'१–२) के अभाववाचक हेतुओ से विधायक विचारो द्वारा सूचित। ये 'वास्तविक विधायक' विचार होते है। यद्यपि इनका हेतु के उद्देश्य मे एक अभाव हो सकता है।

२७ – ब्रडले लाजिक२ पृष्ठ १५८

"यह निश्चित रूप से मनोरजन एव विधि की विडम्बना ही होती यदि अनुभववादी सम्प्रदाय हीगल की मौलिक त्रुटि कर बैठता। प्रो० बेन के 'सापेक्षता के नियम' ने जिसको जे० एस० मिल ने मान्यता प्रदान की है। कम से कम इसी दिशा मे बहक जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। हमारे ज्ञान की, जिस रूप मे यह है, दो गुणो के परस्पर प्रतिषेध के रूप मे व्याख्या की गई है। इनमे से प्रत्येक की एक विधायक सत्ता भी है। क्योकि अन्य की प्रतिषेध के रूप मे उपस्थिति है। (इमोशन्स पृष्ठ ५७१) । मै नही कहता कि प्रो० ए० बेन की इस अशुभ सूचक सूचित उक्ति का अर्थ वास्तव मे वही है जो वह कहते है किन्तु उन्होने इतना पर्याप्त कह दिया है कि वह इन्हे एक करार पर आकर खडा कर देता है यदि अनुभववादी सम्प्रदाय को तथ्यो का कोई ज्ञान था तो वे अवश्य यह जानते रहे होगे कि हीगल का अपराध त्रुटि मे नही बल्कि 'सापेक्षता' मे निहित था। एक बार प्रो० बेन के साथ यह कह दीजिए कि "हम केवल सम्बन्धो को ही जानते है" एक बार यह कहिए कि ये सम्बन्ध प्रतिषेध एव विधि के बीच होते है। तो आप अभिजात हीगलवाद के मुख्य सिद्धान्त को मान चुके होगे। एव कौन सी निषेधक। बेन २८ के अनुसार "वास्तव मे विधि एव निषेध को सदैव अपने स्थानो के परस्पर परिवर्तन के लिए तैयार रहना चाहिए। तब एक मात्र यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी निषेधात्मक है क्योकि सभी एक दूसरे के निषेधक है।

काण्ट एक तार्किक एव यथार्थ विरोध के बीच महत्वपूर्ण विभेद करते है। काट के अनुसार "तार्किक विरूद्धत्व मे, अर्थात विरोध मे केवल उसी सम्बन्ध पर ध्यान दिया जाता है जिसके द्वारा किसी वस्तु के विधेय परस्पर एक दूसरे को तथा विरोध के द्वारा निराकृत करते है।"इन दोनो मे कौन विधायक है एव कौन वास्तव निषेधक इस बात पर ध्यान नही दिया जाता। लेकिन प्रकाश एव अधकार, शीत–ऊष्ण का विरोध गत्यात्मक है। विरूद्ध के दोनो ही भाग यथार्थ है। यह विरूद्धत्व तार्किक विरोध नही है लेकिन यथार्थ अन्यत्व एव गत्यात्मक विरूद्धत्व है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी इसी मत को व्यक्त किया है।

---

२८ – लाजिक, १,५८।

२९ – तुकी० एसे० आन निगेटिव मैग्नीच्यूड्स पृष्ठ २६(कर्चमैन सस्करण) तुकी० किरी०।

३० – न्याबिटी० पृष्ठ ७० २२ ।

उनके अनुसार परस्पर परिहार सभी वस्तुओ को आवृत्त करता है। चाहे वह सत् हो या असत्। दूसरी तरफ गत्यात्मक विरोध केवल कुछ यथार्थ युग्मो मे ही रहता है। नील एव अनील के बीच विरोध तार्किक है। प्रथम द्वितीय का उतना ही प्रतिषेध है जितना द्वितीय प्रथम का। नील एव पीत के बीच, घट एव पट के बीच का विरोध केवल अन्यत्व मात्र है। धमोत्तर के अनुसार 'सभी परमाणु एक ही स्थान का ग्रहण नही करते किन्तु उनकी अवधि एक दूसरे के साथ हस्तक्षेप नही करती।'' ये सभी शातिपूर्वक निकट सान्निध्य मे उपस्थित रहते है।

काण्ट एव धर्मकीर्ति द्वारा इतने स्पष्ट रूप से विभेदित इन दो प्रकार के विरोधो को एक ओर बेन ने तथा दूसरी ओर हीगल ने सम्मिश्रित कर दिया। बेन[31] के अनुसार–''कोई यह मान सकता है कि एक कुर्सी एक निरपेक्ष तथा असम्बद्ध तथ्य है। जिससे कोई भी विरूद्ध, विपरीत या सहसम्बद्ध तथ्य निहित नही है। किन्तु स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है।'' इससे वह अ–कुर्सी भी अभिप्रेत है जिसका अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। इस तरह बेन के मत मे कुर्सी केवल अ–कुर्सी का प्रतिषेध है और अ–कुर्सी केवल कुर्सी का प्रतिषेध है। दोनो ही भाग एक दूसरे के प्रतिषेधक है।

स–उलरिचि एव लात्स के विचार

प्रो० उलरिचि 'प्रज्ञा' की 'आत्मा की विभेदात्मक क्रिया' के रूप मे परिभाषा करते है।[32] ये 'विभेदात्मक क्रिया' का प्रतिषेध से भेद करने के लिए बाध्य है। क्योकि अन्यथा आत्मा स्वयं प्रतिषेधित हो जायेगी और यह हीगलवाद है। उलरिचि[33] कहते है कि 'प्रत्येक भेद न केवल विषयो के परस्पर प्रतिषेध से वरन् उनके परस्पर एकत्व से भी युक्त होता है'' यह भी हीगलवाद है। यह इस प्रकार की सत्ता है जो साथ ही साथ अभाव भी है। लेकिन उलरिचि इससे आश्वस्त है कि वह हीगल के 'सत्ता मात्र' से मुक्त है। क्योकि उलरिचि स्वय कहते है कि[34]

---

३१ – लाजिक १६१ ।

३२ – उलरिचि काम्पेण्डियम उर लाजिक २ पृष्ठ ३३१

३३ – वही पृष्ठ ५६ ।

३४ – वी० ड० लाजिक, २४२।

हीगल के अनुसार–प्रत्येक वस्तु सर्वप्रथम इसलिए विद्यमान है क्योकि अन्य की भी सत्ता है। वह वही होती है जो वह अन्य के द्वारा, स्वय अपने अभाव के द्वारा होती है। द्वितीयत उसकी इसीलिए सत्ता होती है क्योकि अन्य की सत्ता नही है। वह वही है जो वह अन्य के अभाव द्वारा होती है। वह स्वय अपने स्वत्व मे प्रतिभास होती है।"[35] आप इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि दोनो पक्षो मे से प्रत्येक दूसरे के साथ अपने स्थान को परिवर्तित कर सकता है। उसे विधायक एव प्रतिषेधात्मक रूप से भी ग्रहण किया जा सकता है।[36] उलरिचि इस तथ्य से विदित है कि इस सिद्धान्त का अर्थ वास्तविक विधि की अस्वीकृति एव प्रतिषेधात्मकता के खड्ड मे पतित होना है। इसीलिए उलरिचि[37] इस तथ्य पर महत्व देते है कि "जब हम किसी वस्तु का विभेद करते है तो हम उसकी उतनी ही विधायक कल्पना करते है जितनी कि सत्ता की।" फिर भी यह सत्ता अपने को एक अ–सत्ता या अभाव के रूप मे व्यक्त करती है। उलरिचि वास्तविक रूप मे यह कहते है।[38] "जब हम लाल का नीले से विभेद करते है तो हम उसकी नीले के प्रतिषेध के रूप मे कल्पना करत है। किन्तु साथ ही साथ हम नीले की लाल के साथ विपरीत सम्बन्ध की भी स्थापना करते है। और नीले की लाल नही के रूप मे कल्पना करते हैं। इस प्रकार लाल एक घुमावदार मार्ग से नीले की परिधि द्वारा स्वय अपने से निहित रूप से सम्बद्ध होता है।" क्या यह एक बहुत कौतूहलवर्धक सत्ता नही है। जो स्वय अपने सत्व से 'अपनी अ–सत्ता की एक परिधि द्वारा सम्बद्ध है और क्या उलरिचि केवल हीगल के तर्को को ही दोहराते हैं हालाकि यह कल्पना करते हुए कि हीगल का प्रतिवाद कर रहे है ओर जब आप यह कहते हे कि प्रत्येक शब्द स्वय अपने 'अर्थात विधायक' अर्थ को विरूद्ध के प्रतिषेध अर्थात अनुपलब्धि' के द्वारा व्यक्त करता है तो क्या यह दिङ्नाग का ही तर्क नही है। उलरिचि "निश्चित लाल" रग का उदाहरण देते है एव कहते है[39]

---

३५ – वी० ड० लाजिक, २४२ ।

३६ – वही पृष्ठ ४३

३७ – वही पृष्ठ ६०

३८ – वही पृष्ठ ६०

३६ – वही पृष्ठ ६०

कि – क्योकि लाल जैसा कि लाल है। साथ ही साथ अ–नील, अ–पीत आदि हे अत केवल 'इन्ही प्रतिषेधो के द्वारा ' यह वह निश्चित रग है जिसे हम लाल कहते है।'' लाल की विधायकता नष्ट हो गई है। यह निश्चित है किन्तु निश्चित का अर्थ बोधगम्य, एव अनिवार्यत प्रतिषेधात्मक या अपोहात्मक है। हीगल की विशुद्ध सत्ता'' से बचने की इच्छा के विपरीत भी आप उसी खड्ड मे गिर पडते है। सिग्वर्ट'' ने उलरिचि की इस भयावह स्थिति का आकलन कर लिया था। इसीलिए वह कहते है कि ''वह सिद्धान्त जो यह मानता है कि कोई ज्ञान केवल विभेद के द्वारा ही निश्चित होता है। यह भूल जाता है कि स्वय विभेद भी केवल पहले से विद्यमान विभेदीकृत ज्ञानो के बीच ही सभव है।'' लाल का विज्ञान अथवा अधिक उपर्युक्तत एक निश्चित लाल का विज्ञान, आप आगे कहते है कि सर्वथा विधायक एव एक विशिष्ट विषय से युक्त होता है।''

---

४० – वही पृष्ठ ५६

४१ – लाजिक, १,३३३ नोट

४२ – इसका नि सदेह अर्थ है कि यह ''निश्चितता के द्वारा निश्चित होती है'' अथवा ''यह विभेदीकरण के द्वारा भिन्न होती है। भिन्न एव निश्चित का प्राय एक ही आशय है।

इसका तात्पर्य यह हे कि कुछ सर्वथा निश्चित, सर्वथा विधायक, अत्यन्त निश्चित लाल रग प्रज्ञा की ओर से किसी सहायता के बिना ही अथवा जैसा कि उलरिचि का कथन है कि आत्मा की विभेदीकरण की क्रिया की सहायता के बिना ही उच्चतम मात्रा मे विभेदीकृत है तब प्रज्ञा या तो अव्यवहृत रह जाती है या इसके उसी कार्य को फिर से करना होता है। जो अन्य लोगो ने पूर्व ही कर दिया। लात्स इसको 'विधायक विधि' कहते है। जिसे पूर्व मे उल्लिखित किया जा चुका है। आप कहते है कि यह स्थिति 'प्रत्येक अन्य के परिहार' से इतनी स्पष्ट रूप से एकीकृत है कि जब हम 'विधि के मात्र अर्थ' का निर्धारण करना चाहते है तो हम केवल ऐसी ही अभिव्यक्तियो द्वारा यह कार्य कर सकते है। जिनका अर्थ 'अन्यो का परिहार' अथवा प्रतिषेध है इस विधि को केवल प्रतिषेध के रूप मे ही अभिव्यक्त किया जा सकता है। क्या यह फिर दिड्नाग की इसी प्रतिज्ञा के समान नही है कि शब्द विद्ध के प्रतिषेध के द्वारा ही अपने अर्थ को अभिव्यक्त करता है। लात्स के अनुसार "यह विधि एव यह निषेध एक अपृथक्करणीय विचार है।" यह हीगल के इस कथन के समान नही है कि विधि एव निषेध दोनो एक ही है।"

---

४३ – लाजिक२ '११, पृष्ठ २६'।

४४ – वही पृष्ठ २६

४५ – वी० ड० लाजिक, २५४।

प्रक्रियाओ के मध्य नही, बल्कि किसी विज्ञान की नवीनता एव एक विकल्प की सामान्यता के बीच हे जिसको लाक 'स्पष्ट विचार' कहते है उसे यहा निश्चित वस्तु कहा गया हे। जिसको लाक ''व्यवच्छिन्न'' कहते है उसको यहा 'अपरिच्छिन्न' कहा गया हे। 'परिच्छिन्न' की अभिव्यक्ति की तरह अस्त–व्यस्तता सस्कृत शब्द ''नियत' एव 'अनियतप्रतिभास' के मध्य भी मिलती है।[५०]''

४६ – तुकी० ऊपर पृष्ठ ५५५

४७ – नीलम् विजानाति, न तु नीलम् इति विजानाति।' तुकी० प्रत्तमु० वृत्ति, १४ ।

४८ -- एसे, बुक ३, अध्या० २६, (४)

४६ – लाजिक १, पृष्ठ XXIX ।

५० – तुकी भाग २ का इण्डेक्स एव नियत शब्द पर टिप्पणी।

विज्ञान अपनी अद्वितीयता मे परिच्छिन्न होता है एव आकार अपनी सामान्यता मे परिच्छिन्न होता है। विभेद को स्पष्ट (विज्ञान) एव अस्पष्ट (आकार) द्वारा, या सत् विशेष एव 'शुद्ध' सामान्य द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस प्रसग मे 'सत्' एव 'शुद्ध' शब्दो का अर्थ 'परमार्थ' या अनुभवातीत हे। अपनेतल मे यह इन्द्रियो एव प्रज्ञा के मध्य एक तुच्छ विभेद है एक विभेद मात्र जिसके पूर्ण महत्व का सबसे पहले रीड ने अनुभव किया था, लेकिन उनके उत्तराधिकारियो ने इसकी उपेक्षा कर दी। इसका इसके अनुभवातीत श्रोत तक काण्ट ने अनुसरण किया, लेकिन फिर इनके भी उत्तराधिकारियो ने इसकी उपेक्षा कर दी।

सिग्वर्ट के अनुसार ऐसी विधि जो प्रतिषेध का आधार है वह "वस्तु की स्वय अपने मे आवृत्त विशेषता एव अद्वितीयता है।" लात्स के अनुसार प्रत्येक नाम मे एक 'विधायक स्थिति' होती है।" जोन्स का कथन है कि प्रत्येक प्रत्यक्ष मे वैयक्तिक वस्तु की मूर्तता एव विशेषता " का प्रत्यक्ष "विशेष की विशेषता विशेष" से ज्यादा कोई मतलब नही है। यह द्विविध एव त्रिविध अभिव्यक्तिया उस भावना की ओर इशारा करती है। जो असाधारण रूप से विशेष एव "अन्यत्व के किसी भी लेश" से रहित किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए इन लेखको के मन मे रहती है।[51]

---

५१ – राय, डा० राम कुमार बौद्ध न्याय (बुद्धिष्ट लाजिक मूल लेखक एफ० टी० शेरबात्स्की),चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी पृष्ठ ६०२–६०६ ।

द – सिग्वर्ट के विचार

सिग्वर्ट[52] के अनुसार "इस सिद्धान्त को कि सभी वस्तुए हा एव नही से सत्ता तथा अभाव से युक्त रहती है" सर्वप्रथम थामस कैम्पानेला ने अभिव्यक्त किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी निश्चित वस्तु की उतनी ही सत्ता होती है जितनी कि वह अन्य नही है। यह मनुष्य है'– यह विधायक है। लेकिन यह इसलिए कि मनुष्य है क्योकि यह न तो पाषाण है, न तो सिह है न गर्दभ है आदि। सिग्वर्ट इस मत को नही मानते है क्योकि यह पूर्ण हीगलवाद का मार्ग प्रशस्त करने वाली एक खतरनाक नास्तिकता है। क्योकि यह तर्क एव यथार्थता की अस्तव्यस्तता से परिपूर्ण है। लेकिन आप मानते है कि तब वह प्रतिषेध की व्याख्या करने मे असमर्थता अनुभव करते है। सिग्वर्ट[53] कहते है कि "प्रश्न इस बात का है कि हमे यथार्थता के ससार के ज्ञान के लिए उन आत्मनिष्ठ परिधियो की क्या आवश्यकता है जिनमे हमारे प्रतिषेधात्मक विचारो के कोई भी प्रतिरूप ढूढे नही जा सकते है।" इस प्रश्न का कोई भी जवाब नही दिया गया है। सिग्वर्ट प्रत्यक्षत प्रतिषेधात्मकता के मूल्य पर हीगलवाद को मान लेते है। सभी नामो को विधायक होना चाहिए क्योकि प्रतिषेधात्मक नामो का कोई प्रतिरूप नही ढूढा जा सकता। अब इसके बाद प्रश्न उठता है कि क्या आसवादित्व की प्रतिषेध द्वारा व्याख्या की जा सकती है। मनुष्य की प्रत्येक 'अ–मनुष्य एक ही वस्तु दोनो एक साथ नही हो सकती। लेकिन अरस्तू का अ–मनुष्य वास्तविक नही है।[54]

---

५२ – लाजिक, १९७१ ।

५३ – वही

५४ – सिग्वर्ट काण्ट के असीम निश्चय पर व्यग करते हुए उसे हास्यास्पद बताना चाहते है (वही पृष्ठ १८२–१८५) लात्स क्रोधपूर्वक इस पर आक्रमण करते है। (लाजिक २ पृष्ठ ६२)१ किन्तु एम० कोहेन इसका पक्ष लेते है। (लाजिक पृष्ठ ७४) बौद्धो के दृष्टिकोण से असीम निश्चय के विरूद्ध समस्त अपभाषणो को इस बात के सकेत द्वारा त्याग दिया गया है कि 'अ–क' उसी मात्रा मे यथार्थ है जिस मात्रा मे 'क'। क्योकि ऐसा कोई 'क' नही है जिसका '–अ–क' से निहित अन्तर न हो। दोनो ही अपोहात्मक है साथ ही 'क' भी उतना ही असीम है जितना 'अ–क'। यह निश्चय कि "यह श्वेत है" दो असीमताओ के बीच विभाजन रेखा को व्यक्त करता है। इसे सिग्वर्ट परोक्ष रूप से उस समय मानते प्रतीत होते है। जब वह कहते है कि "श्वेत" को सीमित करना चाहिए अन्यथा यह असीम हो जायेगा। तुकी० वही, पृष्ठ १८२।

इसका तात्पर्य है कि मनुष्य को छोडकर वाद के विश्व का सब कुछ है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य का आकार अनुपस्थिति स्वय अपने मे अन्य आकार नही है।" इस तरह 'अ–क' के यथार्थ न होने के कारण सिग्वर्ट इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि उन सभी वस्तुओ के मध्य कोई विरूद्धत्व नही है जो क' एव 'अ–क' के अन्तर्गत सम्मिलित है इनका एक दूसरे के निकट बिना किसी सघर्ष के ही सहअस्तित्व हो सकता है। इनको एक उद्देश्य का विधेय नही बनाया जा सकता। इसकी सत्यता अनुभव द्वारा ज्ञात है जिसकी प्रतिषेध द्वारा व्याख्या नही की जा सकती। इस तरह सिग्वर्ट प्रतिषेध का विसर्जन करके हीगलवाद के खतरो को मान लेते है।"[५५] 'मनुष्य' नाम विशुद्ध विधायक है एव इसमे कोई प्रतिषेध नही है एव 'अ–मनुष्य' नाम सर्वथा कुछ नहीं है।[५६]

---

५५ – राय, डा० राम कुमार बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्ट लाजिक मूल लेखक एफ० टी० शेरबात्स्की' चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६६, पृष्ठ ५८७–५८८ ।

५६ – सिग्वर्ट प्रत्यक्षत. यह सोचते है कि मनुष्य एवं सिह के विकल्पो मे उसी समय परस्पर विरोध होगा जब सिह मनुष्य पर आक्रमण करके उसका भक्षण कर जायेगा

सिग्वर्ट के मत मे एक ऐसी स्थिति है।[57] जहा 'प्रतिषेध के द्वारा विरोध की उत्पत्ति को अस्वीकार करना असम्भव प्रतीत होता है।'' अभाव वाचक नाम ऐसे ही है।[58] '' क्या इसके अतिरिक्त कि 'अन्धता' का अर्थ 'न देखना' है, अन्य किसी प्रकार देखने एव अन्धता के बीच सम्बन्ध को अभिव्यक्त करना वास्तव मे सभव है?'' ''अन्धता'' तब दृष्टि का मात्र अभाव होगा एव प्रतिषेध द्वारा उत्पन्न विरोध से मुक्त होगा। तब एक ही बात होगी कि चाहे हम यह कहे कि वह देखता नही' या ''वह अन्धा है''। इस तरह देखने का अर्थ होगा ''अन्धता नही'' एव अन्धता का अर्थ होगा 'न देखना'। कम से कम कुछ नाम स्वय अपने मे प्रतिषेधक होगे एव तब हीगलवाद का सकट पुन आसन्न होगा। सिग्वर्ट[59] के अनुसार ''ऐसा नही है'' इसकी स्थापना के लिए किसी प्रमाण की जरूरत नही है। यदि मनुष्य नही देखता तो यह कारण नही बताया जाता कि वह नही देखता। लेकिन यदि यह कहा जाय कि वह अन्धा है। तब इससे यह सूचित होता है कि वह सयत्र जिससे वह देख सकता था नष्ट हो गया है।'' मनुष्य प्रत्यक्षत, ध्यान की कमी या दूरी के कारण भी अपनी दृष्य शक्ति के हास के बिना ही देखने मे असमर्थ हो सकता है। तब वह 'नही देखता होगा' किन्तु अन्धा नही होगा।

सिग्वर्ट जैसे सूक्ष्म बुद्धि–तर्कशास्त्री। यहा यह गलती कर बैठे कि कोई मनुष्य एक साथ ही और एक ही आशय मे 'अन्ध' एव 'अ–अन्ध' दोनो नही हो सकता है। किन्तु वह भिन्न समयो मे एव भिन्न आशयो मे भली भाति 'अन्ध' एव 'अ–अन्ध' हो सकता है। तब वास्तविक रूप मे देखना एव अन्धता एक दूसरे को निराकृत नही करेगे।

---

५७ – वही पृष्ठ १८५।

५८ – यहा सिग्वर्ट प्रत्यक्षत जे० एस० मिल लाक के द्वारा आरम्भ विवाद को अपना विषय बनाते है।

५६ – वही पृष्ठ १८६ ।

नही तो ये दोनो निश्चित रूप से एक दूसरे को निराकृत करने वाले है या दोनो ही विधायक एव दोनो ही प्रतिषेधक है। इस तरह यह स्थापना करने के पश्चात कि अभाववाचक नाम वास्तव मे विधायक होते है। सिग्वर्ट इस अगले स्तर की स्थापना करने के लिए भी बाध्य है कि कोई निषेधक नाम ही नही होते बल्कि सभी विधायक होते है। वास्तविक रूप मे वह कहते है" कि "समस्त निषेध का केवल निश्चय के क्षेत्र मे ही कोई अर्थ होता है।" 'अ–क' सूत्र का कोई अर्थ ही नही है। तार्किक विभाजन के अवयव, वह बाते जिन्हे एक सामान्य धारणा के अन्तर्गत रखा जाता है। परस्पर परिहार होती है। इसलिए यह निश्चय स्वाभाविक है कि प्रत्येक स्वय अपने मे अन्य के निषेध को सम्मिलित रखता है। लेकिन सिग्वर्ट[१] के मतानुसार–"यह एक भ्रान्ति है। यह सोचना भ्रान्ति है कि काला एव श्वेत, तिरछा एव सीधा, आदि इन सबमे एक दूसरे के प्रति एक ऐसी स्वाभाविक आक्रामकता होती है जैसे – ये एक ही पिता के पुत्र हो।' सिग्वर्ट इस तथ्य को मानते है कि एक विपरीत एव एक विरूद्ध विरोध – अन्तिम तब जब विभाजन तीन या अधिक भागो मे होता है।' किन्तु यह केवल निश्चयो मे होता है। नाम विरोधी नही होते सीधा एव तिरछा होता है। लेकिन कोई सीधा एव अ–सीधा नही होता क्योकि 'अ–क' सूत्र का कोई अर्थ नही है।

---

६० – वही पृष्ठ १८१ ।

६१ – वही पृष्ठ १८० ।

६२ – यह कौतूहलवर्धक है कि दिङ्नाग (प्रसमु० श्लो० २३५)

६३ – वही पृ० ३६८।

फिर भी सर्वथा ऐसा नही होता। पुरूष एव स्त्री, दाहिना एव बायॉ, ये सब विरूद्ध होने के अतिरिक्त वास्तविक युग्म है। किन्तु मनुष्य एव अ–मनुष्य केवल एक तार्किक मात्र विरूद्धत्व है। इसी दिशा मे प्रयास करते हुए सिग्वर्ट यह मानने के लिए बाध्य होते कि उपस्थिति होती है लेकिन अनुपस्थिति नही, अभाव नही सब कुछ सत्ता ही है। इस तरह बिना इस बात पर ध्यान दिये ही वह दूसरी ओर से हीगलवाद मे गिर पडे होते। इस सिद्धान्त का विषयात्मक यथार्थता मे कोई प्रतिषेध नही है, फल वही है जो कि इस सिद्धान्त का कि इसमे प्रतिषेध के अलावा और कुछ नही है।' २७' अपने उस मत की व्याख्या के लिए इसी उदाहरण को लेते है जो सिग्वर्ट के मत के ठीक विपरीत है। इनका तात्पर्य यह है कि सामान्य धारणा के प्रकार एक दूसरे के उसी प्रकार विरोधी है जिस प्रकार "एक राजा के पुत्र राजा की मृत्यु के बाद उस राज्य के लिए पुत्रो मे सघर्ष होता है। जो सबकी समान सम्पत्ति है। एक पुत्र कहता है कि 'यह मेरा है' और दूसरा भी यही कहता है। जिसके परिणामस्वरूप गृहयुद्ध छिड जाता है। इसी प्रकार शिशिपा एव पलाश तथा अन्य वृक्ष सामान्य वृक्षत्व की समान सम्पत्ति के लिए सघर्ष करते है। यह झगडा नि सदेह, तार्किक या कल्पित होता है यथार्थ नही। यह ऊष्ण एव शीत अथवा प्रकाश एव अधकार जैसी दशाओ मे यथार्थ प्रतीत हो सकता है, किन्तु ये जैसा कि धर्मकीर्ति द्वारा सिद्ध हो चुका है, हेतुत्व की अव्यवस्थाये है, तार्किक विरोध की नही।

इस समस्या पर भारतीय मत निम्नलिखित है–

(१) – सभी निश्चित वस्तुए प्रतिषेधात्मक होती है। निश्चित का अर्थ प्रतिषेधात्मक है।

(२) – ये (अ) विरूद्ध की साक्षात् एव (ब) विपरीत की परोक्ष रूप से प्रतिषेध होती है।

(३) – ये स्वाय अपने प्रतिषेध की प्रतिषेधात्मकता के रूप मे ही विधायक हो सकती है।

(४) – विधिरूप केवल स्वलक्षण ही होता है।

(५) – अन्य सब वस्तुए 'अन्य मे निहित वस्तुए' अर्थात किसी अन्य की प्रतिषेध की प्रतिषेधक होती है। इस प्रतिषेध के बिना ये कुछ नही होती।

(६) – साक्षात् विरोध 'प्रतिषेध' एक ही वस्तु के भाव एव अभाव के बीच होता है।[२८]

(७) – परोक्ष विरोध निश्चित वस्तुओ के किसी भी युग्म के बीच इस दृष्टि से हो सकता है कि एक वस्तु अनिवार्यत दूसरी के अभाव के अन्तर्गत सम्मिलित होती है।'

(८) – प्रत्येक वस्तु सर्वप्रथम उसी सामान्य के अन्तर्गत निहित प्रकारो को व्यावृत्त करती है।

---

६४ – स्वभाव मे कोई वास्तविक प्रतिषेधत्व नही है एव वस्तुओ की असगति एक परमार्थ तथ्य है जिसकी प्रतिषेध से व्याख्या नही की जानी चाहिए बल्कि उसे केवल अनुभव से ही एकत्र करना चाहिए–इन बातो की स्थापना की इच्छा से सिग्वर्ट सर्वथा असम्भव स्थापनाये करने की शीघ्रता करते है। वह कहते है कि (लाजिक, १,१७६) "हम अपनी दृश्य शक्ति के एक सगठन की कल्पना कर सकते है जो हमारे लिए विभिन्न रगो मे रगे एक ही पट को देखना सभव बना सकती है।" यदि जो कुछ कहा गया है वही सिग्वर्ट का आशय है, यदि उनका आशय यह है कि एक ही वस्तु एक ही साथ नीली एव पीली या नीली या अ–नीली भी हो सकती है–और इसके अतिरिक्त उनका और आशय भी क्या हो सकता है? तो हीगलवाद से बचाने के लिए वह जो मूल्य चुकाते है। वह न केवल प्रतिषेध का त्याग ही है वरन् स्वय तर्क का त्याग है। उनका विचार है कि नील एव अ–नील असीम एव अयथार्थ है और नील एव पीत मे भी कोई विरोध नही है, क्योकि दोनो ही शाति पूर्वक एक दूसरे के पास विद्यमान रह सकते है।

६५ – न्याबिटी० पृष्ठ ७०५ भाव–अभावयो. साक्षाद्विरोध ।

६६ – वही वस्तुनास् तु अन्योन्य–अभाव–अव्यभिचारितया विरोध

६७ – प्रसमु० अ० ५.२७ ये सभी किसी गृह युद्ध मे राजा के पुत्रो के समान होती है।

(९) – अन्य सभी वस्तुए उन सामान्यो के परस्पर परिहार के द्वारा व्यावृत्त होती है जिनके अन्तर्गत वे निहित होती है।

(१०) – यह साक्षात् एव परोक्ष विरोध 'अथवा अन्यत्व' लाक्षणिक है।'[६९] यह तादात्म्य को तो वचित करता है किन्तु शातिपूर्ण सहअस्तित्व को नही।''[७०]

(११) – एक गत्यात्म्क विरोध भी होता है जैसे कि शीत एव ऊष्ण के बीच।''[७१] यह वास्तव मे हेतुत्व[७२] होता है एव ऊष्ण तथा अ–ऊष्ण के लाक्षणिक विरोध मे हस्तक्षेप नही करता। लाक्षणिक विरोध इनके तादात्म्य का निवारश करता है एव गत्यात्मक इनकी सहावस्था का।[७३]

(१२) – एक ही अधिष्ठान के दो गुण केवल व्यावृत्ति की न्यूनता या अधिकता के द्वारा ही भिन्न होते है।[७४]

---

६८ – वही अ० ५ २८ ''शिशिपा शब्द घट को साक्षात व्याकृत्त क्यो नही करता ? क्योकि कोई सजातीय नही है।'' किन्तु घट मिट्टी के पात्रो के सामान्य के अन्तर्गत आता है और शिशिपा वृक्ष सामान्य के अन्तर्गत और ये दोनो पुन 'पार्थिवत्व' सामान्य के अन्तर्गत आते है। अत शिशिपा घट को उसी प्रकार व्यावृत्त करता है। 'जिस प्रकार किसी मित्र के शत्रु को'' साक्षात नही।

६९ – न्याबिटी पृष्ठ ७० ७३ 'लाक्षणिकोऽयम् विरोध ।

७० – वही पृष्ठ ७० २० 'सत्य अपि च अस्मिन विरोधे सहावस्थानाम् स्यादऽपि।'

७१ – वही पृष्ठ ७० २२ 'वस्तुन्य एव कतिपये।'

७२ – वही पृष्ठ ६८ ६ यो यस्य विरूद्ध स तस्य किचित्कर एव विरूद्धो जनक एव।

७३ – वही, पृष्ठ ७०,२०· ''एकेन विरोधेन शीतोष्णचोर एकत्वम् वार्यते, अन्येन सहावस्थानम्।''

७४ – प्रसभु ०५ २८।

(१३) -- विरोध केवल निश्चित विकल्पो के बीच हो सकता है। सर्वथा अनिश्चित वस्तु स्वलक्षण तथा साथ ही साथ विज्ञान मात्र का क्षण दोनो ही विरोध के नियम की पहुँच के बाहर है। ये अ–अपोहात्मक होते है। 'ये समस्त विभेद को अर्थात समस्त विरोध को वर्जित करत है। वास्तविक रूप से तृतीय प्रकार अभावी एव परस्पर परिहारी दो विकल्पो के मध्य लाक्षणिक विरोध होता है एव दूसरी ओर अन्यत्व मात्र अथवा गत्यात्मक विरोध होता है। जो मध्यवर्ती सदस्यो को स्वीकार करता हे और जिसम विराधी भाग एक दूसरे के प्रतिषेध को प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्त नही करत। जे० एस० मिल एव सिग्वर्ट दोनो दार्शनिको का मत है कि "दु खकर" विधायक है। यह सुखकर का प्रतिषेध मात्र नही है और 'अन्धता' भी ऐसा ही है। लेकिन ये भूल जाते है कि एक ही तथ्य एक ही समय एव एक आशय मे दु खकर एव सुखकर नही हो सकता। अगर दु खकर अ–सुखकर से कुछ अधिक है तो ऐसा इसीलिए है क्योकि अ–सुखकर आगे भी मात्र असुखकर एव दु खकर मे उपविभाजित है जो मात्र अ–सुखकर से अधिक है। विरोध सदैव एक पूर्ण द्वैधत्व होता है। हम किसी युग्म के एक भाग का समर्थन करते है या दूसरे का विरोध दोनो एक ही है। स्थिति उस समय बदलती है जब विभाजन पूर्ण द्वैधीकरण नही बल्कि तीन या अधिक भागो मे विभाजन होता है। नील एव अ–नील एक दूसरे के विपरीत है, नील, अ–नील नही है एव अ–नील नील नही है। लेकिन नील एव पीत परोक्ष रूप से ही विरूद्ध है। नील के प्रतिषेध का तात्पर्य पीत का विधान नही है एव न पीत के प्रतिषेध का अर्थ नील का विधान। पीत अ–नील के अन्तर्गत आता है तथा केवल इसी कारण इसका नील के असवादित्य है। इसी तरह नील अ--नील नही है एव अन्ध अ–अन्ध नही है एव एक गो अ–गो नही है तथा एक वृक्ष अ–वृक्ष नही है आदि। सभी शब्द इस अर्थ मे प्रतिषेधात्मक है।

अत· नील एव पीत असवादक है। जिस प्रकार अभी उल्लेख किया गया है। पीत अ–नील मे सम्मिलित है एव नील अ–नीत मे। लेकिन वृक्ष एव शिशिपा असवादक नही है। क्योकि शिशिपा अ–वृक्ष मे सम्मिलित नही है। अत· इनमे बौद्धदार्शनिको के तादात्म्य नियम के आशय मे तादात्म्य है। असवादित्व की अनुपलब्धि एवं विरोध के नियम द्वारा पूरी तरह व्याख्या हो जाती है।" सब निश्चत वस्तुएं हा या ना मे होती है। लेकिन क्या इसका यह तात्पर्य है कि बौद्ध हीगलवादी नास्तिकता मेप पतित हो गये हे? माध्यमिक तो निश्चित रूप से हो गये है, लेकिन नैयायिक नही हुए है।"

इस बात के कोई नियम नही दिये जा सकते कि क्यो कुछ गुणअसवादक होते है। इनको एक साथ एक उद्देश्य का विरोध नही बनाया जा सकता, किन्तु इसकी प्रतिषेध द्वाराव्याख्या नही

की जा सकती। यह एक परमार्थ सत् है। बौद्धो के अनुसार यह सदेव ही अनिवार्यत विरोध क नियम के अन्तर्गत आता है। अरस्तू के समय से ही तर्कशास्त्र मे प्रतिषध के दो आधारो का विभेद किया गया हे—एक अभावार्थकता तथा दूसरा असवादित्व। प्रथम, प्रत्यक्षत वास्तविक अनुपलब्धि निश्चय 'अ—प्रत्यक्ष' का निश्चय जो सविकल्प निश्चय के अनुरूप है। जैसे—इस प्रकार का निश्चय कि 'यहा कोई घट नही है 'क्योकि हमे किसी का प्रत्यक्ष नही हो रहा है'' दूसरा प्रतिषेधात्मक व्याप्ति या व्यतिरेक है जो दो विकल्पो 'अथवा विधेयो' और एक निषेधक योजक से युक्त होता है। यह बाद वाला विरोध के नियम पर आधारित है। और इसीलिए इसे स्वय सिग्वर्ट के वक्तव्य के अनुसार। दो निश्चयो के बीच असवादित्व मानना चाहिए। जिस प्रकार विधायक निश्चयो की दशा मे हमने मुख्य निश्चय 'एक विकल्प से' और व्याप्ति निश्चय 'दो विकल्पो के बीच' के बीच के अन्तर की स्थापना की है। और जिस प्रकार 'है' क्रिया का प्रथम दशा मे अर्थ सत्ता है एव दूसरी दशा मे 'योजना' ठीक उसी प्रकार हमे प्रतिषेधात्मक पक्ष मे भी इसी अन्तर की स्थापना करते है।

---

७५ – न्याबिटी पृ० ७०७ 'न तु अनियत क्षणिकत्वात् (क्षण=स्वलक्षण=विधिस्वरूप =प्रत्यक्ष=परमार्थसत्)

७६ – सिग्वर्ट के अनुसार (वही पृ० १७६)

७७ – राय, डा० राम कुमार बौद्ध न्याय 'बुद्धिस्ट लाजिम मूल लेखक एफ० टी० शेरबात्स्की' चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १६६६, पृ० ५८६—५६४ ।

अष्टम् अध्याय

अपोहवाद की समीक्षा

अष्टम् अध्याय

अपोहवाद की समीक्षा

शातरक्षित शब्द के अर्थ से सम्बन्धित निम्नलिखित सिद्धान्तो की समीक्षा करते है। समीक्षा के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि इन छह सिद्धान्तो मे कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जो स्वलक्षण का बोध कराने मे समर्थ हो। यह सिद्धान्त निम्नलिखित है–

१ समुदाय सिद्धान्त

२ असत्य ससर्ग सिद्धान्त

३ असत्योपाधि सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त

४ अभिजल्प सिद्धान्त

५ अध्यारोपण सिद्धान्त

६ प्रतिभा सिद्धान्त

(१) **समुदाय सिद्धान्त** – समुदाय सिद्धान्त[1] के अन्तर्गत शब्द से वस्तुओ का बोध होता है। लेकिन उस समुदाय की वस्तुओ के व्यष्टिरूप या समष्टिरूप का स्पष्ट रूप से कुछ भी बोध नही होता। शब्द का वाच्य जाति, आकृति एव व्यक्ति न होकर इन सभी का समुदाय होता है। यह समुदाय विकल्प एव समुच्चय से रहित होता है क्योकि बुद्धि मे आकारो तथा रूपो की सख्या निश्चित नही होती है। शब्द का अभिधेय "आकार समुच्चय मानने पर बहुवचन शब्द का प्रयोग करना पडेगा, क्योकि अभिधेय मे विभिन्न आकार सम्मिलित रहते है। इसलिए शब्द का वाच्य विकल्प एव समुच्चय के अलावा समुदायमात्र है।

---

१ – समुदायोऽभिधेयो वाऽप्य विकल्प समुच्चय । असत्यो वाऽपि ससर्ग शब्दार्थ कश्चिदुच्यते।। तत्वसग्रह ८८७ ।

२ – "समुदायोऽभिधेय रथाद अविकल्प समुच्चय ।"शर्मा, रघुनाथ पूर्वोद्धृत वाक्यपदीय २/१२७

समुदायाभिधेयवादियो के मतानुसार विभिन्न व्यक्तियो मे एक समुदायी की धारणा 'विकल्प' है तथा विभिन्न व्यक्तियो की एक साथ प्रतीति या स्वरूपावधारणा 'समुच्चय' है। समुदाय मे अवयवी एव अवयव दोनो का अवभास होता है। ऐसी परिस्थिति मे समुदाय मे निहित विकल्प को व्यक्त करने के लिए कभी एक वचन प्रयुक्त होता है कभी बहुवचन प्रयुक्त होता है। इसी तरह 'समुदाय' को 'समुच्चय' मानने पर भी एक वचन या बहुवचन का प्रयोग करना पडेगा क्योकि समुच्चय मे भी अनेक आकारो का समावेश होता है।[3] इसलिए विकल्प तथा समुच्चय से रहित 'समुदाय' शब्द का अभिधेय है क्योकि 'समुदाय' को अभिधेय स्वीकार करने पर उसके अन्तर्गत आने वाले विभिन्न व्यष्टिरूप व्यक्तियो या समष्टिरूप सामान्य की प्रतीति नही होती है। 'ब्राहमण' शब्द का सम्बोधन करने पर न तो तप, जाति, श्रुति आदि का भिन्न–भिन्न विकल्प रूप मे बोध होता है एव न तप,जाति एव श्रुति के समुच्चय के रूप मे बोध होता है। बल्कि इन सभी का व्यवच्छेद किये बिना सगत रूप मे प्रतिपत्ति होती है या विकल्प एव समुच्चय के बिना समुदाय का बोझ होता है। इसी तरह 'वन' शब्द के सम्बोधन पर न तो धव, खदिर, पलाश आदि का भिन्न–भिन्न रूप मे वैकल्पिक रूप मे बोध होता है। एव न धव, खदिर, एव पलाश के समुच्चय के रूप मे बोध होता है। क्योकि 'वन' इनके अलावा अन्य वृक्षो का भी समुदाय होता है। इसीलिए 'वन' के सम्बोधन करने पर समुदाय रूप सामान्य मात्र का बोध होता है। इसलिए विकल्प एव समुच्चय से रहित समुदाय शब्द का अभिधेय है।

---

३ – "तत्र बहुष्वनियतैक समुदयि भेदावधारणम=विकल्प=एकत्र युगपदभिसम्बन्ध्यमानस्य नियतस्यानेकस्य स्वरूपभेदावधारणम्=समुच्चय ।" शास्त्री, द्वारिका दास पूर्वो० पृ० ३५०

(२) असत्य ससर्ग सिद्धान्त

असत्य ससर्ग शब्द का वाच्यार्थ 'असत्य भूत सम्र्ग हे। यह ससर्ग असत्य होता हे जबकि ससर्गयुक्त पदार्थ सत्य होता है। इस सिद्धान्त मे वस्तु एव उसके धर्म जैसे जाति, वर्ण एव कर्म के बीच सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध वस्तु से अलग नही होता है। अत यह सम्बन्ध असत्य होता है। इसलिए शब्द असत्यससर्ग या सम्बन्ध का अभिधायक होता है। घट आदि वस्तुओ का जाति–गुण–क्रिया से ससर्ग होता है। यह ससर्ग 'घट' वस्तु के बिना नही होता है। यह भी कहा जा सकता है कि ससार की सभी वस्तुए द्रव्य, गुण,क्रिया एव जाति -रूप होने के कारण अनित्य एव असत्य होती है। इसलिए शब्दार्थ भी असत्य होता है। 'घट' शब्द का वाच्य 'घट' व्यक्ति एव 'घट' जाति के बीच का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध 'घट' व्यक्ति एव 'घट' जाति से अलग नही होता है। इसलिए यह असत्य होता है। यह ज्ञात है कि वेदान्त दर्शन भी 'सम्बन्ध (समवाय) को पृथक रूप से सत नही मानता है।

---

४ – ननु यदि आकार समुदाय समुच्चित एव प्रत्याययतिर्हि बहुवचन एव तत्र स्याद। अथ विकल्पित प्रत्याय्यति तदा वचनविकल्प स्यात्।" शर्मा,द० ना० पूर्वो० वाक्यपदीय, पुण्यराज २/१२७

५ – "केचिद ब्राहमणादि शब्दैस्तपोजाति श्रुतादि समुदायो बिना विकल्पसमुच्चयामयाम– भिधीयत इत्याहु,यथा वनादिशब्दैवर्धवादय इति।"शास्त्री,द्वारिकादास तत्वसग्रह पञ्जिका, पृष्ठ ३५०

६ – "असत्योवापि ससर्ग शब्दार्थ कैश्चिदिष्यते।" शर्मा, र० ना० पूर्वो० वाक्यपदीय, २/१२८

७ – शास्त्री, गौरीनाथ पूर्वो० पृष्ठ १६५

असत्य ससर्गवादियो के मतानुसार ससर्ग या सम्बन्ध वस्तुधर्म रूप नही होता है। शब्द से वस्तु का न तो व्यष्टिरूप मे बोध होता है एव न सम्बन्ध से समन्वित रूप मे बोध होता है बल्कि समुदाय रूप मे बोध होता है, यह समुदाय ही सम्बन्ध रूप होता है। क्योकि द्रव्यत्व, कर्मत्व गुणत्वरूप, अमूर्त एव अनिश्चित प्रत्ययो का द्रव्य के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध अलातचक्र के समान असत्य रूप मे प्रतीत होता है। इसलिए सम्बन्धी रूप 'सम्बन्ध' असत्य रूप मे शब्द का अभिधेय होता है। जिस तरह अलातचक मे भिन्न–भिन्न प्रतिभास एकत्वरूप मे प्रतीत होता है उसी तरह मेचकवर्ण की प्रतीति होती है। तप, श्रुति आदि अलग–अलग होते हुए भी समुदाय रूप मे शब्द का अभिधेय होते है। ये उपाधिया भिन्न है किन्तु मेकवर्ण की तरह एकत्वरूप मे भासित होती है। वस्तुत ये उपाधिया न अकेले प्राप्त होती है न समन्वित रूप मे इसी वजह से इनकी प्रतीति असत्य ससर्ग होती है। यह असत्य ससर्ग ही शब्द का वाच्य है।

(३) असत्योपाधि सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त

असत्योपाधिसत्य का मुख्यार्थ असत्य उपधि से विचित्रत सत्य है। क्योकि शब्द का सम्बन्ध उसी साथ होता है। इस सिद्धान्त मे शब्द का अभिधेय सत्य होता है। लेकिन वह असत्य उपाधियां से सम्बन्ध होने की वजह से असत्य प्रतीत होता है। वैसे सत्य ही असत्य उपाधियो से विचित्रित होकर शब्द का वाच्य होता है।

---

८ – "द्रव्यत्वादिभिरनिर्धारित रूपैर्य सम्बन्धो द्रव्यादीना स शब्दार्थ, स च सम्बन्धिना शब्दार्थत्वेना सत्यत्वाद सत्य इत्युच्यते।" उपरिवत, पृष्ठ १६५

९ – असत्योपाधि यत्सत्य तद्वा शब्दनिबन्धनम्। सत्यमेवा सत्योपाधि विचित्रितम शब्दवाच्यम्।। शर्मा, रघुनाथ वाक्यपदीय २/१२८,पूर्वोद्धृत।

इस मत के अनुसार शब्द का अभिधेय असत न होकर असत्य उपाधियो से समवेत सत है? लेकिन शब्द सत का साक्षात स्पर्श नही करता है क्योकि शब्द असत उपाधियो का बोधक होता है और इन्ही असत्य उपाधियो के माध्यम से सत सकेतित होता है।[1]

इस सिद्धान्त मे समस्त शब्द द्रव्य परमतत्व या ब्रह्म के द्योतक होते है। लेकिन शब्द इसका द्योतन असत रूप (असत्योपाधि) द्वारा करते है। सत्य का उपस्थापन मिथ्या शब्द दूसरा होता है। योगाचार दर्शन की भाति यह सिद्धान्त यह मानता है कि बाह्य जगत सत् नही है। जो अन्तर्ज्ञेय है वही बाह्य रूप से अवभासित होता है अर्थात जो मिथ्या होता है, वही सत्य मे प्रतिभासित होता है। साख्यदर्शन भी यह स्वीकार करता है कि प्रधान या प्रकृति मे सभी विकृति बीज रूप मे सन्निहित रहती है। जबकि प्रकृति स्वरूपत सभी विकारो से शून्य है । यह गुणो की विषमावस्था से सर्वथा पृथक् है। लेकिन व्यवहार मे प्रकृति का ज्ञान विकारो को देखकर होता है, ये विकार सत न होकर असत् होते है। इस तरह असत् उपाधियो द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है। इसलिए इस सिद्धान्त का कहना है कि तत्व या द्रव्य को साक्षात रूप से न जान करके अवच्छेदक तत्त्वो या उपाधियो द्वारा जानते है। ये उपाधिया दृश्य जगत की रचना करती है। शब्द इन्ही उपाधियो के अभिधायक होते है। यह उपाधिया मिथ्या या असत्य है।[11]

---

१० – अय्यर, के० ए० सु० भर्तृहरि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ आकदमी जयपुर, १९८१, पृष्ठ २५३ ।

११ – शास्त्री, रिजवानुल्ला बौद्धदर्शन मे शब्दार्थ सिद्धान्त एक विमर्शात्मक अनुशीलन (शोध प्रबन्ध) पृष्ठ २२३–२२७।

सत्य की अवधारणा असत्य उपाधियो रो होती है। इसलिए शब्द उपाधियो द्वारा सत्य का अभिधान करते है। जिस तरह कुण्डल आदि आकारो के नष्ट हो जाने पर सुवर्ण सत्य रूप मे बना रहता है उसी तरह दृश्य जगत के नष्ट हो जाने पर द्रव्य या तत्त्व अवशिष्ट रूप मे सत्य होता है।'

इस सिद्धान्त के अनुयायियो के अनुसार वलय, अगूठी आदि उपाधि विशेष शब्दार्थ की दृष्टि से असत्य होते है, हालाकि ये उपाधिया सुवर्ण आदि सत वस्तु से सम्बन्धित होती है। क्योकि सतवस्तु सर्वभेदानुयायी एव सामान्य होती है। इसलिए 'असत्योपाधिसत्य' शब्द का प्रवृत्ति निमित्त होने के कारण अभिधेय होता है। कमलशील के मतानुसार द्रव्य, जेसे –'स्वर्ण' का एक सामान्य आकार होता है जो स्वतोपन्न सभी उपाधियो मे व्याप्त है। यह सामान्याकार एकात्म्य एव नित्य होने के कारण सत होता है जबकि वलय,अगूठी,आदि उपाधिया असत्य होती है। शब्द के द्वारा सामान्याकार एव विशेषाकार दोनो का अभिधान होता है। इसलिए शब्द का अभिधेय 'असत्योपाधि सत्य' है।'

---

१२ – सत्य वस्तु तदाकारैर सत्यैर वधार्यते। असत्योपाधिभि शब्दै सत्यमेवाभिधीयते।
सुवर्णादि यथाभिन्न स्वैराकारै रूपाधिभि। रूचकाधमिनाना शुद्धमेवैति वाच्यताम्।।
शर्मा, रघुनाथ वाक्यपदीय, पूर्वोद्घृत ३/१/१०७

१३ – यद सत्योपाधि सत्य स शब्दार्थ इति। तत्र शब्दार्थत्वेत्वेनासत्या उपाधयो विशेषा वलयाङ् गलीयकादयो परस्य सत्यस्य, सर्वदानुयायिन सुवर्णादिसामान्यात्मन, तत सत्यमसत्योपाधि। शब्दनिबन्धनमिति। शब्द प्रवृत्ति निमित्तमभिधेय मित्यर्थ।''
शास्त्री द्वारिका दास तत्वसग्रह, पूर्वो०, पृष्ठ ३५१।

(४) अभिजल्प सिद्धान्त

अभिजल्प शब्द का वाच्य 'अभिजल्प' होता है। यह अभि–'जल्प' शब्द का अर्थ के साथ एकीकृत रूप हे। इसी एकीकृत रूप को शब्द अभिहित करता है। इसलिए वस्तु अभिनिवेश रूपी अभ्यास रूपता या अभिजल्प शब्दार्थ है। भर्तृहरि के मतानुसार ''सोऽयम्'' यह अभिसम्बन्ध शब्द मे अर्थ का अभिनिवेश करता है। जिसके फलस्वरूप एकीकृत रूप की प्रतीति होने लगती है। इसीलिए शब्दस्वरूप मात्र का अवगाहन 'अभिजल्प' है। जिसमे शब्द की प्रधानता होती है। इस तरह शब्द का स्वरूप ही शब्द का अभिधेय होता है।[१४]

इस मत के अनुसार शब्द एव अर्थ के बीच अध्यास के कारण तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर शब्द का अर्थ के साथ एकरूपता का ज्ञान होता है। इसलिए अर्थ को शब्द से भिन्न न कहकर शब्द रूप जगत है। यहा पर यह प्रश्न उठता है कि यदि शब्द ही अर्थरूप है तो उसमे शब्दाश की प्रधानता होती है या अर्थाश की। वैयाकरणो मे कुछ दार्शनिक अर्थाश को प्रधान मानते है। कुछ शब्दाश को तथा और लोग शब्दाश एव अर्थाश दोनो को प्रधान मानते है।[१५]

---

१४ – शब्दो वाऽप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यताम्।। सोऽयमित्यभि सम्बन्धाद् रूपमेकी कृत यदा।

शब्दस्यार्थेन त शब्दमभिजल्प प्रयक्षते।। शर्मा, रघुनाथ पूर्वो० वाक्यपदीय, २/१२९–३०

१५ – तयोर अपृथगर्थत्वे रूठेर अव्यभिचारिणि। किञ्यिति एव क्वचिद द्रव्यम (रूपम)

प्राधान्येनवाटिरस्थते। लोकेऽर्थ रूपता शब्द प्रतिपन्न प्रवर्तते। शास्त्रे तू बाह्य–रूपत्व प्रविभक्त विवक्षया। उपरिवत्, वाक्यपदीय, २/१३१–१३२ ।

इस तरह शब्द ही शब्द से गृहीत अर्थ के रूप मे अभिधेय होता है। शब्द ग्राहक न होकर ग्राह्य भी होता है। शब्द के रूप का अर्थ से अभेद होता है। यही अभेद को अभिजल्प कहते है। यही अभिजल्प ही शब्द से गृहीत अर्थ के रूप मे अवभासित होता है। इसलिए 'अभिजल्प' शब्द एव अर्थ के अभेद के स्थापन की प्रक्रिया है।

अभिजल्पवादियो के मतानुसार शब्दार्थ 'अभिजल्प' है। 'घट' शब्द को 'घट' अर्थ के साथ अभिन्न करके शब्द के अर्थ का निवेश करते हुए कहते है। कि 'यह घट है' या शब्द ही अर्थ है। इस तरह का शब्द मे अर्थ का निवेश 'वह यही है' अभिसम्बन्ध अभिजल्प है। इस तरह 'अभिजल्प' शब्द का अर्थ के साथ एकीकृत या अर्थाकार रूप है। इसलिए यही शब्द का अभिधेय है।[1]

(५) अध्यारोहण सिद्धान्त

अध्यारोहण सिद्धान्त के अनुसार वस्तु एव प्रत्यय नामक दो प्रकार की सत्ताए होती है। वस्तुओ को प्रत्ययो का तत्व कहा जाता है। इन वस्तुओ के आकारो की अभिव्यक्ति प्रत्ययो द्वारा होती है। प्रत्ययों द्वारा वस्तुओं के इस अभिव्यक्ति को ही हम वस्तु समझ लेते है।[५] इन प्रत्ययो को वस्तु समझना ही शब्द का अर्थ है। अध्यारोपण सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यय वास्तविक होते है। प्रत्ययो की सत्ता होती है प्रत्यय ही हमारी क्रियाओ के आधार है। यह मात्र हमारी कल्पना नही है। क्योकि किसी काल्पनिक वस्तु का क्रिया से सम्बन्ध होना असभव है। लेकिन दैनिक जीवन मे हम यह अनुभव करते है कि 'पेन लाओ' 'खाना खाओ' आदि शब्द सुनते ही हमारी तत्सम्बन्धी क्रियाये प्रारम्भ हो जाती है।[1] इसलिए शब्द से केवल प्रत्यय का बोध नही होता।[1] लेकिन जब प्रत्यय का आकार द्रव्य आदि बाहय वस्तुओ पर अकित होता है तब द्रष्टा को यह वाह्य वस्तु के रूप मे प्रतीत होता है। उसे यह विश्वास होता है कि यह अर्थक्रियाकारित्व से युक्त है या इसके आधार पर क्रिया सभव है।[२] लेकिन वाह्य वस्तु का वास्तविक रूप मे बोध नही होता बल्कि उस रूप मे वे हमे दिखाई पडती है। इसलिए शब्द से अध्यारोपित प्रत्यय का बोध होता है। अर्थात उस प्रत्यय का ज्ञान होता है जो वाह्य वस्तु पर आरोपित है।[२१] लेकिन बौद्ध नैयायिको के मतानुसार यह सिद्धान्त भी उचित नही है। यह हमारे नित्य प्रति के अनुभव के विरूद्ध है। वस्तुए वाह्य होती है लेकिन प्रत्यय आन्तरिक होते है। आन्तरिक प्रत्ययो के माध्यम से वाह्य वस्तुए व्यक्त नही होती। यदि हम यह माने कि

अत्यन्त भिन्न वस्तुओ के मध्य वास्तविक सम्बन्ध की व्याख्या के लिए एक अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पडेगी। पुन इस सम्बन्ध की व्याख्या के लिए एक अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पडेगी।

---

१६ – 'शब्द एवार्थ इत्येव शब्देऽर्थस्य निवेशन सोऽया–मित्यभिसम्बन्ध, तस्मात् कारणाघता शब्दास्यार्थेन सहैकीकृत रूप भवति त स्वीकृतार्थाकार शब्दम्–अभिजल्पमित्याहु ।" शास्त्री, द्वारिका दास पूर्वो०, पृ० ३५१ ।

१७ – यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाहयवस्तु निबन्धन। स ब्रह्म वस्त्विति ज्ञात शब्दार्थ कैश्चिदिष्यते। वही ८६० बुद्धि रूपेणाविर्भावितो बाहयतथाऽध्यवासित इत्यर्थ। (तत्वसग्रह पञ्जिका पृष्ठ २८५)

१८ – तत्व सग्रह पञ्जिका पृष्ठ २८५

१६ – बुद्धिरूपतया गृहीतोऽसौ न शब्दार्थ। वही पृष्ठ २८५

२० – वही पृष्ठ २८५

२१ – वही पृष्ठ २८५

इस तरह अनवस्था दोष हो जायेगा। यह कह सकते है कि बौद्ध दार्शनिको का अपोहवाद भी अध्यारोपण सिद्धान्त का केवल एक पर्याय है। क्योकि इसके मतानुसार भी शब्दो से किसी वास्तविक वस्तु का बोध नही होता बल्कि प्रत्ययो का ही बोध होता है। जिन्हे हम अन्य वस्तुओ से व्यावृत्त वास्तविक वस्तु मान बैठते है।[23] लेकिन बौद्ध दार्शनिको का यह तर्क नही माना जाता। उनके अनुसार इन दोनो सिद्धान्तो मे बहुत अन्तर है। अध्यारोपण सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यय वास्तविक सत्ता है वस्तु का प्रत्यय के रूप मे ज्ञान एक मानसिक व्यापार नही बल्कि वास्तविक घटना है। लेकिन अपोहवाद के अनुसार प्रत्ययो की वास्तविक सत्ता नही है यह ज्ञान कि 'वस्तुओ का बोध रूप मे अस्तित्व है' एक मिथ्या धारणा है जिसका आधार इतरेतरव्यावृत्ति है। शब्द से इसी व्यावृत्ति का बोध होता है।

(६) प्रतिभा सिद्धान्त

प्रतिभा सिद्धान्त के अनुसार शब्द से प्रत्यक्षत किसी वस्तु का बोध होता है।२५ इससे मानसिक क्षमता या प्रतिभा का बोध होता है।[२]

---

२२ – तद्रूपारोपगत्यान्य व्यावृत्याधिगते पुन । शब्दार्थोऽर्थ स एवेति वचने न विरूध्यते।।

(प्रमाण वार्तिक २ १७१)

२३ – वही पृष्ठ २८५

२४ – सर्वो मिथ्यावभासोऽयमर्थेष्वे सात्मनाग्रह । इतरेतर भेदोऽस्य बीज सज्ञा यदार्थिका।।

(प्रमाणवार्तिक ३ ७१)

२५ – शब्दो न तु बाहयार्थ प्रत्यायक इति। 'वही पृ० २८५'

२६ – अभ्यासात् प्रतिमा हेतु सर्व शब्द रामासत ।

जो इस धारणा को प्रश्रय देती है कि एक नियत क्रिया एक नियत कारण के आधार पर होती है। इस मानसिक क्षमता या प्रतिभा की उत्पत्ति तभी होती है जब शब्द किसी निश्चित प्रचलन के ससर्ग मे आता है।[28] शब्दो के प्रचलन कई प्रकार के है।इसलिए प्रतिभा भी विविध है एव प्रति व्यक्ति भिन्न है।[29] जिस तरह महावत के अकुश कि प्रहार हाथी मे विभिन्न वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक मानसिक क्षमता उत्पन्न करता है। उसी तरह वृक्ष, गाय, अश्व आदि विविध शब्द सतत् अभ्यास द्वारा व्यक्तियो के मन मे क्षमता पैदा करते है।[30] यदि हम इन सिद्धान्तो को नही मानते तो हम वस्तुओ की परस्पर विरोधी विविध व्याख्याये एव काल्पनिक कहानियो तथा अन्य वस्तुओ की व्याख्या नही कर सकते जिनका कल्पना के अलावा कोई आधार नही है।[31]

बौद्ध नैययिको को यह सिद्धान्त भी स्वीकार नही है। उनके अनुसार प्रतिमा का आधार बाहय वस्तुए नही है। क्योकि उन्हे प्रतिमा का आधार स्वीकार करने पर उन प्रतिमाओ की व्याख्या नही हो सकती जो एक ही वस्तु गाय, वृक्ष आदि के सम्बन्धो मे भिन्न स्थलो पर रहने वाले भिन्न व्यक्तियो मे अत्यन्त भिन्न रूप मे व्यक्त होती है। क्योकि एक ही वस्तु अत्यन्त भिन्न वस्तुओ का कारण नही हो सकती।[32] फिर ये वस्तुहीन भी नही हो सकती क्योकि यह मानने पर हमारी क्रियाये एव ज्ञान भ्रम के परिणाम है जो वस्तु शून्य तत्व पर वस्तु का आरोप करने के कारण उत्पन्न होता है, भी अग्राहय है।[33]

---

२७ – नियत साधनावच्छिन्न क्रिया प्रतिपत्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिमा (तत्व सग्रह पञ्जिका पृ० ३५३)

२८ – वही पृ० २८६

२६ – वही पृ० २८६

३० – वही पृ० २८६

३१ – वही पृ० २८६

३२ – वही पृ० २८६

३३ – वही पृ० २८६

क्योकि यह तर्क मानने पर हमारा समस्त शब्दजन्य ज्ञान मिथ्या हो जायेगा[34] एव उसके आधार पर की गई क्रियाओ से किसी लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकेगी। लेकिन यह स्थिति हमारे जीवन के नित्य अनुभव के विपरीत है। जहा शब्दजन्य ज्ञान वैध एव फलप्रद होता है एव उसके आधार पर की गई क्रियाओ से अभीप्सित लक्ष्य की प्राप्ति होती है। फिर भ्रम का कोई आधार होना चाहिए। इसका कोई विशेष आधार न होने पर वह सर्वव्यापी हो जायेगा।[35] लेकिन ऐसा नही है। यह तर्क कि वस्तुओं की व्यावृत्ति ही भ्रम का कारण है। अपोहवाद का ही समर्थन होगा।[36] इसलिए भिन्न वस्तुओ की व्यावृत्ति या अपोह ही वस्तुओ का वास्तविक अर्थ है न कि प्रतिमा।[37]

---

३४ – वही पृ० २८६

३५ – वही पृ० २८६

३६ – वही पृ० २८६

३७ – त्रिपाठी, डा० छोटे लाल ..दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद, १९६६, पृ० १८–२०।

अपोहवाद की आलोचना

उद्योतकर, भामह, कुमातिल भट्ट, जयन्तभट्ट एव श्री धर आदि दार्शनिको ने बौद्ध अपोहवाद की आलोचना की है। आचार्य कुमारिल अपोहवाद की आलोचना करते हुए कहते है कि बौद्ध नैयायिको के मतानुसार मानसिक आकार या अपोह से किसी निषेध मूलक वस्तु का भान होता है। जैसे—अपोह शब्द 'गाय' से 'अ—गाय' के निषेध का बोध होता है। अ—गाय का निषेध तभी हो सकता है जब गाय के अस्तित्व की स्थापना हो जाय क्योकि अ—गाय गाय का निषेध है। इसलिए बौद्ध नैयायिको को सबसे पहले 'गाय' के स्वरूप की विवेचना करनी चाहिए जिसका 'अ' द्वारा निषेध किया जाता है। यदि हम यह कहे कि गाय का स्वरूप अ—गाय के स्वरूप के निषेध के अलावा और कुछ नही तो हमारा कथन अन्योन्याश्रित दोष से ग्रहण होगा।[38] यदि गाय का अस्तित्व अपने आप स्थापित हो जाता है तो अपोह की कल्पना बेकार है। अगर हम यह कहे कि अपोह का अर्थ मात्र निषेध है तो इसका तात्पर्य यह है कि यह शून्यवाद का पर्याय है एव इसीलिए उन सभी दोषो से ग्रसित है जो शून्यवाद मे है। जैसे—हमे जगत एव उसकी वस्तुओ का अस्तित्व नही मानना पडेगा जिन्हे हम नित्य जीवन मे अनुभव करते है। फिर किसी शब्द से किसी विधिमूलक वस्तु का ही बोध होता है, न कि किसी निषेधमूलक वस्तु का। जैसे—हम कहते है कि 'यह गाय है' न कि 'यह अ—गाय' है। हालाकि एक सज्ञान दूसरे सज्ञान से बिल्कुल भिन्न होता है तथापि जब किसी सज्ञान का बोध होता है तो वह किसी अभावात्मक वस्तु की व्यावृत्ति की सूचना नही देता। जैसे— जब हम किसी गाय का सज्ञान करते है तो उस समय अश्व, कुत्ता, हाथी, भैस आदि विधिमूलक वस्तुओ का सज्ञान होता है। न कि अनश्व, अ—कुत्ता आदि का।[39] फिर हम अगर यह कहे कि शब्दो से अपोह का ही बोध होता है तो सामान्य एव विशेष का बोध कराने वाले अर्थ पर्यायवाची हो जायेगे।[40]

---

३८ — सिद्धश्चगौरपोद्येत गोनिषेधात्मश्च स । तत्र गौरव वक्तव्यो नत्रा च प्रतिषिद्ध्यते ।।

स च चेदगोनिवृत्यात्मा भवेदन्योन्यसश्रय । सिद्धश्चेद गौरपोहार्थ वृथापोह प्रकल्पना ।

गव्यसिद्धेत्वगौर्नास्ति तदभावे च गौ कुत ।। श्लोकवार्तिक, अपोहवाद २३—२५।

३९ — वस्तुरूपपा च सा बुद्धि शब्दार्थेषूपाजायते। तेन वस्त्वेव कल्पेत वाच्य बुद्ध्यनपोहकम्। वही ३९

४० — वही, अपोहवाद पृ० ४२

विभिन्न अपोहो के बीच आपस मे क्या सम्बन्ध है? यह भी एक जटिल समस्या है। हमारे समक्ष दो ही विकल्प है या तो वे भिन्न है या अभिन्न है। यदि वे भिन्न हे तो उन्हे वस्तु स्वीकार करना पडेगा एव हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि वे विधिमूलक वस्तु का बोध कराते है एव यदि वे अभिन्न है तो इसका अर्थ यह होता है कि वे अभाव मात्र है ऐसी अवस्था मे उनकी विविधता असभव हो जायेगी।

आचार्य भामह का यही मानना है। उनके मतानुसार अपोहवाद मानवीय अनुभव के विरूद्ध है। शब्दो से व्यावृत्ति का बोध नही होता। जैसे–जब हाथी, गाय, अश्व आदि शब्दो का प्रयोग करते है तौ उनसे किसी भावात्मक सत्ता का ही बोध होता है। यदि गाय शब्द से अ–गाय के निषेध का ज्ञान होता तो गाय शब्द सुनने पर हमारे मस्तिष्क मे अ–गाय के प्रत्यय की अनुभूति होती है। अगर शब्दो से मात्र निषेध या 'अ–गाय' आदि का ही बोध हो तो हमे शब्दो से मात्र निषेध या 'अ–गाय' आदि का बोध हो तो हमे गाय आदि भावमूलक शब्दो का बोध कराने के लिए अन्य शब्दो का अविष्कार करना पडेगा। क्योकि यह सम्भव नही है कि किसी शब्द से युगपद दो अत्यन्त विरूद्ध वस्तुओ का बोध हो।

बौद्ध नैयायिको के मतानुसार कुमारिल एव भामह की उपर्युक्त आपत्तिया आधारहीन है। उनके अनुसार 'अ–गाय' के ज्ञान के बिल गाय का ज्ञान असम्भव है। प्रथम का ज्ञान द्वितीय की व्यावृत्ति पर ही निर्भर होता है। शब्दो से दोनो का युगपद बोध होना चाहिए। अगर हम यह नही मानते तो हमारे लिए दोनो मे भेद करना उसी तरह कठिन होगा जिस तरह अन्य व्यक्तियो के निषेध के अभाव मे किसी व्यक्ति विशेष का ज्ञान। उदाहरणार्थ यदि हम किसी व्यक्ति विशेष मोहन को जानना चाहते है तो हमे यह ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है कि राम,श्याम, अविनाश, मनोज, प्रभात आदि नही है। इन व्यक्तियो के ज्ञान के अभाव मे मोहन का ज्ञान असभव होगा। इसलिए मोहन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मोहनेत्तर व्यक्तियो की व्यावृत्ति जरूरी है। इसी तरह यदि हम 'गाय' एव अ–गाय' के भेद को नही जानते तो हमारे सज्ञान का कुछ भी महत्व नही होगा। हम अपने लक्ष्य या साध्य पर नही पहुच सकेगे। जैसे–यदि कोई व्यक्ति मुझसे यह कहे कि आप मेरे लिए एक गाय ला दीजिए। मै गाय को अश्व, हाथी, मेज, कुर्सी आदि अ–गाय से भिन्न रूप मे नही जानता तो मैं 'गाय' की जगह अश्व, हाथी, मेज, कुर्सी आदि कुछ भी ला सकता हू।

वाचस्पति मिश्र बौद्धदर्शन की विवेचना करते हुए कहते है कि शब्द से वस्तुओ की व्यावृत्ति न मानने पर किसी व्यक्ति के यह कहने पर कि 'गाय' को खूँटे मे बाध दो हम गाय के स्थान पर

घोडे को खूटे मे बाध देगे। इसलिए बौद्धदार्शनिक एव नैयायिक दोनो ही दर्शन एक सी कठिनाई से पीडित है। वेसे दोनो ही अन्योन्याश्रय दोष से युक्त है। सच बात यह हे कि भाव एव अभाव दोनो ही सापेक्ष पद है। वे जुडवे भाइयो के समान है। एक का बोध होते ही अन्य की व्यावृत्ति का बोध हो जाता है। कमलशील के शब्दो मे 'भाव'एव 'अभाव' किसी वस्तु का अस्तित्व एव उसकी विरूद्ध वस्तु का निषेध सहचारी शब्द है। ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है जो विजातीय वस्तु से व्यावृत्त न हो।[४५] अपोह की विशिष्टाओ पर आपत्ति करना बेकार है यह न तो विधिमूलक है एव न निषेधमूलक, न विविध एव न एक विधि, न अस्तित्वमूलक, न अनस्तित्व मूलक, न एक, न बहु। जिस रूप मे इसका बोध होता है उस रूप मे यह है ही नही।

---

४१ – वही, अपोहवाद ४६–४७

४२ – तत्वसंग्रह १०१२–१०१४

४३ – त्रिपाठी, डा० छोटे लाल दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद, १६६६, पृष्ठ ६ – ८।

४४ – प्रमाण समुच्ययवृत्ति टीका पृष्ठ २८७ ।

४५ – विजातीय व्यवच्छेदाव्यभिचार्येव। नहि विजातीयाद्व्यावृत्तस्य कस्यचित्सम् भवोऽस्ति। तेनैकस्य शब्दस्य फलदृयमविरूद्धमेव। तत्त्वसग्रह पञ्जिका, पृष्ठ ३२, पक्तिया ६–११ ।

इसलिए इसके विधिमूलक होने का प्रश्न ही नही उठता। वस्तुरूप से इसका बोध होता है इसलिए यह पूर्णरूप से निषेधमूलक भी नही है विविधता, एकरूपता आदि वस्तुओ के गुण है। शब्दो का वस्त्वर्थ पूर्ण रूप से गुण रहित होता है, इसलिए इस (अपोह) मे उपर्युक्त गुणो के लिए तनिक भी स्थान नही है।

अपोहो की विविधता विषयक आपत्ति भी आधारहीन है। विविधता का कारण हमारे मानसिक सस्कार है । जो हमारे मस्तिष्क मे अनादि काल से विद्यमान है। अपोहो की विविधता की विवेचना करते हुए कमलशील कहते है कि अपोहो मे भेद न तो उन सबके कारण है जो उनका आश्रय है एव न व्यावृत्त वस्तुओ के कारण ही, बल्कि शाश्वत एव अनादिकालीन सस्कारो की विविधता के कारण है। वैसे हम विविध वस्तुओ पर विविध अपोहो का आरोपण कर देते है। ये स्वत निर्गुण है। वस्तुओ पर आरोपित आकार के रूप मे ही इनकी सत्ता है, उससे भिन्न रूप मे नही। इसी वस्तुओ की विविधता के कारण यह विविध प्रतीत होते है इसीलिए अपोहो की विविधता एव वस्तुनिष्ठता का कारण हमारे सस्कार है।'

४६ – न भावो नापि चाऽभावो पृथगेकत्वलक्षण । नाश्रितानाश्रितोऽपोहो नैकानेकश्च वस्तुत । वही११८८ तथाऽसौ नास्ति तत्वेन यथाऽसौ व्यवसीयते। तन्न भावो न चाभावो वस्तुत्वेनावसायत.। वही ११८६ भेदाभेदादय सर्वे वस्तुसत्परिनिष्ठता । नि स्वभावश्च शब्दार्थस्तस्मादेते निरास्पदा ।।वही १६६०

४७ – न त्वल्वपोहा भेदा (दा) धमभेदाद्वाऽपोहाना भेदोऽपित्वनादि काल प्रवृत्त विचित्र वित्वार्थ विकल्पवासना भेदान्वयै स्तत्तवतो निर्विषयैरपि भिन्न विषयवलम्बि भिखि प्रत्ययैर्भिन्नेष्वर्थेषु बाहनेषु भिन्ना इवार्थात्मान इवस्वभावाप्यपोहा समारोप्यन्ते, ते तथा तै समारोपिता भिन्ना सन्तश्च प्रतिभासन्ते, तेन वासनाभेदाद्भेद सदरूपिता चापोहाना भविष्यति। तत्वसग्रहपञ्जिका पृष्ठ ३०५, पक्ति १४–१८।

लेकिन नैयायिको के मतानुसार बौद्ध नैयायिको की उपर्युक्त विवेचना उचित नही है। उनके मत मे सच बात तो यह है कि सस्कारो की उत्पत्ति वस्तुत वस्तु के कारण ही होती है। इसलिए अपोहो की विविधता एव वस्तुनिष्ठता को सस्कारजन्य कहना उचित नही है।[48] कमलशील अपोहवाद की विवेचना करते हुए कहते है कि अपोह का यह अर्थ नही हे कि किसी विधिमूलक सत्ता का बोध होता ही नही। हमारा आशय केवल यह है कि विधिमूलक बोध के साथ ही साथ दूसरी वस्तुओ की व्यावृत्ति के रूप मे निषेधात्मक बोध भी होता है। हमे किसी वस्तु का साक्षात्कार अप्रत्यक्ष रूप से होता हैं न कि प्रत्यक्ष रूप से। अन्तत हामारा मानसिक सज्ञान हमे वस्तु का प्रत्यय प्रदान करता है। इसलिए वस्तुवादी एव बौद्ध नैयायिक दोनो ही इस सीमा तक सहमत है। दोनो मे मूलभूत भेद केवल यह है कि वस्तुवादियो के अनुसार शब्द से किसी वास्तविक वस्तु की सत्ता का बोध होता है। जबकि बौद्ध नैयायिको के मतानुसार शब्द से किसी वस्तु की सत्ता का बोध नही होता ।[49]

---

४८ – न चाऽपि वासनाभेदाद् भेद सदरूपिताऽपिवा। अपोहानाम प्रकल्पेत न स्तुनि वासना । – श्लोकवार्तिक, सूत्र ५, अपोहवाद–श्लोक १००।

४६ – तत्वस्तु न किञ्चिदपि वाच्यमस्ति शब्दानामिति विधिरूपस्तात्रविको निषिध्यते।

तेन सावृत्तस्य विधिरूपस्य सत्यन्वय--व्यतिरेकस्य सामर्थ्यादधिगतेर्विधिपूर्वको व्यतिरेको युज्यते एव।। तत्वसग्रहपञ्जिका पृष्ठ ३३६ पक्ति ११–१३ ।

उद्योतकर अपोहवाद की विवेचना करते हुए कहते हे कि यह असम्वद्धताओ से ग्रसित है। उद्योतकर के अनुसार केवल दो ही विकल्प सभव है। अपोह अ–गाय को या तो हम विधिमूलक स्वीकार करे या निषेधमूलक स्वीकार करे। पहली अवस्था मे इरामे एव गाय या अ–गाय मे कोई भेद नही होगा। दोनो एक ही वस्तु होगी। यदि यह और गाय एकरूप है तो नैयायिको के जाति सिद्धान्त एंव बौद्धदार्शनिको के अपोहवाद सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही होगा एव यदि यह तथा अ–गाय एकरूप है तो मानवीय अनुभव के विपरीत होगा। क्योकि जगत मे ऐसा कोई मनुष्य नही जो गाय के गुणो को अ–गाय मे आरोपित करता हो।[50] यदि हम दूसरा विकल्प स्वीकार करे तो यह कहे कि यह निषेधमूलक हे तो भी समस्या का हल नही निकल सकता क्योंकि गाय से अ–गाय की व्यावृत्ति मानने पर दो ही बाते हो सकती है या यह गाय से भिन्न है अथवा अभिन्न। यदि यह गाय से भिन्न है तो प्रश्न उठता है कि यह किसी वस्तु मे समाहित है या नही? यदि यह किसी मे समाहित है तो इसे गुण के रूप मे मानना पडेगा। इसका फल यह होगा कि गाय शब्द का द्रव्यत्व नष्ट हो जायेगा एव 'गाय दूध दती हे' आदि कथन निरर्थक होगे। क्योकि गुण द्रव्य के अभाव मे किसी क्रिया का सम्पादान नही कर सकते। अगर यह कही भी समाहित नही है तो गाय का अन गाय (अ+अ+गाय) के रूप मे वर्णन करना बेकार है। अगर हम यह कहे कि यह गाय से अभिन्न है तो इसमे एव गाय मे कुछ भी अतर नही रहेगा। इसलिए यह विवेचना मानने से वस्तुवादी एव बौद्ध नैयायिक के शब्दार्थ विषयक सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही रह जायेगा।[51]

---

५० – तत्वसग्रह श्लोक ६८१–६८७।

५१ – त्रिपाठी, डा० छोटेलाल दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद, १६६६, पृष्ठ ६–१०।

उद्योतकर एक और प्रश्न उठाते है कि क्या सभी वस्तुओं मे एक ही अपोह व्याप्त है या भिन्न अपोह? अगर सभी वस्तुओ मे एक ही अपोह व्याप्त है तो इसमे एव वस्तुवादियो के जाति मे कोई अन्तर नही, मूलत दोनो एक है। यदि यह प्रत्येक वस्तु मे अलग–अलग है तो विशेष वस्तुओ की भाति यह असख्य होगा। जिसके फलस्वरूप हम गाय एव सिह आदि वर्गो की गणना करने मे समर्थ नही होगे। फिर क्या अपोह स स्वत इसका (अपोह का) बोध होता है? एव होता है तो विधिरूप मे या निषेधरूप मे। अगर विधि रूप मे बोध होता है तो यह बौद्धदर्शन के अपोहवाद से असगत है क्योकि बौद्धदर्शन के अनुसार अपोह से किसी विधिमूलक वस्तु का बोध नही होता। यदि इसका बोध निषेधरूप मे या अन्य वस्तुओ मे व्यावृत्त रूप मे होता है तो हमे पहले अपोह की व्याख्या के लिए एक दूसरे अपोह की कल्पना करनी पडेगी तथा दूसरे अपोह की व्याख्या करने के लिए तीसरे अपोह की व्याख्या करनी पडेगी। इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। जिसके परिणामस्वरूप हमारा समस्त जीवन केवल यही निश्चित करने मे समाप्त हो जायेगा कि शब्द से किस वस्तु का बोध होता है एव उस वस्तु को प्राप्त करने मे असभव ही रहेगे। अगर हम यह मान ले कि इसका बोध ही नही होता, दूसरे शब्दो मे इससे बौद्धदर्शन का अपोहवाद धराशायी हो जायेगा, क्योकि इसके अनुसार शब्द से वस्तुओ की व्यावृत्ति का बोध होता है।[५२] फिर उद्योतकर के अनुसार अपोहवाद आचार्य दिड्नाग के सिद्धान्त के विरूद्ध भी है क्योकि उनके अनुसार जब हम किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उससे एक ऐसी वस्तु का बोध होता है जो उन वस्तुओ से भिन्न होती है जिसका बोध अन्य शब्दो द्वारा होता है। बौद्ध नैयायिको के मतानुसार उद्योतकर की उपर्युक्त आलोचनाए आधारहीन है। अपोह का अर्थ केवल निषेध नही है। इसका तात्पर्य यह है कि मानसिक आकार जिनका आश्रय स्वलक्षण है या शब्द से स्वलक्षण के आकार का बोध होता है।

---

५२ – तत्वसग्रह ६६६।

५३ – न्यायवार्तिक २२६३।

इसका निश्चित रूप से बोध हो जाने पर अन्य सभी वस्तुओं का निषेध अपने आप हो जाता है।[54] फिर अपोहवाद आचार्य दिड्नाग के सिद्धान्त के भी विपरीत नही है। उनके मतानुसार शब्द से स्वलक्षण के आकार का बोध होता है न कि स्वलक्षण का शब्द। इसका स्पर्श तक नही कर सकते।[55]

श्रीधर एव जयन्तभट्ट ने भी अपोहवाद की आलोचना की है। इन दोनो दार्शनिको की आलोचनाए कुमारिल एव उद्योतकर की आलोचना मे साम्य है। श्रीधर बौद्ध नैयायिकों के इस तर्क कि 'चूकि हम सविकल्प ज्ञान के विविध आकारो के अन्तर को नही ग्रहण कर पाते इसका कारण उन आकारो (जो वस्तुत एक दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न है) को एक रूप मानते है, की आलोचना करते हुए कहते है कि उपर्युक्त तर्क के विरूद्ध हम कह सकते है कि चूकि हम सविकल्प ज्ञान के विविध आकारो की एकरूपता को ग्रहण नही कर पाते इस कारण उन्हे भिन्न मानते है। इसलिए जिस प्रकार बौद्ध नैयायिको के अनुसार आकारो के अन्तर को न ग्रहण कर पाने के कारण हमे उनके एकरूप होने की भ्रान्ति होती है उसी तरह हम यह भी कह सकते है कि विविध आकारो की एकरूपता न ग्रहण कर पाने के कारण हमे उनकी भिन्नरूपता की भ्रान्ति होती है। इसलिए उपर्युक्त तर्क के आधार पर एक धर्म की वस्तुओ को उसी वर्ग की वस्तुओ के रूप मे समझना असभव होगा।[56]

---

५४ – प्रतिबिम्ब हि शब्दार्थ इति साक्षादियंमति । जात्यादिविधिहानिस्तु सामर्थ्यादवगम्यते।
(तत्वसंग्रह ११६६) बौद्ध नैयायिको के मतानुसार उद्योतकर की

५५ – न शब्दस्य बाह्यार्थाध्यवसायि प्रतिबिम्बोत्पाद व्यति–केरेणन्यो बाह्याभिधान व्यापार सभवति।
तत्वसग्रह पञ्जिका पृष्ठ ३२०, तत्वसग्रह १०१७–१०१८ ।

५६ – यथाविकल्पाकाराणा भेदो न ग्रह्यते तद्वदभेदोऽपि न गृह्यते तत्र भेदा ग्रहणाद्
अभेदारापवद्, अभेदाग्रहणाद् अभेदारोपस्यापि प्रसक्ताव भेदोचित् व्यवहार प्रवृत्य योगात्।
न्यायकदली पृ० ३१६,पक्ति २२, देखिए क्रिटीक आफ इडियन रियलिज्म, पृ० ३६७।

जयन्तभट्ट अपोहवाद के विरूद्ध मुख्य तर्क इस प्रकार देते हुए कहते है कि विविध अपोहो मे कोई भेद नही है क्योकि वे सभी निषेधमूलक है। यदि यह कहा जाय कि उनमे भेद है या वे स्वलक्षण की भाति विविध प्रकार के है तो उन्हे वास्तविक एव विचित्र विधिमूलक स्वीकार करना पडेगा। यह कहा जा सकता है कि जयन्तभट्ट आदि वस्तुवादी दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित जाति क विषय मे भी यह आक्षेप किया जा सकता है या जातियो के सामान्य स्वभाव के कारण उनसे भी किसी वस्तु का बोध नही होता। लेकिन जयन्त भट्ट को जातिमूलक उपर्युक्त आलोचना स्वीकार नही है। उनके अनुसार चूकि जाति वास्तविक एव विधिमूलक है। इसलिए अपने भिन्न स्वभाव के कारण वे अपृथक्करणीय है एव एक दूसरे से भिन्न है। लेकिन अपोहो के पारस्परिक भेद को हम नही जान सकते क्योकि निषेध इन सभी का स्वभाव है।[५७] बोद्ध नैयायिको के मतानुसार उपर्युक्त आलोचनाए अपोह के स्वरूप को सम्यक रीति से न समझ पाने के कारण की गई है। अपोह मात्र निषेध का बोधक नही। सबसे पहले यह शब्द द्वारा इगित वस्तु के आकार को उत्पन्न करता है। उससे वस्तु के स्वरूप का बोध हो जाने के अनन्तर अन्य वस्तुओ की व्यावृत्ति अपने आप हो जाती है।[५८]

---

५७ – न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० २७८ ।

५८ – यदि हि प्रधानेनान्य–निवृत्तिमेव शब्द प्रतिपाद्येत् तदैतस्यात्यावतार्थ प्रतिबिम्बकमेव यथोक्त प्रथमतर शब्द करोति, तद् गतौच सामर्थ्यादेव निवर्तन गम्यते। तत्वसग्रह पञ्जिका, पृ० ३६१ ।

वाचस्पति मिश्र अपोहवाद के सूक्ष्म विवेचन के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुचते हे कि अपोहवाद से सभी वस्तुओ की व्याख्या नही हो सकती। उनके मतानुसार चार अवस्थाये कम से कम इस प्रकार की है कि जहा अपोह का प्रयोग सभव नहीं है। यह चार अवस्थाये निम्नलिखित है– (१) इससे सब 'शब्द' के अर्थ का बोध नही हो सकता। क्योकि 'सव' शब्द सर्वग्राही है। इससे सभी वस्तुओ का बोध होता है। जगत की ऐसी कोई वस्तु नही हे जिसकी इससे व्यावृत्ति न होती हो। (२) अपोह से केवल उन्ही वस्तुओ का बोध हो सकता है। जिनकी सत्ता हे। जैसे – गाय,हाथी, घोडा आदि। लेकिन इससे शशश्रृग, आकाशपुष्प, बन्ध्यापुत्र आदि का बोध नही हो सकता। क्योकि वास्तविक बध्यापुत्र, शशश्रृग या आकाश कुसुम नाम की ऐसी कोई वस्तु नही, जिसकी व्यावृत्ति हो सके। (३) इससे परिपाटी की विवेचना नही हो सकती ' क्योकि इसमे एक ऐसे सामान्य तत्व का होना जरूरी है जो कुछ समय तक स्थिर हो तथा वक्ता एव श्रोता को एक दूसरे को समझने का आधार बन सके। अपोहवाद के अनुसार 'अपोह' केवल एक प्रत्यय है। श्रोता एव वक्ता के मस्तिष्क के प्रत्यय एक दूसरे के एकदम भिन्न होते है। इनमे ऐसा कोई सामान्य तत्व नही है जिनके आधार पर वे एक दूसरे को समझ सके। फिर क्षणिक होने के कारण उनके प्रत्यय दो क्षण भी नही रह सकते। परिपाटी के निर्माणकाल के प्रत्यय एव उसके अवबोध काल के प्रत्यय एक नही है वे एक दूसरे के भिन्न है। इसलिए उनके आधार पर किसी परिपाटी की स्थापना सम्भव नही। (४) इससे स्वलक्षण का बोध नही हो पाता, क्योकि वे विधिमूलक है।'

---

५९ – सर्वशब्दस्य कश्चार्थो व्यवच्छेद्य प्रकल्पयते। ना सर्वनाम किच्चिद्धि भवदस्य निराक्रिया।।
तत्वसग्रह – ६८१ यस्य तर्हि न बाह्योऽर्थोऽप्यन्था वृत्त इष्यते। वन्ध्या सुतादि शब्दस्य तेन काऽप्रोह उच्चते।। वही १२०१।

६० – वही १२०२।

६१ – वही १२०७–१२०८।

६२ – न तत्स्वभावो विधि रूपेण विरोधात्। न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पृ० ६८४।

बौद्ध नेयायिक उपर्युक्त चारो आपत्तियो का जवाव निम्नरूप से देते है–(१) पहली आपत्ति आधारहीन है। 'सब' शब्द का जहा कही भी प्रयोग होता हे वह किसी न किसी वस्तु के समूह के सदर्भ मे ही होता है। जैसे–सभी गाय, सभी हाथी। इन अवस्थाओ मे अपोह उपर्युक्त वस्तुओ के अलावा अन्य सभी वस्तुओ के निषेध का बोधक होता है। अगर हम यह कहे कि 'सब' शब्द से जगत की सभी वस्तुओ का बोध होता है तो ऐसी स्थिति मे प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न वस्तु का प्रतिनिघित्व करेगी एव 'सब भी कहलायेगी।[63] (२)–दूसरी आलोचना भी निराधार है। किसी शब्द के विषय मे अपोह या अन्य व्यावृत्ति के प्रयोग का प्रश्न तभी उठता है। जब उससे किसी वास्तविक वस्तु गाय, हाथी, घोडा आदि का बोध हो। शशश्रृग, आकाश कुसुम, बन्ध्यापुत्र आदि वास्तविक वस्तुए नही है। इसलिए उनके विरोधी की व्यावृत्ति का प्रश्न ही नही उटता।[64] (३)अपोह से 'परिपाटी' की विवेचना सरलातापूर्वक की जा सकती है। शब्दो का प्रयोग पूर्णरूप से काल्पनिक है। यह मनुष्यो की अवधारणा के अनुसार निश्चित होता है। इसलिए वक्ता एव श्रोता अपने–अपने प्रत्ययो के ज्ञाता हैं। लेकिन वे दोनो ही अनादिवासना से ग्रसित है।

---

६३ – तत्वसग्रह ११८५–११८८।

६४ – अर्थशून्याभिजल्पोत्थ वासना मात्र निर्मितम्। प्रतिबिम्ब यदाभाति तच्छब्दै प्रतिपाद्यते। वही १२०३

इसलिए उन दोनो मे यह एक ऐसा सामान्य तत्व है जो उन्हे एक दूसरे के मन्तव्य का बोध करा देता है। हालाकि यह सत्य है कि प्रत्यय क्षणिक है एव दो क्षण भी स्थिर नही रह सकते। लेकिन अनादिवासना से ग्रस्त होने के कारण वक्ता एव श्रोता दोनो ही इस भ्रम मे रहते हैं कि इस समय देखी जाने वाली वस्तु एव परिपाटी के निर्माण के समय देखी गई वस्तु दोनो एक हैं।[65] (४)चौथी आलोचना भी निराधार है। सविकल्प प्रत्यक्ष द्वारा जिस स्वलक्षण का बोध होता है वह वास्तविक स्वलक्षण नही है बल्कि काल्पनिक है। इसलिए उसके विधिमूलक एव निषेधमूलक स्वरूप से कोई व्याघात नही होता।[66] यह आपत्ति भी की जा सकती है कि एक अवास्तविक मानसिक आकार एव वास्तविक स्वलक्षण मे सादृश्य की कल्पना बेकार है। लेकिन उपर्युक्त आलोचना उचित नही है। बौद्ध नैयायिको के अनुसार सविकल्प प्रत्यक्ष के अवास्तविक विषय एव स्वलक्षण के बीच किसी भी प्रकार की एकरूपता की कल्पना नही की जाती।[67] वास्तविक स्वलक्षण (अग्नि) के दाहपाकादि गुण का आरोपण सविकल्प प्रत्यय अवास्तविक अग्नि पर केवल इसीलिए किया जाता है कि उनके कार्यो मे समानता है।[68]

---

६५ – तत्वसग्रह पञ्जिका पृ० ३६५, तत्वसग्रह १२०६–१२१०

६६ – अध्यवसायमाननपि स्वलक्षण न परमार्थसत् अपितु तदपि कल्पितम्। तस्मात तस्य विधि–निषेत्ररूपता न विरूध्यते। न्यायवर्तिक तात्पर्य टीका पृ० ६८४ ।

६७ – त्रिपाठी, डा० छोटेलाल दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद, १९९६, पृ० ११–१४ ।

६८ – किन्तु अलीकस्यैव दाहपाकादिक सामर्थ्यारोपम्। न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पृष्ठ ६८४ ।

अपोहवाद का मूल्याकन

अपोहवाद आचार्य दिड्नाग की भारतीय ज्ञानमीमासा–विशेष रूप से बौद्ध ज्ञानमीमासा की एक अमूल्य देन है। बोद्ध ज्ञानमीमासा मे इसका मूल्याकन केवल इस तथ्य से हो जाता है कि इसी की सहायता से बौद्ध नैयायिक इस अनुभवमूलक जगत की रचना करते है जो बुद्धिगक्य है एव जिसका भाषा मे निर्वचन सभव है जबकि अपने मूल सवेदन रूप मे यह न तो बुद्धिद्वारा ज्ञेय है एव न भाषा द्वारा इसका निर्वचन सभव है।

अपोहवाद की तुलना हम न्यायदर्शन के जाति सिद्धान्त से कर सकते है। यह दोनो सिद्धान्त जगत मे व्याप्त सामान्य तत्व की व्याख्या करने की कोशिश करते है। दोनो ही यह स्वीकार करते है कि सामान्य या अपोह दो कार्य व्यापार सम्पादन करते है। एक वर्ग मे आने वाली वस्तुओ की अनुवृत्ति एव अन्य वर्गो मे आने वाली वस्तुओ की व्यावृत्ति । दोनो मे प्रमुख अन्तर यह है कि न्याय दर्शन सामान्य के विधिमूलक एव वास्तविक पक्ष पर महत्व देता है जिसके अनुसार सामान्य वस्तु के अस्तित्व का बोध कराते है। जबकि अपोहवाद निषेधमूलक पक्ष पर अधिक महत्व देता है जो अन्य वस्तुओ के व्यावृत्ति का बोध कराते है। न्यायदर्शन के अनुसार समान्य विधिमूलक एव वास्तविक है। जबकि बौद्धो के अनुसार अपोह निषेधमूलक एव अवास्तविक है। सामान्य किसी वर्ग की वस्तुओ मे व्याप्त तादात्म्य या सामान्य तत्व का बोधक है अर्थात यह अभेदाग्रह है। इसके विपरीत अपोह भेदाग्रह है। यह सादृश्य का बोध है। जो वस्तुओ मे व्याप्त भेद को न ग्रहण करने के कारण उत्पन्न होता है वैसे यह न्यायवैशेषिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त का विकल्प है। इसको हम निषेधमूलक सामान्य की संज्ञा से अभिहित कर सकते है। आचार्य दिड्नाग ने अपोह मे सामान्य के एकत्व, नियतत्व एव प्रत्येक परिसमाप्ति आदि सभी लक्षण विद्यमान है क्योकि इनका आश्रय स्वलक्षण है जो नित्य, एकरूप है। लेकिन ये सामान्य मे व्याप्त असम्बद्धताओ से अस्पष्ट है इसलिए सामान्य से उत्कृष्ट होने के कारण इन्हे ही सामान्य के स्थान पर मानना चाहिए।[69]

अपोहवाद की तुलना हम हेगेल के निषेध सिद्धान्त से कर सकते है हेगेल मानते हैं कि किसी सप्रदाय की सामान्यता की स्थापना उसके निषेधमूलक गुण द्वारा होती है। किसी सप्रदाय का तादात्म्य उसके विरूद्ध के निषेध मे ही है।[70] या अपने विरूद्ध का निषेध रूप होने के कारण ही उसका स्वरूप है। किन्तु दोनो मे एक मूलभूत भेद है। हेगेल निरपेक्ष निषेध के सिद्धान्त को मानता है जिसके अनुसार निषेध विश्व का प्राण (आत्मा) है। यह पूर्ण निषेध है। विधिमूलक एव निषेधमूलक

उसके अनुसार इसका आश्रय स्वलक्षण है जो एक विधायक सत्ता है। आचार्य दिड्.नाग कहते है कि जो अन्य है वह वह नही है' अर्थात कोई वस्तु एव उसकी विरोधी वस्तु दोनो एक वस्तु नही है। सत एव असत् अत्यन्त विरूद्ध है।[74] उनका अस्तित्व युगपद सभव नही है। आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि दिड्.नाग के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहते है कि अपोह का अर्थ प्रत्येक सत्ता का पूर्ण निषेध नही।[75] यह केवल मानसिक आकारो का निषेध है जो बुद्धि निर्मित है न कि स्वलक्षणो का जो उनके आश्रय है। शान्तरक्षित एव कमलशील भी जिनेन्द्रबुद्धि के मत का समर्थन करते है। एव अपोह के विधायक स्वभाव पर महत्व देते है। शान्तरक्षित के अनुसार किसी अपोह का तत्व इस तथ्य मे है कि वह अन्य अपोह का तत्व नही है। जैसे – गाय का तत्व इस बात मे है कि वह अश्व के तत्व से भिन्न है।[76] कमलशील के मतानुसार मानसिक आकार उदाहरण के लिए गाय, किसी शब्द का प्रत्यक्ष एव मुख्य अर्थ है एव निषेध या व्यावृत्ति उदाहरण के लिए अ–गाय की व्यावृत्ति इसका अप्रत्यक्ष एव गौण अर्थ है।[77]

---

७४ – यद विरूद्धर्म ससृष्ट तन्नाना। वही पृष्ठ ४८५

७५ – प्रमाण समुच्चय वृत्ति टीका पृष्ठ २८८, बुद्धिस्ट लाजिक भाग १, पृष्ठ ४६१–४७० ।

७६ – न तदात्मा परात्मेति सम्बन्धे सति वस्तुभि । व्यावृत्तवस्त्व धगमोऽधर्थादेव भवत्यत.।।
तत्वसग्रह १०१३

७७ – प्रतिबिम्ब लक्षणोऽपोह साक्षाद घटादि शब्दैरूप जन्य मानत्वान्मुख्य अर्थ विधिरूपेण च तै प्रतिपाद्यते। 'तत्वसग्रह पञ्जिका पृष्ठ ३१६' 'निषेधमात्र' नैवेह शाब्दे ज्ञानेऽवभासेत–पृष्ठ ३१६'

अपोहपद का तात्पर्य यह नही है कि विधायक वस्तु की सत्ता नही है या उसका बोध नही होता। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि उससे प्रत्यक्षरूप से किसी वस्तु के मानसिक आकार का बोध होता है एव अप्रत्यक्ष रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि इस वस्तु का मानसिक आकार उन वस्तुओ के मानसिक आकार से पूर्ण रूप से भिन्न है। जिनकी इस वस्तु द्वारा व्यावृत्ति होती है।[78] शान्तरक्षित, कमलशील एव रत्नकीर्ति के उपर्युक्त मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए, कहते है कि 'अपोह' से हमारा मतलब न तो केवल विधि है एव न केवल निषेध बल्कि अन्यापोह विशिष्ट विधि[79] अर्थात अपोह का अर्थ किसी वस्तु के अस्तित्व की स्वीकृति तथा उसकी व्याघाती वस्तुओ की युगपद व्यावृत्ति है।

अपोहवाद की प्रतिध्वनि फिर आधुनिक पाश्चात्य तर्कशास्त्र मे हो रही है। पेलगी एव जे० एस० मिल के कथन बौद्ध दार्शनिको के कथन के समान प्रतीत हो रही है। पेलगी कहते है कि ज्यो ही हमारे बौद्धिक भक्षुओ को किसी वस्तु का आभास मात्र होने लगता है एव हम अपने भावो को एक शाब्दिक प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करते है त्यो ही हमारा विषय अपने व्याघातियो से आवृत्त हो जाता है एव हमारा चितन द्वन्द्व न्यायात्मक।[80] इसी तरह मिल कहते है कि विधिदर्शन की भाषा मे 'सिविल' शब्द से यह बोध होता है कि वह अपने से विरूद्ध शब्दो से भिन्न है या वह अपराधी, पुरोहित, सैनिक एव राजनैतिक आदि भावो का विरोधी है।[81]

---

७८ – न आरस्माभि सर्वथा विधिरूप शब्दार्थो नाभ्युप–गम्यते। यावता

शब्दादर्थाध्यवसायिनश्चेतसःसमुत्पादात् सावृतो विधिरूप. शब्दार्थोऽभीष्यते यव (वही ३१६)

७६ – नारमाभित्पोह शब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेत. नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्र, किन्तु अन्यापोह विशिष्टो

विधि शब्दानामर्थ अपोहसिद्धि, पृष्ठ ३

८० – बुद्धिस्ट लाजिक भाग १, पृष्ठ ४८७

८१ – वही भाग १, पृष्ठ ४८७

टामस कैम्पेनल्ला के अनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व केवल इस बात मे है कि वह कोई अन्य वस्तु नही हे। जैसे–'मनुष्य मनुष्य केवल इस अर्थ मे हे कि वह पत्थर, सिह, गर्दभ एव ऐसी ही अन्य वस्तुए नही है।[82] आधुनिक तर्कशास्त्रियो की उपर्युक्त तर्कशास्त्रीय उपलब्धि के बारे मे हमे यह साश्चर्य करना पडता है कि बौद्ध नैयायिको के लिए यह कितने गौरव की बात है कि आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व चौथी शताब्दी मे ही जिसे ज्ञान की प्रगति का शैशव काल ही कहा जा सकता है। उन्होने अपनी सूक्ष्म तर्कणा शक्ति के माध्यम से ऐसे सिद्धान्तो की खोज करने मे सफलता प्राप्त की है जिनकी खोज पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय काफी समय पश्चात यानी १६ वी शताब्दी मे कर पाये।[83] इस प्रकार अपोहवाद बौद्ध दर्शन की महान उपलब्धि है।

---

८२ – वही भाग, १ पृष्ठ ४६०

८३ – त्रिपाठी, डा० छोटेलाल दार्शनिक चितन, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद, १९९६, पृष्ठ १५–२३।

नवम् अध्याय
उपसंहार

अध्याय ६

उपसंहार

बौद्धदर्शन मे सौत्रान्तिक दर्शन एव अभिधार्मिक दर्शन के मध्य शब्दार्थ सिद्धान्त को लेकर अन्तर्विरोध उनके बिल्कुल भिन्न तात्विक दृष्टिकोण के कारण है। सौत्रान्तिक दर्शन का अपोहवाद नागार्जुन के पाण्डित्य दर्शन से सनिस्सृत है। जबकि अभिधार्मिक दर्शन का नाम–निमित्त परोक्ष या अपरोक्ष रूप से व्याकरणदर्शन से अनुप्राणित है।

वेद तथा वैदिक वाङ्‌गमय मे शब्द एव अर्थ के सदर्भ मे स्फुट विचार इधर–उधर बिखरे मिलते है। शब्द तथा अर्थ के विभिन्न रूपो को देखकर गौरवान्वित वैदिक ऋषि शब्द या वाक को सृष्टि के मूलतत्व के रूप मे या मत्र के रूप मे अभिहित करता है। व्याकरण दर्शन स्वय वैदिक विचार धारा का अनुगमन करता हे। वेद मे सृष्टि को वाक या शब्द का विस्तार माना गया है तथा शब्द या वाक को उत्कृष्टतम देवता के रूप स्थापित किया गया है। ब्राह्मण ग्रथ से यह ज्ञात होता है कि वाक या शब्द को बृहस्पति ने व्याकृत किया है। वेद की तरह उपनिषद मे भी शब्द को तत्वावगाहन के माध्यम के रूप मे माना गया है। लेकिन अक्सर उपनिषदो ने तत्वावबोध मे शब्द की अनुपादेयता को माना गया है। इस दृष्टि से उपनिषद ने वैदिक 'अक्षर तत्ववाद' की जगह पर 'अनक्षरतत्ववाद' को माना है। उपनिषद की भाति गौतम बुद्ध की भी विचारधारा अनक्षरतत्ववाद की रही है। क्योकि उन्होने शब्द की हेयता एव युक्तिहीनता को माना है। जिसका सबल प्रमाण 'अव्याकृत प्रश्नो' के जवाब के सदर्भ मे मौन रहना है। गौतम बुद्ध का अनुगमन करते हुए आचार्य नागसेन ने तत्वज्ञान मे शब्द की अप्रवृत्ति को मानते हुए सर्वदृष्टियो का प्रहाणय किया है एव 'सर्वशून्यता' तथा 'नि स्वभावता' की स्थापना की है। अत नागार्जुन ने 'स्वपक्ष' को भी नही स्थापित किय है क्योकि 'स्वपक्ष' को स्थापित करने पर शब्द एव प्रतिज्ञा आदि को अपरिहार्य रूप से मानना पडता है। लेकिन नागार्जुन इत्यादि आचार्यो ने शब्दार्थ व्यवस्था का सर्वथा अपलाप नही किया है.। क्योकि कोई भी दर्शन अपने सैद्धान्तिक स्थापनाओ को शब्द व्यवहार के माध्यम से ही साधारणजन तक पहुचाता है। भगवान बुद्ध ने स्वय अपने वचन को गौरव से नही बल्कि परीक्षणोपरान्त मानने की बात कही है–

तापाच्चछेदाच्च निकषात् स्वर्णामिव पण्डितै ।

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राहय मद्वचो न तु गौरवात्।।

अत बौद्धदर्शन ने शब्द तथा शास्त्र की उपादेयता को परीक्षण के उपरान्त माना है एव ज्ञान तथा व्यवहार मे शब्द' की सीमा निर्धारित या निश्चित किया है। उसन बुद्धवचन को भी नाम स्वभाव के रूप मे या बुद्ध प्रमाण के रूप मे परीक्षण के बाद ही माना है। इसलिए सभी शब्दार्थ सम्बन्धी चितन अनुशीलन इस दृष्टिकोण मे हुआ है।

भारतीयदर्शन मे वाकध्वनि एव शब्द के बीच मौलिक रूप से भेद माना गया है। शब्द का स्वरूप वाक् या ध्वनि से अलग है। वाक् या ध्वनि उच्चरित होकर उत्पन्न एव विनष्ट होते है। जिनसे अर्थ प्रत्यापन सभव नही है। वाक् या नाद से पृथक स्फोट से अर्थ प्रकाशित होता है अत व्याकरण दर्शन ने शब्द के द्विस्तरीय स्वरूप पर ज्यादा महत्व दिया है। उसने यह स्पष्ट रूप से माना है कि उच्चरित एव श्रुत शब्द उत्पत्ति विनाशशील स्वभाव होने के कारण अपने स्वरूपावधारण के अभाव मे अर्थबोधक नही होते है। ध्वनि या वाक् से पृथक 'स्फोट' से अर्थ की प्रतीति होती है। 'स्फोट' वाक् या शब्द का स्वरूप है। व्याकरणदर्शन से अनुप्रमाणित होकर आभिधार्मिक दर्शन ने भी शब्द के द्विस्तरीय स्वरूप को माना है। वैभाषिकदर्शन यह मानता है कि ध्वनि या घोष वाक्–स्वभाव होता है जिससे अर्थ प्रतीति सभव नही है। घोष या वाक् से पृथक नाम निमित्त ही अर्थ सहज होता है। अत वैभाषिकदर्शन ने नामकाय–पदकाय एव व्यजनकाय को सार्थक इकाई के रूप मे एक द्रव्यासत्–धर्म माना है जिसे उसने चित्त विप्रयुक्त सस्कार कहा है। आभिधार्मिकदर्शन के मतानुसार वाक् या शब्द स्वय अर्थसहज नही होता है। वाक् या शब्द स्वय अर्थसहज नही होता है वाक् या शब्द 'नामन्' मे प्रवृत्त होता है एव नामन् अर्थ को व्यक्त करता है। बौद्धदर्शन मे शब्दार्थ विषयक चितन का प्रणयन बुद्धवचन के वाक–स्वभाव या नाम स्वभाव के स्वरूप को लेकर हुआ है। इस सदर्भ में वैभाषिकदर्शन ने तार्किक विश्लेषण की अपेक्षा आगमिक परम्परा का अनुपालन करते हुए बुद्धवचन को अलौकिक तथा अपौरूषेय माना है। जबकि सौत्रान्तिक दर्शन ने तार्किक विश्लेषण का निर्वाह करते हुए बुद्धवचन को वाक् स्वभाव ही स्वीकार किया है। इन दोनो के विपरीत आभिधार्मिक दर्शन ने बुद्धवचन को ही नाम–स्वभाव एव वाक्–स्वभाव दोनो ही माना है। बुद्धवचन को नम–स्वभाव मानने के कारण ही वैभाषिकदर्शन ने चित्त–विप्रयुक्त–सस्कार की कल्पना की है जिसके अन्तर्गत वह व्यजन–नाम–पद को बुद्धवचन के आधार पर द्रव्यसत मानता है। नाम एव पद के विश्लेषण मे वैभाषिकदर्शन ने तत्कालीन बौद्धदर्शन के अतिरिक्त शब्दार्थ विषयक चितन या धारणाओ का भी समावेश प्राकारातर से किया है।

वैभाषिकदर्शन ने नामनिमित्त को सस्वभाव माना है। उसने इसकी सस्वभावता को सिद्ध करने के लिए सज्ञा एव अधिवचन के बीच भेद किया हे तथा यह प्रतिपादित किया है कि इन्द्रिय द्वारा वस्तु की बोधात्मक चेतना 'सज्ञा' है, जैसे–नील विजानाति एव अधिवचन द्वारा वस्तु का विशेष ज्ञान 'नामन्' हे। जैसे – नील इति विजानाति। यहा सज्ञा 'अर्थ सज्ञा है तथा नामन् धर्मसज्ञा है। इस तरह वैभाषिकदर्शन ने नामन् के सस्वभाव या सवस्तुक माना है उसने यह माना है कि नामन् के द्वारा वस्तु की अवस्था विशेष का ज्ञान होता है। क्योकि 'नामन्' अर्थ चिन्ह रूप होता है।

गौतमबुद्ध ने यह माना है कि दर्शन की मूल समस्या या वस्तु के विश्लेषण की है न कि अन्वेषण की है अत बौद्ध दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय ने 'स्वभाव' को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। नागार्जुन ने स्वभाव की परीक्षा करते हुए वैभाषिक के नाम–निमित्त सिद्धान्त का निराकरण किया है उनके मतानुसार नाम निमित्त कदापि सस्वभाव या सवस्तुक नही होता है। वैभाषिक दर्शन का यह कथन नामन्' की कल्पना 'स्वभाव' के आधार पर होती है, तर्कसगत नही है। यह भी नही माना जा सकता कि कुशल धर्मो का कुशल स्वभाव एव अकुशल धर्मो का अकुशल स्वभाव होता है। नागार्जुन ने 'स्वभाव' को हेतु प्रत्ययजन्य माना है। उनके अनुसार जो हेतु मे जो हेतु प्रत्यय जन्य होता है वह नि स्वभाव होता है न कि सस्वभाव। जबकि आभिधार्मिक दर्शन के अनुसार जो हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है वह सस्वभाव होता है इस तरह वैभाषिक एव नागार्जुन के मध्य दृष्टिगत भेद दिखाई पडता है। नागार्जुन ने 'स्वभाव' के प्रतिषेध को ही नि स्वभावता या शून्यता कहा है नागार्जुन ने 'नामन्' को भी सस्वभाव न मानकर नि स्वभाव माना है। नागार्जुन ने यह कहा है कि विभिन्न 'नामन्' होने का तात्पर्य यह नही है कि नामित वस्तु सत् होती है। कुछ इस प्रकार के भी 'नामन्' होते है। जिनके अनुरूप वस्तु–स्वभाव नही होते है। इसी तरह जिन वस्तुओ के नामन् होते हैं। वे वस्तुए भी द्रव्यसत् नही होती है। अत नामन् को द्रव्यसत या वस्तुसत नही माना जा सकता है 'दधि' नाम से 'दधि' वस्तु मानी जाती है लेकिन विचार करने पर ज्ञात होता है कि रूप, रस, गध, स्पर्श से व्यतिरिक्त 'दधि' का वस्तु–स्वभाव नही होता है वस्तु स्वभाव के अभाव मे दधि नामन् भी सस्वभाव न होकर नि स्वभाव होता है नागार्जुन ने कहा है कि जो वस्तु सस्वभाव होती है वह अप्रतीत्यसमुत्पन्न होती है। अत 'नामन्' को सस्वभाव मानने का अर्थ है कि जो कि धर्म के खिलाफ है। क्योकि भगवान बुद्ध ने कहा था कि जो प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त का ही प्रसज्यप्रतिषेध करना जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है। अत नागार्जुन ने नामन् नि स्वभाव माना है इस नि स्वभाव का अर्थ वस्तु का अभाव न हाकर वस्तु के असत स्वभाव का निवारण है। आचार्य नागार्जुन ने भी वस्तु को

निःस्वभाव कहकर 'स्वभाव' का निषेध नही किया है बल्कि वस्तु के स्वभाव के अभाव का ज्ञापन किया है क्योकि वस्तुए सस्वभाव न होकर नाममात्र या प्रज्ञप्तिमात्र होती है–

सर्वमेतन्नाममात्र सज्ञा मात्रे प्रतिष्ठतम्।

अभिधानात्पृथक भूत ममिधेय न विद्यते।।

सौत्रान्तिकदर्शन ने भी नाम–निमित्त का विश्लेषण करते हुए उसकी द्रव्यसत्ता का खण्डन किया है उसने यह माना है कि जिस प्रकार चींटी (पिपीलिका) से अलग कोई चीटी पक्ति (पिपीलिका पक्ति) नाम की कोई वस्तु नही होती ठीक उसी तरह-वाक् या शब्द से अलग 'नामन्' की वस्तुसत्ता या द्रव्यसत्ता नही है। अत सौत्रान्तिक ने 'नामन' से अर्थ प्रतीति न मानकर वाक या शब्द से सकेत के आधार पर अर्थबोध माना है। उसके अनुसार कोई भी 'नामन' अर्थबोध माना है। उसके अनुसार कोई भी 'नामन्' अर्थबोध या अर्थस्वरूप नही होता, क्योकि नामन् मे स्वय अर्थबोध की शक्ति नही रहती। नामन् भी वक्ता की इच्छा का अनुसरण करते हुए अर्थ की प्रतीति कराता है। क्योकि नाम एव अर्थ के बीच नियत सम्बन्ध नही होता है। अत सौत्रान्तिकदर्शन ने बुद्धवचन को नाम–स्वभाव न मानकर वाकस्वभाव माना है। उसने सभी प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था को तात्विक न स्वीकार करके सावृत्तिक माना है। इस आधार पर शब्द ज्ञान भी सावृत्तिक होता है। शब्द द्वारा वस्तु का ग्रहण नही होता है क्योकि शब्द एव अर्थ के मध्य तात्विक सम्बन्ध नही है।

सौत्रान्तिकदर्शन ने स्वलक्षण एव सामान्य लक्षण को ग के रूप मे माना है। जिसका ज्ञान प्रत्यय एव अनुमान से होता है। अत उसने जाति, गुण, क्रिया आदि को कल्पना माना है। क्योकि ये वस्तुए अर्थ शून्य होने के कारण नाममात्र होती है नाम या शब्द केवल अर्थशून्य अभिजल्प को उत्थापित करके मनुष्य के अदर की व्यवहार वासना से निर्मित विकल्पो को उद्बुद्ध करता है। सौत्रान्तिकदर्शन ने यह माना है कि जहा अनुमान विकल्पभूत सामान्य का ग्रहण करते हुए भी वस्तु का निश्चय करता है क्योकि व्याप्ति के द्वारा अनुमान परम्परा वस्तु से प्रतिबन्धित होता है। वही शब्द ज्ञान वस्तु का ग्रहण नही करता है। क्योकि शब्द का वस्तु के साथ किसी भी तरह प्रतिबन्ध नही होता है। शब्द केवल अन्यापोह पूर्वक स्वार्थ का अभिधान करता है क्योकि विधिपूर्वक वस्तु का अधिग्रहण शब्द से न होकर प्रत्यक्ष द्वारा है क्योकि विधि प्रत्यक्ष का धर्म है एव अन्यापोह शब्द या कल्पना का धर्म है। शब्द अर्थ 'प्रतिबिम्ब' के द्वारा अपने को व्यवहारोपयोगी बनाता है। यह 'अर्थ प्रतिबिम्ब' शब्द का स्वार्थ होता है जिसे वह अन्यापोह के माध्यम से अवभासित करता है। शब्द से

साक्षातरूप से अर्थ प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। जिसमे अन्य का प्रतिषेध अक्षुण्य रहता है। इसी को सौत्रान्तिक दर्शन ने शब्द का मुख्यार्थ बताया है। यह मुख्यार्थ विध्यात्मक होता है लेकिन यह वह विधि है जो अपने विरोधी प्रतिषेधो को अपने मे ही रखकर अपने अस्तित्व को अक्षुण्य बनाये रखती है। इसकी विधायकता दूसरे के प्रतिषेध पर निर्भर होती है। सौत्रान्तिकदर्शन ने यह बताया है कि विधि अन्य के निषेध के बिना कुछ नही होती है। लेकिन यह 'अन्य निषेध' सामान्य नही है। जिस प्रकार तैर्थिक दर्शन ने माना है। यह कहना असगत है कि 'घट' शब्द अपने विजातीय एव विरोधी सभी 'घटको' का निषेध करके अनन्त घटो मे एक अनुस्यूत घटत्व सामान्य का बोध उत्पन्न करता है। सौत्रान्तिकदर्शन ने यह माना है कि सामान्य किसी भी प्रकार वस्तुभूत नही होता है। सभी शाब्द–ज्ञान मिथ्यावभासी होते हैं। शब्द अपने आप उत्पन्न 'बुद्धयाकार' को ही प्रतिभासित करता है। यह बुद्धयाकार भी आन्तरिक होता है न कि बाह्य। शब्द द्वारा बाह्यार्थ का बोध प्रत्यक्ष द्वारा वस्तुओं के बाह्य ग्रहण के अभ्यास से होता है।

सौत्रान्तिक एव अभिधार्मिक दर्शन ने बिल्कुल विरोधी तात्विक दृष्टिकोण के आधार पर शब्दार्थ विषयक चितन का विवेचन किया है। जिसके कारण उनमे अन्तर्विरोध दृष्टिगोचर होता है। वैभाषिकदर्शन ने अपनी तात्विक अवधारणा के आधार पर 'नामन्' को वस्तुद्योतक या अर्थद्योतक माना है एव यह स्वीकार किया जाता है कि वस्तु का ज्ञान नामन् या अधिवचन द्वारा होता है। जिसको दिड्.नाग ने कल्पना कहा है। दिड्.नाग ने वैभाषिक की तरह यह नही माना है कि शब्द अर्थ का चिन्ह रूप है एव वह वस्तु का ग्रहण सर्वांश रूप मे करता है। दिड्नाग ने तो यह माना है कि वस्तुसत क सर्वांश का एकात्म ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा होता है। यह प्रत्यक्ष कल्पनारहित होता है। अत प्रत्यक्ष से व्यतिरिक्त शब्द वस्तु के अश को विधिरूप मे ग्रहण करने मे सक्षम नही है शब्द ज्ञान अनुमान की भाति अपने अर्थ को अन्यापोह रूप मे अवभाषित करता है । दिड्.नाग के अनुसार "शब्द अपने अर्थ को अन्य वस्तु का व्यवच्छेद करके अभिव्यक्त करता है" तो उनका यह तात्पर्य यह है कि 'वृक्ष' शब्द 'अवृक्ष' शब्द का निवृत्ति करके स्वार्थ को स्फुटित करता है यह स्वार्थ वृक्ष लक्षण है जो निवृत्ति विशिष्ट वस्तु है। यही स्वार्थ शब्दार्थ है यह स्वार्थ नाममात्र है। इस तरह दिड नाग नागार्जुन की तरह वस्तु को नि स्वभाव माना है। लेकिन बाद के बौद्धदर्शन अन्यापोह एव स्वार्थ के स्वरूप को अन्यथा रूप म ग्रहण करते है। शातिरक्षित, धर्मकीर्ति, ज्ञानश्री मित्र एव रत्नकीर्ति जैरो–दार्शनिको ने जहां 'स्वार्थ' को सामान्य लक्षण, अर्थ प्रतिबिम्बकार एव बुद्धयाकार के रूप मे माना है वही अन्यापोह को भी साक्षात एव असाक्षात रूप मे माना गया है। दिड्.नाग जहा अन्यापोह को शब्द के स्वभाव या

बुद्धि के धर्म क रूप मे व्यक्त किया हे वही शातिरक्षित आदि अन्यापोह को प्रसज्य एव पर्युदास मे विभाजित करके उसे पर्युदास रूप मे व्यक्त करते है। दिड्नाग कभी भी यह नही मानते कि शब्द विधि रूप मे अर्थ प्रतिबिम्ब को पहले व्यक्त करता है उसके बाद अन्यापोह को प्रकाशित करता हे। दिड्नाग 'स्वार्थ' की प्रतीति एव 'अन्यापोह' को युगपद मानते हे। रत्नकीर्ति एव ज्ञानश्री मित्र एक सीमा तक अन्यापोह के प्रतिपादन मे दिड्नाग का अनुसरण करते है जब वह यह कहते है कि अपोह 'अन्यापोह विशिष्ट विधि' है वैसे शातरक्षित ने तैर्थिकदर्शन के प्रभाव मे अन्यापोह को अन्यथारूप मे विवेचित किया है। शातरक्षित का जब यह कथन ह कि 'अपोह' स्वलक्षणापोह या अर्थापोह रूप होता है तो यह विचार स्पष्ट रूप से दिड्नाग के सिद्धान्त से मेल नही खाती। यह माना गया हे कि शब्द ज्ञान का विषय स्वलक्षण नही होता है शब्द का स्वरूप अन्यापोहात्मक होता है इस प्रकार की स्थिति मे शब्द स्वलक्षणापोह को कैसे व्यक्त करता है। स्वलक्षण मे अपोह की प्रवृत्ति नही हो सकती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्यापोह शब्द या बुद्धि का स्वभाव या धर्म है।

दिड्नाग के स्वार्थ एव अन्यापोह की धारणा को तैर्थिकदर्शनो ने भी अन्यथारूप मे ग्रहण किया है। तैर्थिकदर्शनो ने 'अन्यापोह' के उत्पत्तिमूलक अर्थ को लेकर 'अन्यापोह' पर अन्यान्य आक्षेपो को प्रसक्त किया है एव अन्यापोह को व्यर्थरूप से अपने मत को विस्तृत करने के लिए प्रयुक्त किया है, वह यह है कि अन्यापोह प्रकारान्तर से 'सामान्य' की विचारधारा है। सामान्य एव अन्यापोह के बीच मे प्रस्थानगत भेद होता है। इसलिए अन्यापोह पर किये गये सभी आक्षेप उस समय निरर्थक सिद्ध हो जाते है जब दिड्नाग यह कहते है प्रत्येक शब्द अपने विरोधी के प्रतिषेध को अपने अदर समाहित किये रहता है एव शब्द द्वारा विरूद्ध का प्रतिषेध किये बिना 'स्वार्थ' की उत्पत्ति नही होती है। दिड ्नाग ने यह कभी नही माना कि शब्द निषेध का या प्रतिषेध का अधिवचन करता है। उनका स्पष्ट रूप से कहना है कि शब्द ज्ञान तार्किक विश्लेषण मे वस्तु का अभिधायक नहीं होता है क्योकि शब्द वस्तु के समग्र रूप को विधि रूप मे ग्रहण नही करता है। शब्द का अन्वय व्यवच्छेदपूर्वक ही अर्थ को ग्रहण करता है शब्द का 'स्वार्थ' अन्य व्यवच्छेद ही होता है इस तरह यह नही कहा जा सकता कि बौद्धदर्शन शब्द व्यवहार मात्र का प्रदर्शन करता है। क्योकि शब्दार्थ की प्रतीति होते बालक तक को होती है। शब्दार्थ का अपवाद कत्तई सभव नही है। बौद्धदर्शन ने केवल उन तात्विक धर्मो या वस्तुओ का निषेध किया है जिसे अन्य लोग वस्तु पर आरोपित करते है। वास्तविक रूप मे धर्म का निषेध किया गया है जब कि धर्मी का निषेध नही किया गया है।

बौद्धदर्शन मे अपोहवाद की धारणा नवीन नही है स्वय भगवान बुद्ध ने वैदिक सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक आचार–विचार एव यज्ञ–याज्ञिक कर्मकाड का प्रतिषेध किया है। मूलबुद्धदेशना मे शाश्वतवाद एव उच्छेदवाद का निषेध किया गया है अक्सर सभी बौद्धदर्शन सम्प्रदायो ने भी एक सीमित अर्थ मे अन्यापोह या प्रतिषेध को माना है। अनात्म पचस्कन्ध को आत्मा के प्रतिषेध के रूप मे विवेचित किया गया है। नागार्जुन ने अनात्मा एव आत्मा दोनो का प्रतिषध किया है। क्योकि उनके अनुसार आत्मा की तरह अनात्मा भी उद्ग्रहण एव उपलम्भ का विषय नही होती है। नागार्जुन ने शून्यता या नि स्वभावता को प्रसज्यापोह के रूप मे विवेचित किया है। नागार्जुन भगवान बुद्ध के प्रतिषेध दर्शन के ऋणी है। वस्तुओ के स्वत, परत उभयत एव अहेतुत प्रत्ययो का निषेध प्रसज्य या अपोहरूप ही है। इसी आधार पर नागार्जुन ने नाम या शब्द को भी प्रतिषेध माना है क्योकि शब्द का नाम स्वभाव के बारे मे कुछ भी नही कहते। शब्द के माध्यम से स्वभाव का अभाव प्रदर्शित होता है। अभाव का तात्पर्य स्वभाव का अभाव है। अभाव या 'जो नही है' उसका प्रतिषेध।

दिड नाग का अपोहवाद सिद्धान्त नागार्जुन के दार्शनिक एव तार्किक चितन का परिणाम है दिड्नाग के अपोहवाद मे कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसे प्रतिषेध के निषेध के कारण है। 'गो' शब्द 'गो' से अन्य वस्तु का निषेध केवल करता है। 'गो' वस्तु का स्वभाव नही होता है। गो वस्तु सज्ञामात्र या नाममात्र है। अगर शब्द का विषय 'स्वभाव' होता तो एक शब्द के कहने मात्र से वस्तु का ज्ञान हो जाता। लेकिन व्यवहार मे ऐसा नही होता। एक वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक शब्दो का व्यवहार किया जाता है। यह सभी शब्द स्वभावत वस्तु का स्पर्श नही कर सकते। अत यह माना जाता है कि प्रत्येक नाम या शब्द अन्यापोह या प्रतिषेध करता है वृक्ष शब्द वृक्ष से अन्य शब्द का निषेध करता है तरू शब्द तरू से अन्य वस्तु का प्रतिषेध करता है, इसी तरह पेन शब्द अन्य वस्तु का निषेध करता है यह प्रतिषेध प्रसज्यात्मक होता है इसे पर्युदास प्रतिषेध स्वीकार करने पर एक बुद्धिगत आकार को स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार की स्थिति मे 'वृक्ष' का एक आकार होगा एवं 'तरू' का दूसरा आकार होगा। इन आकारों को संस्वभाव स्वीकार करने पर वृक्ष एव तरू के भिन्न–भिन्न स्वभाव का प्रश्न उठ जायेगा, जबकि वृक्ष एव तरू एक ही वस्तु को संकेतित करते है। अत दिड्नाग ने यह माना कि शब्द का विषय नि स्वभाव होने के कारण अन्यापोह रूप होता है। अन्यापोह सिद्धान्त से यह ज्ञात होता है कि एक वस्तु न तो विभिन्न स्वभाव को धारण करती है एव न विभिन्न शब्द एक स्वभाव को व्यक्त करते है। अत विभिन्न शब्दो द्वारा विभिन्न स्वभावो को वस्तु मे मानना असगत है शब्द का अभिधेय 'स्वभाव' नही होता है। शब्द के

माध्यम से वस्तु का वही अश गोचर होता है जो दूसरी वस्तु से व्यावृत्त होता है। शब्द दूसरी वस्तु निषेध करके अपने अर्थ मे प्रवृत्त होता है वस्तु के 'स्वभाव' का प्रतिषेध ही शब्द का विषय है। जो नि स्वभावता या शून्यता है। अत दिङ्नाग ने वस्तु स्वभाव का निषेध करने के लिए ही अन्यापोह का प्रतिपादन किया है। यह कहने मे अतिशयोक्ति नही है कि अपोह के गर्भ मे शून्यता ही निहित है क्योकि शून्यता भी अन्यापोह रूप है। वस्तु स्वभाव के अभाव मे नाम या शब्द अन्य का प्रतिषेध करता है।

भारतीय दर्शन मे शब्दार्थ विषयक चितन का विशिष्ट स्थान है अपोहवाद बौद्धदर्शन का शब्दार्थ सिद्धान्त है। बौद्धदर्शन के ग्रन्थो मे शब्दार्थ विषयक जो विचार इधर–उधर बिखरे पडे है। उनकी पूर्वापर सगति लगाना कठिन मालूम पडता है। यह समझना तो और भी कठिन हो जाता है कि एक ही दर्शन सरणि से सम्बन्धित होते हुए उनमे सिद्धान्त क्यो विरोध है? बौद्ध दर्शन ग्रथो मे अपोहवाद सम्बन्धी चितन के अनेकानेक विचारो का निरूपण किया गया है। अपोहवाद के प्रतिपादन में बौद्धदर्शन की कुछ निजी विशिष्टाए दिखाई पडती है जिनका सिहावलोकन करना उचित प्रतीत होता है।

बौद्धदर्शन मे थेरवाद,योगाचार वैभाषिक एव सौत्रान्तिक, माध्यमिक दर्शनो ने शब्दार्थ विचार का अलग–अलग चितन किया है इन सम्प्रदायो ने शब्दार्थ विषयक सिद्धान्त की बहुत उपयुक्त व्याख्या की है। जिनसे अपोहवाद को समझने मे बहुत सहायता मिलती है। अपोहवाद ने एक नई विधा को जन्म दिया है, जिसके द्वारा एक ऐसी परम्परा का परिहार होता है। जिसको आस्थापरक लोगो ने स्वार्थसिद्धि के लिए माना है। इस विधा ने वर्तमान युग के दार्शनिको एव तार्किक विचार धाराओ को भी प्रभावित किया है।

भारतीय दर्शन के अधिकतर सप्रदाय शाब्दिक रूप मे विभिन्न मान्यताओ की स्थापना करते है इन सप्रदायो ने विभिन्न अनुभूतियो एव मान्यताओ को जानने का एक मात्र साधन शब्द को माना है। शब्द के द्वारा ही ईश्वर ब्रह्म तथा परलोक आदि अनुभूतियो को जान सकते है। इस विशेष साधन की उपलब्धि एक विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। जो ईश्वर, वृक्ष, एव परलोक की सत्ता बचाने एव उसकी उपलब्धि कराने के लिए धार्मिक मान्यताओ को स्थापित करता है। जिससे धार्मिक मान्यताए जीवन का एक अग बनकर हमेशा सुरक्षित रह सके। अत ब्राह्मण परम्परा ने वेद तथा उपनिषद को श्रुति के रूप मे माना है तथा इन्हे धार्मिक आदर्श का प्रकर्ष माना है। मीमासादर्शन ने वैदिक यज्ञयाज्ञिक कर्मकाड आदि विधानो के निहितार्थ को सुरक्षित रखने के लिए या त्रिकाल बाधित सत्य

के रूप मे अभिहित करने के लिए वैदिक शब्दो को नित्य एव वद को अपोरूषय माना गया है। वेदातदर्शन ने भी शब्द तथा श्रुति को प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ज्येष्ठ एव सर्वोच्च माना है। जिसके कारण इन दर्शनो ने शब्द तथा श्रुति पर आधारित तत्वमीमासा की कल्पना की है।

बौद्धदर्शन ने परलौकिक साध्य–साधनपरक मान्यताओ एव मूल्यो का निर्धारण करने वाली इस कल्पनात्मक तत्वमीमासा का खडन किया तथा विचार की ऐसी विधा को जन्म दिया जो धार्मिक मूल्यपरक तत्वमीमासा का खडन ही नही करती, बल्कि व्यवहारिक रूप से शब्द तथा शब्द–प्रामाण्य से सम्बन्धित उन मान्यताओ का भी निराकरण करती है, जो वेद–श्रुति आगम से निकले है। बौद्धदर्शन ने तार्किक स्तर पर विश्लेषण करके श्रुति आगम को अर्थहीन बताया। उन्होने यह माना कि शाब्दिक मान्यताए काल्पनिक होती है। शब्द का वस्तुसत से कोई सम्बन्ध नही होता है। ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि के साथ सम्बन्धित मान्यताए काल्पनिक होती है। इनका वास्तविकता से कोई मतलब नही होता है। यह कहना कि 'ईश्वर' शब्द से उसके स्वभाविक कर्ता, स्रष्टा एव धर्ता का भाव परिलक्षित होता है, विवक्षा प्रसूत है। विवक्षा वास्तविकता का अवगाहन नही करती है। वस्तु का बोध कोई शब्द नही करता है। शब्द द्वारा अभिहित वस्तु प्रज्ञप्ति एव कल्पना होती है। यह प्रज्ञप्ति अन्य के निषेध मे अपना स्वरूप धारण करती है। इस तरह बौद्ध दर्शन ने अन्यापोह का एक निषेधात्मक तर्कणा के रूप मे विवेचित किया। यह निषेधात्मक तर्कणा शब्द तथा कल्पना का कार्य है पश्चिमी विचारधारा मे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र ने भी यह प्रतिपादित किया है कि किसी वस्तु के निषेध का निषेध उस वस्तु को व्यक्त करना है। क=क का निषेध या क वस्तु का बोध 'क' नही है का निषेध होता है। इसी तरह अपोहवाद मे भी 'गो' अगो का निषेध होता है।

सहायक ग्रन्थावली

१– अभिधर्मदीपविभाषाप्रभावृत्ति	पी० एस० जैनी, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १६५६
२– अभिधर्मकोशभाष्य	आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी,उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १६५८
३– अभिधर्मकोशभाष्यस्फूटार्था	स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी,१६७३
४– अभिधर्मामृत	शातिभिक्षु शास्त्री, विश्वभारती, शातिनिकेतन, १६५३
५– अभिधर्मसमुच्चय	प्र० प्रधान, विश्वभारती, शाति निकेतन।
६– अष्टासाहस्री	महेन्द्र कुमार जैन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६१५
७– अटठासलिनी	भण्डारकर ओरियन्टल सीरीज, पूना, १६४२
८– अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन	कपिलदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, १६५१
६– अपोहसिद्धि	गोविन्दचन्द्र पान्डेय, दर्शनप्रतिष्ठान, जयपुर, १६७१
१०– अभिधम्मत्थसग्गहा	भदन्तरेवतधम्म और रामशकर त्रिपाठी, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६६७
११– अर्थविनिश्चयसूत्रनिबन्धन	एन०एच० साम्ताणी, के० पी० जायसवाल रिचर्स इन्स्टी०, पटना, १६७१
१२–आप्तमीमासा	अय्यास्वामी शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १६४२
१४–इण्डियन थियरीज आफ मीनिग	के० के० राजा, दि अडियार लाइ० एड रिचर्स सेन्टर, मद्रास, १६६३
१५–इण्डियन बुद्धिज्म	हाजिमे नाकामुरा,मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६८६
१६–इण्डियनस्टडीज इन बुद्धिज्म	रामचन्द्र पाण्डेय, मो० लाल ब० दास, दिल्ली, १६७६
१७– इण्डियन लाजिक इन दि अर्ली स्कूल :	एच० एन० रैण्डल, मुशी राममनोहरलाल, दिल्ली, १६७६
१८–उद्योतकर का न्यायवार्तिक	दयाशकर शास्त्री, भारतीय प्रकाशन, कानपुर, १६७४
१६–उत्तरप्रदेश मे बौद्धधर्म का विकास	नालिनाक्षदत्त और कृष्णदत्त वाजपेयी, उ०प्र० सरकार, लखनऊ, १६५६
२०–ए स्टडी इन लैंग्वेज एड मीनिग	बी० भट्टाचार्या, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता, १६६२
२१–ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलास्फी	चन्द्रधर शर्मा, मो०लाल ब०दास० दिल्ली, १६७३
२२–ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक	एस०सी० विद्याभूषण, मो०लाल ब०दास,दिल्ली, १६७८
२३–ऋग्वेद सहिता	स०प्र० सरस्वती और स० विद्यालकार, वेदप्रतिष्ठा नई दिल्ली, १६७७

२४—काव्यप्रकाश शि०प्र०भट्टाचार्य, सस्कृत सीरीज, बनारस।

२५—काव्यप्रकाश मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ, स० २०१७

२६—काव्यालकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६२

२७—क्रिटिक आफ इण्डियन रियलिज्म डी० एन० शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७६

२८—किरणावली नरेशचन्द्र वेदान्ततीर्थ, एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९११

२९—गीता गीताप्रेस, गोरखपुर, स० २०४५

३०—चतुश्शतक वि०भट्टाचार्य, विश्वभारती बुक डिपो, कलकत्ता १९३१

३१—जैनदर्शन महेन्द्रकुमार जैन, श्री गणेशप्रसादवणीजैनग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६

३२—जैमिनीसूत्रभाष्य आनन्दआश्रम सस्करण, पूना, १९२९—३४

३३—तत्वसग्रहपजिका द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९८१

३४—तन्त्रवार्तिक आनन्दआश्रम सस्कृत सिरीज, पूना, १९२९

३५—तर्कसग्रह एस० के० शास्त्री, मद्रास, १९५१

३६—तर्कसग्रह कुप्पूस्वामी शास्त्री, दि कुप्पूस्वामीशास्त्री रिसर्च इन्स्टी०, मद्रास, १९३२

३७—तत्वप्रदीपिका चित्सुख, उदासीनसस्कृतविद्यालय, काशी, १९५६

३८—तात्पर्य टीका वाचस्पतिमिश्र, विजयानगरम् सस्कृत सिरीज, बनारस, १९६८

३९—दिङ्नाग आन पर्सेप्सन मासाकी हटोरी, हारवर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९६८

४०—दि ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म गोवन्दिचन्द्र पाण्डेय,मो०लाल ब०दास, दिल्ली, १९८३

४१—दि डिफ्रेन्सियेशन थियरी आफ मिनिग इन इण्डियन लाजिक डी०शर्मा, माउटन, दि हाग, १९६९

४२—दि न्याय थियरी आफ नालेज एस०सी०चटर्जी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९७८

४३—दि निगेटिव डाइलेकटिक डी० शर्मा, स्अर्लिंग पब्लि०प्रा०लि०, दिल्ली, १९७४

४४—दि प्राब्लेम आफ मीनिग इन इण्डियन फिलास्फी रामचन्द्रपाण्डेय, मो०लाल ब०दास, दिल्ली, १९६३

४५—दि प्राब्लेम आफ युनिवर्सल्स इन इण्डियन फिलास्फी राजारामद्रविड, मो०लाल ब०दास, दिल्ली, १९७२

४६—दि प्राब्लेम आफ नालेज इन गोगाचार बुद्धिज्म सी० एल० त्रिपाठी, भारतभारती, वाराणसी, १९७२

४७—दि प्रमाणसमुच्चयवृत्ति मासाकी हटोरी, मेमोयर्स, आफ दि फैकल्टी आफ लेटर्स, क्योटो यूनिवर्सिटी, १९८२

४८—दार्शनिक चितन डा० छोटे लाल त्रिपाठी, सरस्वती प्रकाशन इलाहाबाद १९९९

४६–दि फिलास्फी आफ सस्कृत ग्रामर पी०एस० चक्रवर्ती,कलकत्ता विश्वविद्यालय,१६३०

५०–दि फिलास्फी आफ वर्ड एड मीनिग गौरीनाथ शास्त्री, सस्कृत कालेज, कलकत्ता, १६५६

५१–दि बुद्धिस्ट फिलास्फी आफ युनिवर्सल फ्लक्स सात्करि मुखर्जी, मो०लाल ब०दास, दिल्ली, १६८०

५२–दि साइकोलाजिकल एटिच्यूड आफ अर्ली बुद्धिस्ट फिलास्फी लामा अ०गो०,राइडर एड क०, लन्दन, १६६६

५३–दि बुद्धिस्ट फिलास्फी ऐज प्रेजेन्टेड इन मीमासाश्लोकवार्तिक विजयरानी, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, १६८२

५४–द्वादशारनयचक्रम मुनिजम्बुविजय, श्रीजैनआत्मानन्दसभा, भावनगर, १६७६

५५–धम्मसङ्गणी मूलटीका बुद्धशासन समिति, बर्मा।

५६–न्यायमजरी सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्बासस्कृतसस्थान, वाराणसी, १६३६

५७– न्यायवार्तिक–तात्पर्यटीका अमरेन्द्रमोहन, तारानाथ सस्करण, कलकत्ता, १६३६

५८–न्यायबिन्दु चन्द्रशेखर शास्त्री, चौखम्बा स०सि०, वाराणसी, १६५४

५६–न्यायरत्नाकर चौखम्बा सस्कृत सिरीज, वाराणसी, १८६८

६०–न्यायसिद्धान्तमुक्तावली विश्वनाथपचानन, चौखम्बा स०सि०, वाराणसी, १६५१

६१–न्यायकन्दली वि०प्र०द्विवेदी, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६६३

६२–न्यायसूत्र गगानाथ झा, इण्डियन थाट, इलाहाबाद, १६१५

६३–नागार्जुनाज फिलास्फी के०वेकटरमण, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १६७१

६४–निरूक्त आर० जी० भदकमकर, सस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज, बम्बई, १६४२

६५–न्यायदर्शन आ०दु० शास्त्री, चौ०स०सि०, वाराणसी, १६७०

६६–पूर्वमीमासा इन इट्स सोर्सेज गगानाथ झा, बी०एच०यू०, वाराणसी, १६६४

६७–प्रमेयकमलमार्तण्ड महेन्द्रकुमार जैन, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई, १६४१

६८–प्रमाणसमुच्चय मासाकी हटोरी, हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १६६८

६६–प्रमाणवार्तिकमनोरथनदिटीका द्वारिकादास शास्त्री,बौद्धभारती, वाराणसी, १६६८.

७०–प्रतिभादर्शन ह० श० जोशी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १६६४.

७१–पेपर आफ शेरवात्सकी टी० शेरवात्सकी, इण्डियन स्टडीज, कलकत्ता।

७२–प्रैक्टिस एण्ड थियरी आफ तिबतेन बुद्धिज्म जी०एल०सोपा और जाफरी हापकिस, बी०आई० पब्लिकेशन, बम्बई, १६७७

७३–प्रकरणपजिका सुब्रह्मणयमशास्त्री, बी०एच०यू० प्रकाशन, १६६१

७४–फ्रेगमेन्टस फ्राम दिङ्नाग एच०एन०रैण्डल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६८१

७५—बुद्धिस्ट अनालिसिस आफ मेटर वाई० करूनादासा, दि डिपार्टमेन्ट आफ कल्चरल अफेयर्स कोलम्बो, १९६७

७६—बुद्धिस्ट लाजिक टी०शेरवात्सकी, एकेडमी आफ साइंस आफ दि यू० एस० एस० आर०, लेनिनग्राद, १९३०

७७—बौद्धधर्म के विकास का इतिहास गो०च०पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९७६

७८—बौद्धन्याय शेरवात्सकी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९

७९—बौद्धदर्शन का विवेचन श्रीनिवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९६८

८०—बौद्धदर्शन आचार्य नरेन्द्रदेव, बि०रा०प०, पटना, १९५६

८१—बौद्धदर्शन मे शाब्दबोध विमर्श रिजवानुल्ला, दिल्ली वि० विद्यालय, १९७७

८२—भर्तृहरि के०ए०सुब्रहमण्यअय्यर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८१

८३—भारतीय अर्थविज्ञान हरिसिह सेगर, दि मैकमिलन क० आफ इडिया लि०, नई दिल्ली, १९७८

८४—भारतीय तत्वविद्या प० सुखलालजी सघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद १९६०

८५—भारतीय दर्शन का इतिहास एस०एन०दासगुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७८

८६—भारतीय भाषाशास्त्रीयचितन की पूर्वपीठिका विद्यानिवासमिश्र, बि०रा०प०, पटना,१९७८

८७—भारतीय भाषाशास्त्रीयचितन विद्यानिवासमिश्र इत्यादि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७६

८८—भाषातत्व ओर वाक्यपदीय सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६४

८९—भावसक्रान्तिसूत्र

९०—मध्यमकशास्त्रम् पी०एल०वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, १९६०

९१—महायानसूत्रालकार एस०बागची, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, १९७०

९२—महाभाष्यम् रूद्रधरझा, चौखम्बा स० सि०, वाराणसी।

९३—महाभाष्यप्रदीपोद्योत गुरूप्रसाद शास्त्री, चौ०स०स०, बनारस, १९३९

९४—महाभाष्य आफ पतजलि कीलहर्न, बी०एस०एस०, बम्बई,१९८२

९५—माध्यमिक दर्शन एच०एन०मिश्र, आराधना ब्रदर्स, कानपुर,१९८०

९६—मिलिन्दप्रश्न भि०ज०काश्यप, जेतवन महाविहार पालि सस्थान श्रावस्ती, १९७२

९७—मीमासा जी०वी० देवस्थली, बुकसेलर्स पब्लिसिग क०, बम्बई,१९५९

९८—मीमासा न्यायप्रकाश रामनाथ दिक्षित, काशी सस्कृत सिरीज, बनारस, १९४९

९९—मीमासादर्शनशबरभाष्य वी० सा० भट्टाचार्य, कलकत्ता,१८८३

१००–योगसूत्रभाष्यतत्ववैशारदी   जीवानन्द सस्करण, कलकत्ता,१६३६

१०१–रत्नकीर्तीनिबन्धावली   अ० प्र० ठाकुर, के०पी०जायसवाल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पटना।

१०२–ललितविस्तार   मिथिला विद्यापीठ, दरभगा,१६६०

१०३–लाजिक लैंग्वेज एण्ड रियलिटी   वि०कृ०मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६८५

१०४–लकावताररसूत्रम्   पी०एल०वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा,१६६३

१०५–वाक्यपदीयम्   रघुनाथशर्मा, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय,काशी, १६६३

१०६–वाक्यपदीयम   हेलाराज टीका, ए०एस०अ यर, पूना, १६६३

१०७–वाक्यपदीयम   वीरेन्द्रशर्मा, पजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर, १६७७

१०८–वाक्यपदीयम्   रामगोविन्द शुक्ल, चौ०स०रा० वाराणसी, १६७५,

१०६–वाक्यपदीयपद्धति टीका   के०ए०एस०अय्यर, पूना, १६६६

११०–विग्रहव्यावर्तनी   पी०एल०वैद्य, मिथिला विद्यापीठ,दरभगा,१६६०

१११–विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि   थुवतन छोग्डुब और रामशकरत्रिपाठी, वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६७२

११२–विवरणप्रमेयसग्रह   विद्यारण्य अच्युतग्रन्थमाला, बनारस,स० १६६६

११३–वेदान्तपरिभाषा   एस०एस०एस०शास्त्री, अऽयार लाइब्रेरी, मद्रास,१६४२

११४–वैदिकदर्शन   रघुवीरवेदालकार, नाग पब्लिशर्स,दिल्ली, १६८७

११५–वैशेषिकसूत्रप्रशस्त्रपादभाष्य   पी०वी०द्विवेदी, वी०एस०एस०, वाराणसी, १८६५

११६–वैयाकरणसिद्धान्त मजूषा   नागेश भट्ट, चौ०स०सि०,बनारस,१६४६

११७–व्याकरणमहाभाष्यम्   रूद्रधर झा, चौ०स०स०,बनारस,१६८४

११८–सर्वदर्शनसग्रह   उ०श०रि०शर्मा, चौ०वि०भ० वाराणसी,१६६४

११६–सर्वदर्शनसग्रह   वी०एस०अभयकर, पूना, १६२४

१२०–सन्मतितर्कतत्वबोधिनी   गुजरातविद्यापीठ, अहमदाबाद,१६३०

१२१–साररवत   नवलकिशोरकरी शर्मा, १६३६

१२२–सिक्स बुद्धिस्ट न्यायट्रेक्स   सर डबलू जान्स, एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल, १६१०

१२३–सुत्तपिटक   भिक्षुज०का०, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, पटना,१६५६

१२४–संस्कृत व्याकरणदर्शन   रामसुरेश त्रिपाठी, राजकमलप्रकाशन,दिल्ली,१६७२

१२५–सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास   युधिष्ठर मीमासक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, २०२० वि०।

१२६–साख्यतत्वकौमुदी   स्वामी आत्मास्वरूपजी, गुरूमण्डल आश्रम, हरिद्वार, १६३१

१२७–स्टडीज इन इण्डियन थाट   हेराल्ड जी०कावर्ड, मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली १६८३

१२८–स्फोट थियरी आफ लैंग्वेज   हेराल्ड जी०कावर्ड, मो०लाल ब०लाल, दिल्ली,१६८०

१२६—षडदर्शनसमुच्चय	हरिभद्रसूरि
१३०—शबरभाष्य	आनन्दआश्रम, पूना, १६२६—३४
१३१—शरकारिका	जयमिश्र, मद्रास वि०वि०, मद्रास,१६४५
१३२—श्लोकवार्तिक	चोखम्बा सस्कृत सिरीज,बनारस,१६६८
१३३—श्लोकवार्तिक	के०राजा, मद्रास यूनिवर्सिटी प्रेस,१६४६
१३४—ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली	अ० प्र० ठाकुर, के० पी० जे० रि० इन्स्टी०, पटना, १६५६
१३५—ज्ञानप्रस्थानशास्त्र	शा० भि०शास्त्री, शाति निकेतन,१६५५

पत्रिकाएं

१– इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, १६३४

२– जर्नल आफ दि श्री वेकटेश्वर इन्स्टीच्यूट,तिरूपति, भाग–१,पार्ट–२

३– जर्नल आफ इण्डियन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज, भाग–२७, दिसम्वर,१६७६

४– दार्शनिक त्रेमासिक, वर्ष–२७, अक ३–४, जुलाई–अक्टूबर १६७६

५– पूना ओरियन्टलिस्ट, भाग–१, १६३६–३७

६– बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियन्टल एण्डे अफ्रिकन स्टडीज,
यूनिवर्सिटी आफ लन्दन,भाग–२२, पार्ट–३, १६५६

७– विनर जीट स्कीप्ट फरडाई कुन्दे सुदसीनस, १७,१६७३

८– हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहावाद, १६७६

६– इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स, भाग–११,
जेम्स हासटिग, टी० एण्ड टी० क्लार्क, एडिनबर्ग,१६०८

१०– सदर्शन, भाग २२, उत्तर भारत दर्शन परिषद, इलाहाबाद,